लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला - 30

आधुनिक संस्कृत काव्य की परिक्रमा

लेखिका
डॉ. मञ्जुलता शर्मा

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
मानितविश्वविद्यालयः
(भारतशासनमानवसंसाधनविकासमन्त्रालयाधीनम्)
नवदेहली

प्रकाशकः
कुलसचिवः
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
(भारतशासनमानवसंसाधनविकासमन्त्रालयाधीनम्)
56-57, इन्स्टीट्यूशनलएरिया
जनकपुरी, नवदेहली-110058
ईपीएबीएक्स : 28524993, 28521994, 2854995

e-mail : rsksrp@yahoo.com
website : www.sanskrit.nic.in

ISBN : 978-93-86111-72-2

प्रथमसंस्करणम् : 2011

मूल्यम् : ₹ 200/-

मुद्रक :
नील एडवर्टाईज़िंग, दिल्ली - 93
मो. 8802451208

पुरोवाक्

अतिरम्यं परिधानं नवमाभरणं सरस्वतीदेव्याः।
कायामपि च च्छायामाविष्कुर्वन्नवां च नवाम्॥

परिपाकः प्रज्ञायाः स्पन्दो यौवनगतो नवो नवश्च।
अनुवादो विश्वस्य रचनावचनावलीविशेषाणाम्॥

भवितव्यं तद् भारतभूमेः क्रान्तेस्तथा च सङ्क्रान्तेः।
आयतिगतिभिर्लसितं चित्रं सम्भावनामयं च॥

ऊर्जां वा लालित्यं दधदिह निखिलं तथा च गतिशीलम्।
साम्प्रतिकं साहित्यं संस्कृतभाषागतं लसति॥

संस्कृत–भाषा और उसका साहित्य भारत देश की संस्कृति की पहचान और पर्याय हैं। आज भी संस्कृत में रचनाकार नया साहित्य लिख रहे हैं। वे प्रायः यह समझ कर ही साहित्य–रचना में प्रवृत्त होते हैं कि भारत–देश की आत्मा, भवितव्यता जिस तरह संस्कृत–भाषा के माध्यम से व्यक्त हो सकी है, उस तरह अन्य किसी भाषा के माध्यम से नहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के साहित्य की एक प्रमुख प्रवृति राष्ट्रीयता रही है। उस समय जो राष्ट्रीय भावधारा संस्कृत–रचनाओं में प्रवाहित हुई, वह संस्कृत–साहित्य की पूरी परम्परा में ही नया मोड़ है। आजादी की लड़ाई का शंखनाद और क्रान्ति का तेजस्वी स्वर भाषा और अभिव्यक्ति ही प्रखरता तथा उसी काव्योत्कर्ष के साथ उसमें गूँजा है। योगी अरविन्द की भवानी भारती हो या हरिदत्त पालीवाल निर्भय के क्रान्ति का अमर गान करने वाले गीत, रामनाथ पाठक 'प्रणयी' आदि की रचनाएँ– वे राष्ट्रीय भावधारा को, जीवन्त अनुभव के रूप में सम्प्रेषित करते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर काल में भी संस्कृत

रचनाकारों ने प्रातिभ नवोन्मेष व प्रज्ञा की प्रत्यग्रता के साथ भारत की भवितव्यता और अपने समय के यथार्थ की अवगति प्रस्तुत की है।

इस दृष्टि से बीसवीं शताब्दी की उल्लेख्य रचनाओं में से एक **गंगाधर शास्त्री** का 'अलिविलासिसंलापः' है। यह काव्य संवत् 1964 (1907ई.) में वाराणसी के प्रभाकरी यन्त्रालय के द्वारा मुद्रित किया गया और प्रभाकरी कम्पनी के द्वारा प्रकाशित किया गया। महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री, सी.आई.ई. बीसवीं शताब्दी के संस्कृतसाहित्याकाश में भास्वरतम नक्षत्रों में एक हैं। इसी प्रकार म.म. रमावतार शर्मा, भट्ट मथुरानाथ शास्त्री, अप्पा शास्त्री, बटुकनाथ खिस्ते, हरिदास सिद्धान्त वागीश, वेंकटराम राघवन्, जगन्नाथ पाठक, अभिराज राजेन्द्र मिश्र, सत्यव्रत शास्त्री, हर्षदेव माधव आदि कृती रचनाकारों की कृतियाँ सारस्वत भाण्डागार की अमूल्य निधियाँ हैं। परम्परा और आधुनिकता का मणिकांचन योग इनमें हुआ है।

समकालीन संस्कृत साहित्य एक प्रवृति परंपराओं के संधान और पुनःसंधान की है। परंपरा को लेकर तीन दृष्टियाँ इन रचनाकारों में उभरती हैं– परंपरावादी, परंपराविरोधी और परंपराविस्तारक। पहली आस्था की दृष्टि है, जिसमें परंपरा गुँथी हुई, पिरोई हुई और रचनाकार को अपनी सीमाओं में बांधती हुई साथ लगी रहती है। दूसरी दृष्टि परंपरा को छोड़ने और तोड़ने की है। तीसरी दृष्टि परंपरा को छोड़े और तोड़े बगैर नए से जोड़कर विस्तारित और परिष्कृत करने की है। समकालीन जगत् में संस्कृत रचनाकर्म का सारा संरंभ तीसरी दृष्टि को सत्यापित करने के लिए है। इन तीनों दृष्टियों के जोड़ से कुछ रचनाकारों ने अपने रचना संसार का त्रिभुज रचा।

पारंपरिक शैली पर महाकाव्य और नाटक बड़ी संख्या में संस्कृत में लिखे जा रहे हैं। पर इन महाकाव्यों या नाटकों के नायक और विषय बदल गए हैं। पौराणिक चरित्रों पर महाकाव्य या नाटक भी बड़ी संख्या में लिखे और छपवाए जा रहे हैं, तो गांधी, नेहरू, सुभाष, बसवराज, अंबेडकर या स्त्री चरित्रों पर भी। रेवाप्रसाद द्विवेदी या राजेंद्र मिश्र अपने पौराणिक विषयों पर लिखे गए महाकाव्यों में समकालीनता

का अनुप्रवेश कराते हैं। इससे आगे जाकर हर्षदेव बृहन्नला महाकाव्य में महाकाव्य के सारे प्रचलित रूपविधान और ढाँचे को ही तोड़ देते हैं; पूर्णचंद्र शास्त्री निम्नवर्ग की एक स्त्री के संघर्ष पर अपराजिता वधूः महाकाव्य लिखते हैं। छंद और लय का एक आग्रह संस्कृत का लेखन बना हुआ है, पर साथ ही मुक्त छंद में ढेरों रचनाएँ बराबर आ रही हैं। केशवचंद्र दाश जैसे कवियों के दर्जनों कविता-संग्रह केवल मुक्त छंद की संस्कृत कविताओं के ही हैं।

मंजुलता शर्मा आधुनिक संस्कृत साहित्य की एक विज्ञ अध्येत्री व प्रखर समीक्षक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने समकालीन संस्कृत की प्रवृत्तियों, उपलब्धियों व सीमाओं का सारग्राही विवेचन किया है। आशा है यह पुस्तक संस्कृत में नवलेखन और तद्विषयक अभिज्ञान को नवस्फर्ति देगी।

–राधावल्लभ त्रिपाठी

कुलपतिः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

(vii) *(viii)* *(ix)* *(x)* *(xi)* *(xii)* *(xiii)* *(xiv)*

(xv) *(xvi)* *(xvii)* *(xviii)* *(xix)* *(xx)* *(xxi)* *(xxii)*

(xxiii) *(xxvi)* *(xxv)* *(xxvi)* *(xxvii)*

(vii) *(viii)* *(ix)* *(x)* *(xi)* *(xii)* *(xiii)* *(xiv)*

(xv) *(xvi)* *(xvii)* *(xviii)* *(xix)* *(xx)* *(xxi)* *(xxii)*

(xxiii) *(xxvi)* *(xxv)* *(xxvi)* *(xxvii)*

(vii) *(viii)* *(ix)* *(x)* *(xi)* *(xii)* *(xiii)* *(xiv)*

(xv) *(xvi)* *(xvii)* *(xviii)* *(xix)* *(xx)* *(xxi)* *(xxii)*

(xxiii) *(xxvi)* *(xxv)* *(xxvi)* *(xxvii)*

(vii) *(viii)* *(ix)* *(x)* *(xi)* *(xii)* *(xiii)* *(xiv)*

(xv) *(xvi)* *(xvii)* *(xviii)* *(xix)* *(xx)* *(xxi)* *(xxii)*

(xxiii) *(xxvi)* *(xxv)* *(xxvi)* *(xxvii)*

नमोवाक्

मानव मन की अदम्य अनुभूतियों की सुन्दर शब्दमयी अभिव्यक्ति ही काव्य है। शब्दों द्वारा हृदयों को परस्पर जोड़ने वाली यह कला निस्संदेह अनुपमेय है। अनुपम सहोदर काव्य न केवल विज्ञ जनों को आनन्दित करता है अपितु निर्गुणी श्रोताओं को भी आस्वादमय सन्तोष की अनुभूति कराता है। आधुनिक युग में एक ओर तो संस्कृत काव्य प्राचीन रचना परिपाटी का अनुसरण कर रहा है तो दूसरी ओर कवियों की रचनाधर्मिता ने अपने को युगानुरूप साबित करने के लिये उस पारम्परिक सीमारेखा से इतर अपना स्थान बनाया है। भारतीय चिन्तन में काव्य और कला को जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति स्वीकार करते हुये कान्तासम्मित उपदेश प्रदायिनी कहा गया है।

काव्य के प्रतिमान समय के साथ बदलते रहते हैं। बदलती अभिरुचि, बदलते युग और साहित्य के कारण साहित्य में भी परिवर्तन अपेक्षित है। काव्य उदात्त भावानुभूति अथवा रसानुभूति का माध्यम है, इस कारण काव्य में बौद्धिक प्रवृत्ति के साथ–साथ रागात्मक अनुभूति पक्ष भी बना रहता है। क्योंकि काव्यशास्त्र का कोई भी प्रतिमान शाश्वत नहीं होता, परम्परागत नियमों में परिवर्तन होता रहता है अतः यह उसकी जीवन्तता का प्रतीक है। वास्तव में काव्य एक ऐसी कला है जो श्रवणेन्द्रिय द्वारा मानसिक तृप्ति कराती है। उसका कोई स्थूल आधार नहीं होता। केवल शब्द और अर्थ के पारस्परिक संयोग से यह कवि और भावक के मध्य सेतु के रूप में प्रतिष्ठित होती है। इस तथ्य से यह बात तो निश्चित तौर पर सामने आती है कि काव्य युग की आवश्यकता और मानव की मनोवृत्ति से सृजित होता है। परन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि काव्य जीवन की प्रचारात्मक अभिव्यक्ति न होकर यथार्थ अभिव्यक्ति बने। जीवन से कटकर लिखे गये साहित्य का कोई मूल्य नहीं होता। साहित्यकार जब अपनी प्रतिभा, कल्पना, सौन्दर्य चेतना और समाज की आवश्यकता के विनियोग से जीवन को रूपायित करता है तब काव्य की अभिव्यक्ति अधिक हृदयग्राही होती है।

मुझे एक बात का अनुभव कई बार हुआ कि पाठक की स्मृति बहुत ही 'सलैक्टिव' होती है वह उन्हीं प्रसंगों को याद रखता है अथवा याद रखना चाहता है जो उसकी रूचि, उसके समाज अथवा उसके परिदृश्य से जुड़े होते हैं। व्यक्ति वही कविता बहुत समय तक गुनगुनाता है जिसके साथ उसका तादात्म्य शीघ्र ही बन जाता है, जिसे वह महसूस करता है, जिसमें उसके जीवन के अनेकों प्रश्नों के उत्तर मिलते हैं। अतः काव्यानुरञ्जन के लिये पाठकों की सोच तक पहुँचना बहुत जरूरी है इसलिये अपने समय के यथार्थ को अपनी कल्पना और संवेदना से समिश्रित कर समाज के समक्ष प्रस्तुत करना ही रचनाकार का धर्म है। कोई भी कवि अपने युग की अवहेलना करके स्वस्थ परम्पराओं की उपेक्षा करके कालजयी रचना का सृजन नहीं कर सकता। जीवन की धड़कन और समाज का स्पन्दन ही श्रेष्ठ काव्य को जन्म देते हैं। व्यक्ति जिस सामाजिक परिवेश में श्वाँस लेता है वहीं से वह जीवन रस ग्रहण करता है वहीं के अनुभवों को एकत्रित करके अपने काव्य को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। उसकी यही अभिव्यक्ति समाज का दिशा निर्देश करती है। जो साहित्य सामाजिक मूल्यों के प्रति चेतना जाग्रत नहीं करता है उसका प्रभाव अस्थाई होता है। चिरंतन होकर जीवन का पर्याय बनने वाले काव्यों में जीवन मूल्यों का संघर्ष प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'आधुनिक संस्कृत काव्य की परिक्रमा' काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष का अधुनातन स्वरूप प्रस्तुत करने का एक लघु प्रयास है। इसमें आधुनिक संस्कृत काव्य के कतिपय उदाहरणों द्वारा कुछ प्रमुख बिन्दुओं को उठाया गया है। कविता में होने वाले अन्तरङ्ग. और बहिरङ्ग. परिवर्तनों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रतीक, बिम्ब आदि के द्वारा आज काव्य का रूप ही बदल गया है, उसकी अनुभूति नई–नई सी लग रही है आखिर कैसे और क्यों? इसकी व्याख्या भी इस पुस्तक में एक नवीन आलोक में की गई है।

पुस्तक का प्रथम अध्याय साम्प्रतिक संस्कृत काव्य और आधुनिकता के प्रारम्भ की चर्चा से शुरू होता है। द्वितीय अध्याय में विभिन्न वाद और उनका आधुनिक कविताओं पर प्रभाव देखा जा

सकता है। तृतीय अध्याय आधुनिक कविता में सम्पूर्ण परिवर्तन के स्वरूप की व्याख्या करता है और चतुर्थ अध्याय में समाज के बदलते जीवन मूल्य और काव्य की दिशा का निर्धारण है। पंचम अध्याय में व्यक्तित्व विश्लेषण के प्रसंग में सर्जक और भावक की अनुभूति और अभिव्यक्ति के साथ–साथ नारी विषयक योजना का विस्तार से वर्णन किया गया है। षष्ठ अध्याय भाषागत परिवर्तनों को समर्पित है। छन्द, अलंकार और भाषा की दृष्टि से हमारा संस्कृत काव्य कितना समृद्ध हुआ है यह किसी से अनदेखा नहीं है। हम लोकधर्मी छन्दों के साथ साथ विदेशी छन्दों से भी जुड़े हैं। हमारे उपमानों में नवीनता है, अलंकार योजना में परिवर्तन आ रहा है, संस्कृत भाषा में अन्य भाषाओं से भी शब्द आ रहे हैं अतः हमारे संस्कृत काव्य ने विश्व पटल पर अपनी एक पहचान बनाई है। आज अनूदित साहित्य की धूम मची है। संस्कृत काव्यों को तमिल, तेलुगू, गुजराती, मराठी आदि में अनूदित किया जा रहा है अन्य भाषाओं के सहित्य को संस्कृत में रूपायित कर रहे हैं अतः यह हमारे लिये बहुत गौरव की बात है कि हम संस्कृत भाषा को युगानुरूप कलेवर प्रदान कर रहे हैं। सप्तम अध्याय में छान्दस नवप्रयोग द्वारा देशी–विदेशी छन्दों की चर्चा है, भङ्गीभणितियों की चितवन है और लोकधर्मी छन्दों में माटी की सौंधी महक है। अष्टम अध्याय अलंकारों में नवीनता को लेकर व्याख्यायित है जहाँ उपमान और उपमेय के चित्रोपम प्रसंग हैं। अन्त में उपसंहार के द्वारा सम्पूर्ण पुस्तक की सारांशयुक्त व्याख्या प्रस्तुत की गई है जिससे प्रकीर्ण प्रसंगों और सारगर्भित विशिष्ट वातायनों को खोला जा सके।

इस पुस्तक में विषय को प्रतिपादित करके समय विभिन्न कविताओं के उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है परन्तु कुछ कवियों की कविताओं के उदाहरण अधिकता से प्रयुक्त किये गये हैं और कुछ कवियों की कविताएँ प्रसंगानुकूल होते हुये भी सम्मिलित होने से रह गई हैं। दरअसल कुछ तो मज़बूरियाँ रही होंगी...........यहाँ यही कहना है मुझे। क्योंकि कभी तो पुस्तक की अप्राप्यता, तो कभी विस्तार का भय, कभी पुनर्चर्वणा की आशंका तो कभी क्रम का अतिक्रमण। वास्तविकता यह भी है कि कुछ आवश्यक उदाहरण मेरे संज्ञान में

तत्समय नहीं आ सके। अतः स्थालीपुलाकन्यायवत इन उदाहरणों द्वारा समस्त वरेण्यविद्वानों को भी इसी में सम्मिलित स्वीकार करती हूँ। पुस्तक में काव्योदाहरण के प्रसंग में सम्भवतः यदि वरिष्ठता और कनिष्ठता का भी कुछ व्यतिक्रम हुआ हो तो मैं तदर्थ क्षमाप्रार्थी हूँ क्योंकि यह लेखन अर्ध्य है उन नवजिज्ञासुओं (शोधार्थियों) के लिये जिन्हें सामान्य पदावली में आधुनिक संस्कृत काव्य से परिचय की उत्सुकता है। प्रबुद्ध विद्वानों के लिये तो यह शब्द क्रीड़ा मात्र है।

पुस्तक की शीर्षक 'आधुनिक संस्कृत काव्य की परिक्रमा' रखने का उद्देश्य भी यही है कि जैसे परिक्रमा करते समय प्राणी पूरी निष्ठा से मार्ग तय करता है परन्तु न चाहते हुये भी छोटे–छोटे पड़ाव छूट जाते हैं। उसी प्रकार समग्र काव्य का परिशीलन करते समय यदि कुछ बिन्दुओं पर चर्चा अधूरी रह गई हो तो यह मेरे ज्ञान की परिसीमा ही हो सकती है। परन्तु मैंने इस परिक्रमा मार्ग को पूर्ण भावना और समर्पण से पदे–पदे चिन्हित करने का प्रयास किया है।

इस पुस्तक को लिखते समय मुझे अनेक विद्वानों से समय–समय पर सहयोग मिला सम्भवतः इस सहयोग ने ही मेरी इस काव्य यात्रा में पाथेय का कार्य किया। अभिराज राजेन्द्र मिश्र जी जैसे श्रेष्ठ संस्कृत साधक ने अपने व्यस्त क्षणों में भी मेरा मार्गदर्शन किया। फोन पर भी उन्होंने कई बार मुझे काव्य की बारीकियों से परिचित कराया। प्रो0 राधावल्लभ त्रिपाठी जी के अनेक लेख जो काव्य के प्रतिमानों को व्यक्त करते थे उनसे भी मुझे विषयवस्तु के स्पष्ट होने में सहायता मिली। कई बार रूबरू होने पर उन्होंने मेरी काव्यगत शंकाओं का भी समाधान किया।

देवर्षि कलानाथ शास्त्री जी ने इस पुस्तक का पुरोवाक् लिखकर इसकी गरिमा को बढ़ा दिया है। भाषा के सन्दर्भ और काव्यशास्त्रीय विवेचन के प्रसंग में अपने अमूल्य विचारों को उन्होंने अत्यन्त विस्तार से पुस्तक के प्रारम्भ में ही रख दिया है जिससे पाठक पुस्तकीय विषयवस्तु का आकलन कर सकते हैं।

इस पुस्तक की लेखकीय प्रेरणा मेरे भाई हर्षदेव माधव हैं। जिनका न केवल वाचिक अपितु साहित्यिक सहयोग भी मुझे सदैव

मिलता रहा है। जब भी मेरी लेखनी रुकी उन्होंने बाधा दूर करके मुझे उत्साहित किया। भाई माधव ने अपनी भगिनी द्वारा प्रदत्त रक्षासूत्र का वास्तव में सम्मान रखा है अतः मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि मुझे सदैव उनका आशीर्वाद मिलता रहता है।

'दृक' सम्पादक डॉ0 शिवकुमार मिश्र जी पर मेरी श्रद्धा अकथनीय है। उन्होंने अपने अनेकों अमूल्य विचारों से इस पुस्तक को समृद्ध किया है। भले ही वह पुस्तक के शीर्षक की बात हो अथवा शाब्दिक क्रीड़ा की। मैंने जब भी उनसे सहयोग का निवेदन किया उन्होंने अत्यन्त विनम्रता से उसे स्वीकार किया।

इन परम श्रृद्धेय संस्कृत साधकों को मैं सादर नमन करती हूँ। परन्तु इन सबके प्रति केवल कृतज्ञता ज्ञापित करके मैं इनके स्नेह से मुक्त नहीं होना चाहती। इनकी अनुसंधित्सु दृष्टि एवं आशीर्वाद मुझ पर इसी प्रकार बना रहे, ऐसी भगवान आशुतोष से मेरी प्रार्थना है। यहाँ शिव के लिये आशु (शीघ्र) तोष (सन्तुष्टि) का प्रयोग करने में मेरी यही व्यञ्जना निहित है। मेरा यह छोटा सा प्रयास यदि आधुनिक संस्कृत काव्य का किञ्चित भी मूल्यांकन करने में समर्थ हो सका तो मेरा यह श्रम सफल होगा, यहाँ गालिब का एक शेर याद आता है –

गालिब बुरा न मान जो वाअिज़(उपदेशक) बुरा कहे
ऐसा भी कोई है कि सब अच्छा कहें जिसे।
(गालिबकाव्यम्)

इत्यलम्

<u>विनयावत</u>
मञ्जुलता शर्मा

यह पुस्तक
समर्पित है

त्रिदल विल्वपत्र स्वरूप
अभिराज राजेन्द्र मिश्र
प्रो0 राधावल्लभ त्रिपाठी
भाई हर्षदेव माधव
को
जिनकी सारस्वत साधना
ने सदैव
शिव (कल्याण)
का श्रृंगार किया है।

आधुनिक संस्कृत काव्य की परिक्रमा एक 'माइलस्टोन'

डॉ0 मञ्जुलता शर्मा का नाम सुनते ही एक प्रसन्न–मधुर व्यक्तित्व, प्रतिभासम्पन्न लेखिनी, सरस्वती की वीणा के पञ्चमस्वर के तार की कम्पन वाली आवाज और निर्भय–निरंकुश विवेचन की छटा याद आ जाती है। उनके शब्दों में ठोस आधार होता है, विवेचना में निर्भयता का बल और कथन में तेजाब। इसलिये मञ्जुलता जी की विवेचना पढ़ने के लिये आधुनिक अध्येता आतुर रहते हैं। 'दृक्' में उनके कई लेखों की चर्चा की गूँज अनेक संगोष्ठियों में सुनाई देती है। उनका शब्द आधुनिक साहित्य को जाँचने का एक निकष–ग्रावा है।

आधुनिक साहित्य परिशीलन करने वाले विद्वानों को कई वर्षों से एक प्रश्न बार–बार सताता था – 'नये मानदण्डों की खोज' आचार्य प्रवर राधावल्लभजी ने कई बार उसका उल्लेख किया है। अगर प्राचीन विवेचना पद्धति से नये साहित्य का मूल्यांकन नहीं हो सकता, तब कौन से नये मानदण्डों की कल्पना हो सकती है, किस–किस चीज़ों ने आधुनिक साहित्य को नया रूप दिया है, साहित्य को सजाया है। नये साहित्य की पृष्ठभूमि में कौन सी विचार धाराएं, संकल्पनाएँ एवं कौन–कौन से परिवर्तन निहित हैं इन सारे प्रश्नों का जवाब इस आधुनिक विवेचन की अष्टाध्यायी में मिलेंगे।

लेखिका ने संस्कृत एवं संस्कृतेतर विशाल वाङ्.मय का व्यापक अध्ययन–अनुशीलन किया है। और काव्य–शरीर, काव्य, काव्यचेतना इन सभी की पहचान देने की प्रामाणिक कोशिश की है। आधुनिक काव्य के बहिरंग एवं अंतरंग परिवर्तन, विविधवादों का प्रभाव, नये सर्जन की दिशाएं एवं कवि चेतना का विस्तार इन सभी तथ्यों का मार्मिक विवेचन किया गया है।

मैंने एक जगह पर लिखा था कि कवि अगर बत्तीस लक्षणों वाला पुरुष हो तो विवेचक छत्तीस लक्षण वाला होना चाहिये, और ऐसी कुछ मूर्धन्य विद्वतप्रतिभाओं में मैं मञ्जुलताजी का नाम भी ले रहा हूँ, किसी भी अतिश्योक्ति के बिना।

यह ग्रन्थ आधुनिक संस्कृत के विवेचन में एक पथप्रदर्शक–माइलस्टोन बनेगा यह मैं निःसंशय रूप से मानता हूँ। अध्येता एवं विद्वानों के अनुशीलन के लिये एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ को प्रस्तुत करने वाली बहन मञ्जुलताजी को सश्रद्ध वर्धापना देते हुये सरस्वती के इस नव्य उपादान का स्वागत करता हूँ। हाँ, संस्कृत कविता जिन रास्तों पर आगे जा रही है, उनके नक्शे (मानचित्र) इस ग्रन्थ में हैं। आपको भी अनुशीलन के सही रास्ते की दिशा मिल जायेगी, अगर आप तत्त्वाभिनिवेशी हों तो।

डॉ0 हर्षदेव माधव

पुरोवाक्

अनेक सहस्राब्दियों से अपनी भाषिक संरचना को, अपने अतिविशाल, अपरिमेय शब्दभांडागार को और अपने विश्वजनीन प्रसार को इसी प्रकार अनवरत, अक्षुण्ण और यथाघटित रखते हुये आज तक इस देश को अपनी अभिज्ञा प्रदान करने वाली अजरामर भाषा 'संस्कृत' विश्व के भाषाई इतिहास में एक कीर्तिमान ही नहीं, एक अजूबा भी है। विश्व की कोई भी भाषा इतनी सहस्राब्दियों से उसी संरचना और उसी व्याकरण गठन में यथावत बनी रहे ऐसा मानव के इतिहास में नहीं मिलता। आज से सात सदियाँ पूर्व की अंग्रेजी भाषा को तो अंग्रेजी का विद्वान भी नहीं समझ सकता। चौसर की अंग्रेजी कविता से वर्डसवर्थ की कविता की कोई समानता नहीं है, अलग–अलग भाषाओं की कविताएँ लगती हैं वे। हिन्दी भाषा तीन सौ वर्ष पूर्व बिल्कुल भिन्न थी, आज उसका रूप ही कुछ और है। संस्कृत का ही यह करिश्मा है कि सहस्राब्दियों पूर्व की उपनिषद् की भाषा भी बिल्कुल वैसी ही है जैसी डेढ़ सहस्राब्दी पूर्व की शंकराचार्य की भाषा और आज लिखी जा रही संस्कृत जो भट्टमथुरानाथ शास्त्री की लेखनी से निकली हो या श्रीभाष्य विजयसारथि की।

तभी तो हम संस्कृत वाणी को लोपामुद्रा द्वारा प्रस्तुत उषःसूक्ति की उषा की तरह 'पुराणी युवतिः' कहते हैं – "**पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिः।**" यह भाषिक सनातनता और निर्जरता चाहे पाणिनि की देन हो अथवा उन सर्जकों की जो गीर्वाण वाणी की अजरामरता को अविच्छिन्न रखने हेतु इसमें उतना ही व्याकरणशुद्ध लेखन कर रहे हैं, चाहे उनकी मातृभाषा कोई भी हो। इस निर्जरता की सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि भाषिक संरचना अपरिवर्तित चाहे रहती हो, संस्कृत सर्जन में प्रत्येक युग में भावबोध की, युगीन प्रतिफलों की, नये उदविकासों की, नई शैलियों की, नये छन्दों की, यहाँ तक कि नये मुहावरों की भी उपधाराएँ उस अजस्त्र महाधारा के साथ बहती हैं, उफनती हैं, लहराती हैं। यही तो है इसके चिरयौवन का रहस्य। इस प्राचीन भाषा में भी, तभी तो, प्रत्येक युग में नयी सर्जना होती रही है।

जो शाश्वत संवित्तियाँ हैं वे तो यथावत रहेंगी ही, अक्षुण्ण रहेंगी ही, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति के लिये जो "विच्छित्तियाँ" हैं वे युगानुरूप अवश्य बदलेंगी, यदि भाषा में जीवन की ऊर्जा है, आन्तरिक "जीवन्तता" है। तभी तो मैंने साहित्य अकादमी के 2004 के (संस्कृत) पुरस्कार समारोह के अवसर पर अपने वक्तव्य में यह अवधारणा व्यक्त की थी–

"संवित्तिहार्दिकी संवित, तदीया शाश्वती स्थिति।
तां निरूपयितुं ग्राह्या विच्छित्तिर्युगसंगता।।"

कुछ मानवीय संवेदनाएँ शाश्वत होती हैं, वे अवश्य प्रत्येक भाषा के साहित्य में प्रत्येक युग में प्रतिफलित होंगी किन्तु उनकी अभिव्यक्ति युगीन मुहावरों में होगी। ऐसे मुहावरे प्रत्येक भाषा, प्रत्येक युग में तदनुरूप अभिव्यक्ति के लिये नये सिरे से विकसित करती है। संस्कृत ने तो न केवल युगानुकूल अभिव्यक्ति शैलियाँ तथा लक्षशः नये शब्द उद्विकसित किये, अनेक नये छन्द, नई काव्यविधाएँ, नई सम्प्रेषण मुद्राएँ भी आविष्कृत कीं अथवा 'आयातित' कीं। आज भारतीय भाषाओं में देशभर में विज्ञान, मानविकी आदि की जो उच्च शिक्षा दी जा रही है उसकी पारिभाषिक शब्दावली अंग्रेजी आदि भाषाओं के तकनीकी शब्दों के अनुवाद या अनुसर्जन द्वारा लाखों शब्दों के भंडार के रूप में संस्कृत ने ही दी है, यह तथ्य तो विश्वविदित है ही, किन्तु वह क्षेत्र विमर्शात्मक और शास्त्रीय वाड़्मय का है उसके अतिरिक्त सर्जनात्मक साहित्य में भी गत डेढ़ शताब्दी के कालखण्ड में संस्कृत सर्जकों ने कथ्य और शिल्प, दोनों स्तरों पर जिस विपुल साहित्य निधि की अवतारणा की है उसमें काव्य और गद्य दोनों में गीति, गज़ल, कव्वाली, प्रतीक, कविता, पैरोडी, हाइकू, तान्का, हास्य व्यंग्य, रेडियो रूपक, दूरदर्शन धारावाहिक, लघुकथा, जासूसी कहानी, यात्रावृत्त, आत्मकथा, डायरी, साहित्य समीक्षा, खेल समीक्षण, समाचार समीक्षण, नुक्कड़ नाटक, विनोद कणिका, ललित निबन्ध, साथ ही चलचित्रपट कथाएँ (फिल्म आलेख) आदि इतनी नई विधाएँ और नये प्रकार (जिन्हें अंग्रेजी में फार्मेट कहा जाता है) गिनाये जा सकते हैं जो संस्कृत भाषा को आधुनिकतम भाषाओं की जमात में गिने जाने की पात्र सिद्ध कर देते हैं। यही तो है इस "पुराणी युवति" के यौवन का प्रत्यक्ष प्रमाण।

इस यौवन को निखार देने वाला सर्वाधिक उल्लेखनीय उपकरण सिद्ध हुआ था, संस्कृत में पनप रही पत्रकारिता जिसने 1866 ई. से ही नई अभिव्यक्ति विधाओं को मंच दिया, प्रसारण क्षेत्र दिया। 'विद्योदय' और 'संस्कृत चन्द्रिका' आदि पत्रिकाओं ने कहानी, उपन्यास, गीतियाँ, यात्रावृत्तों आदि का प्रकाशन उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण से ही प्रारम्भ कर दिया था। कौन नहीं जानता कि ये अम्बिकादत्त व्यास का "शिवराज विजय" प्रथमतः 'संस्कृत चन्द्रिका' में ही ध ारावाहिक रूप से छपा था। ऐसे साहित्य ने भाषा का एक हित तो यह किया कि नवयुगीन परिवेश के उपयुक्त, नवयुग की स्थितियों को अभिव्यक्त करने हेतु, नये शब्द और मुहावरे आविष्कृत होने लगे, साथ ही बांग्ला, हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में विकसित हो रही नई विध ाओं की अवतारणा को भी इसने मंच दिया, संस्कृत केवल महाकाव्यों तक या नव्यन्याय और व्याकरण तक ही सीमित नहीं रही।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि हम संस्कृत को एक जीती जागती भाषा, भारत की आधुनिक भाषाओं की बड़ी बहिन और सशक्त भाषा सिद्ध करना चाहते हैं तो उसमें नवीनतम शब्दावली और साहित्य विधाओं का समावेश करते रहना होगा जिससे हमारे विश्वविद्यालयों से निकलने वाले स्नातक आधुनिक युग के परिवेश की अभिव्यक्ति भी संस्कृत में करने की क्षमता पा सकें। आज के स्नातक को यदि रेलवे स्टेशन पर टिकिट खरीदने की, फ्रिज से निकला हुआ शीतल पेय पीने की, सिनेमाघर में फिल्म देखने की या बस में बैठकर स्टेडियम पहुँचने ओर क्रिकेट मैच देखने की घटना का वर्णन करना हो तो उसके लिये न तो अमरकोष उसके काम आयेगा न सिद्धान्तकौमुदी, न माघ न भारवि। इन सबके लिये आधुनिक संस्कृत साहित्य का कुछ स्तरीय पाठ्यांश विश्वविद्यालयों की पाठ्यचर्याओ में हो, यह एहसास अब विश्वविद्यालयों के भाग्यविधाताओं को भी होने लगा है।

संस्कृत के प्रौढ़ और परिनिष्ठित पंडितपुंगवों को सम्भवतः ऐसा एहसास कुछ बाद में हुआ हो कि आधुनिक विषयों को भी संस्कृत की पाठ्यचर्याओं में रखा जाना चाहिये। कुछ संस्कृत परीक्षातंत्रों के प्रबन्धकों के सामने बीसवीं सदी के प्रथम चरण में जब ऐसी बात

आई तो उन्हें "आधुनिक संस्कृत साहित्य" शायद इस योग्य न लगा हो कि उसे शास्त्री या आचार्य जैसी परीक्षाओं के पाठ्यक्रमों में रखा जाये। उन्होंने यह कृपा अवश्य की कि पं. अम्बिका दत्त व्यास के 'शिवराज विजय' के कुछ अंशों के कुछ माध्यमिक परीक्षाओं के लिये पाठ्यक्रम में रख लिया। यह अच्छा हुआ किन्तु शिवाजी के समय भी न तो भारत में रेल चली थी न क्रिकेट मैच होते थे। अतः केवल 'शिवराज विजय' पढ़कर निकला स्नातक आज के युग में संस्कृत व्यवहार करने में अपनी पढ़ी हुई पाठ्यचर्या के बल पर तो समर्थ नहीं हो सकता यह स्पष्ट है। यह तो उसके बाद से लेकर आज तक लिखे हुये सर्जनात्मक साहित्य को देखकर ही समझा जा सकता है कि नवयुगीन परिवेश की अभिव्यक्ति के लिये परवर्ती संस्कृत लेखक को कितने नये शब्द सैकड़ों की ही नहीं, हजारों की संख्या में नये लेने पड़े हैं या गढ़ने पड़े हैं।

यह सौभाग्य की बात रही कि बीसवीं सदी के मध्य में भारत में जो संस्कृत पाठ्यचर्याएँ बनाई गईं, जो संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित या क्रमोन्नत हुये उनमें से कुछ ने आधुनिक संस्कृत साहित्य को न केवल पाठ्यचर्या में सम्मिलित किया, उसमें शोध, अनुसन्धान आदि को भी शोधोपाधियों के लिये मान्य किया, उसमें पृथक प्रश्नपत्र भी निर्धारित किये। ऐसा करना छात्रों को आज के परिवेश की अभिव्यक्ति भी संस्कृत में करने के योग्य बनाने की दृष्टि से कितना वांछनीय है यह अपने आप में स्पष्ट है। ऐसा एहसास पुराणपंथी पंडितपुंगवों को कुछ देर से हो पाता है यह कटु सत्य हम सविनय क्षमाप्रार्थनापूर्वक ही यहाँ अभिव्यक्त कर रहे हैं।

जितनी विपुल संख्या में आधुनिक संस्कृत साहित्य विधाएँ उद्भूत हो रही हैं, जिस विपुल परिमाण में विभिन्न विधाओं में सृजन हो रहा है और पत्र–पत्रिकाओं में, साथ ही ग्रन्थाकार में भी प्रकाशित हो रहा है उसके मूल्यांकन और संमानन के लिये केन्दीय साहित्य अकादमी भी प्रतिवर्ष एक पुरस्कार मौलिक सर्जन को तथा एक अनुवाद को देती है, विभिन्न राज्यों की संस्कृत अकादमियाँ तो उन्हें पुरस्कृत करती ही हैं। यह भी सन्तोष का विषय है, यह भी सन्तोषप्रद

स्थिति है कि इस नूतन साहित्य सृष्टि के आँकलन हेतु तथा इस साहित्य के इतिहास लेखन हेतु योजनाबद्ध एवं परिनिष्ठित प्रयत्न होने चाहिये, यह एहसास भी संस्कृत विद्वज्जगत में पनपा है। इसके फलस्वरूप बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही आधुनिक कालीन साहित्य के अधिकृत इतिहासलेखन की योजनाएँ बनीं। प्रो0 कृष्णमाचारियर जैसे साहित्योतिहासकारों ने अंग्रेजी में समूचे संस्कृत वाङ्मय का इतिहास लिखकर उसके अन्तिम खण्ड को आधुनिक संस्कृत लेखकों का वाङ्मयेतिहास बनाना चाहा, सारे भारत से विद्वान लेखकों के जीवनवृत्त मँगाकर दो नई सदियों के नये संस्कृतवाङ्मय का इतिहास तैयार कर दिया। इस आधारभूत विराट् प्रयास से प्रेरित होकर तदनन्तर अनेक शोधग्रन्थ भी लिखे गये।

मराठी में प्रो. श्रीधर भास्कर वर्णेकर ने "अर्वाचीन संस्कृत साहित्य" शोधग्रन्थ लिखा, हिन्दी में डॉ. हीरालाल शुक्ल ने "आधुनिक संस्कृत साहित्य" लिखा, डॉ. वी. राघवन ने साहित्य अकादमी के "कंटेंपररी इंडियन लिटरेचर" ग्रन्थ में आधुनिक संस्कृत साहित्य और पत्र पत्रिकाओं का विवरण दिया। साहित्य अकादमी ने आधुनिक संस्कृत साहित्य पर अनेक संगोष्ठियाँ आयोजित कीं जिनके फलस्वरूप अंग्रेजी में "Modern Sanskrit Literature : Traditions and Innaovations", "Sanskrit Writings in Independent India" जैसे शोधपत्र संकलन ग्रन्थ निकले। डॉ. रमाकान्त शुक्ल जैसे सर्जकों ने "अर्वाचीन संस्कृतम्" जैसी पत्रिकाएँ प्रारम्भ कीं, ऐसे सर्जकों के अभिनन्दन ग्रन्थों में भी आधुनिक संस्कृत साहित्य का आकलन संगृहीत हुआ, "अर्वाचीन संस्कृत साहित्य परिचयः" जैसे ग्रन्थ भी निकले। नार्थ गुजरात विश्वविद्यालय (पाटन) से प्रो. ए. एम. प्रजापत अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य का आकलन करने वाला "Post-Independence Sanskrit Literature : A Critical Survey" शीर्षक विशाल ग्रन्थ भी नये साहित्य की जानकारी देता है। 'सागरिका' जैसी पत्रिकाओं के आधुनिक संस्कृत साहित्य समीक्षणपरक विशेषांक भी यह कार्य करते रहे हैं, "प्रख्या" जैसी ग्रन्थमालाएँ भी।

आधुनिक संस्कृत ग्रन्थों के सूचीकरण हेतु कुछ कैटलॉग भी

प्रकाशित हुये हैं (आफ्रेक्ट के कैटलोगस कैटेलोगोरम की तर्ज पर) तथा विभिन्न राज्यों से वहाँ के नूतन साहित्य का परिचय देने वाले ग्रन्थ भी, पत्रिकाओ के विशेषांक भी।

इस दिशा में अत्यन्त स्वागतयोग्य नवोन्मेष था प्रयाग से नूतन संस्कृत सर्जन की समीक्षा हेतु ही प्रकाशित होने वाली षाण्मासिक पत्रिका 'दृक्' जिसके 22 अंक निकल चुके हैं और जो नये प्रकाशित हो रहे संस्कृत साहित्य का समीक्षण कर सारे देश के संस्कृत सर्जकों को एक परिवार स्नेह के सूत्र में बाँध रही है। ग्रन्थ के रूप में इसी प्रकार का स्वागतयोग्यनवोन्मेष था उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान द्वारा युगपुरुष और प्रसिद्ध साहित्येतिहासकार पं.बल्देव उपाध्याय के प्रधान सम्पादकत्व में अनेक जिल्दों में प्रकाशित हो रहे संस्कृत वाङ्मय के बृहत इतिहास के सप्तम खण्ड का आधुनिक संस्कृत साहित्य के विशाल इतिहास के रूप में प्रकाशित होना। इसमें गत दो सदियों के संस्कृत वाङ्मय का इतिहास समाहित है जो अनेक शोधार्थियों के सन्दर्भग्रन्थ का काम दे रहा है।

इस प्रकार के आकलनात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन के बावजूद भी यह अपेक्षा बराबर बनी हुई है कि इस विपुल आधुनिक संस्कृत सर्जन की गहन कथ्यगत और शिल्पगत समीक्षा हो, साथ ही समीक्षा के नये मानदण्ड भी उद्विकसित हों। गज़लों, ललितनिबन्धों, पैरोडियों, लघुकथाओं, रेडियो रूपकों या फिल्मों को काव्यप्रकाश या साहित्यदर्पण में निर्धारित गुण–रीति–रसालंकारादि के मापदण्डों पर तो पूर्णतः परखा नहीं जा सकता। ये नई विधाएँ जिस दिशा से आई हैं उस दिशा के सौन्दर्यशास्त्र से भी कुछ मानदण्ड अपनाने ही होंगे। दूरदर्शन और फिल्मों के नायकों को धीरोदात्त, धीरललित आदि भेदों में और नायिकाओं को मुग्धा, प्रोषितपतिका आदि भेदों में बाँटा अवश्य जा सकता है किन्तु इन विधाओं की पूरी परख के लिये तो नया समीक्षाशास्त्र अपेक्षित होगा ही। नये समीक्षाशास्त्र के लेखन के प्रयास भी डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, अभिराज राजेन्द्र मिश्र, डॉ. रहसविहारी द्विवेदी आदि विद्वानों ने किये हैं, डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, डॉ. शिवजी उपाध्याय आदि की पूर्वाचार्यक्षुण्ण सरणि पर आगे बढ़ते हुये ऐसे

लक्षण ग्रन्थ आने लगे हैं किन्तु जो साहित्य निरन्तर वर्धमान है, सृज्यमान है, उसके समीक्षण की प्रक्रिया भी अनवरत चलने वाली और निरन्तर वर्धमान हो यह अपेक्षित है।

इस अपेक्षा के प्रति भी आज का संस्कृत मनीषी जागरुक है यह अत्यन्त सन्तोष का विषय है। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आदि वित्तपोषक संस्थाओं के अनुदान से आधुनिक संस्कृत साहित्य पर विमर्श और समीक्षण हेतु उच्चस्तरीय विद्वद्गोष्ठियाँ गत तीन चार दशकों से देश भर में होती रही हैं यह इसका प्रमाण है। इन विद्वद्गोष्ठियों में प्रस्तुत शोधलेखों के संकलन भी ग्रन्थाकार में निकले हैं जो समीक्षण की स्तरीयता के प्रति हमें जागरुक भी करते हैं, आश्वस्त भी करते हैं, आगे के लिये दिशाएँ भी देते हैं। नई दिशाएँ भी एक विशाल क्षितिज की ओर संकेत कर रही हैं यह बताने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि संस्कृत सर्जन केवल पुस्तकों तक या रंगमंच तक ही सीमित नहीं है, वह रेडियो रूपक (ध्वनिनाट्य) और दूरदर्शन धारावाहिक तक भी जा पहुँचा है, दो तीन फिल्में भी बन चुकी हैं। 'आदिशंकराचार्य' फिल्म ने अनेक राष्ट्रीय पुरस्कार जीते हैं। जयपुर में बनी 'मुद्राराक्षस' फिल्म ने चाणक्य जैसे कट्टर पात्र की प्रेमिका की भी परिकल्पना कर तथा इस कूटनीति में रची बसी कथा में हास्य व्यंग्य का पुट देकर कुछ नये प्रयोग भी किये हैं। इन सबका समीक्षात्मक आकलन अभी बाकी है।

आवश्यकता इस बात की भी है कि जिस प्रकार हिन्दी साहित्य ने साहित्यलोचन के मापदण्ड बीसवीं सदी में पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र और समीक्षाशास्त्र से भी लिये, फिर उनका समन्वय संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के साथ करके अपना सौन्दर्यशास्त्र विकसित किया, उस प्रकार संस्कृत का समीक्षाशास्त्री भी करे। यह सुविदित ही है कि हिन्दी (ब्रजभाषा) ने संस्कृत के रस, अलंकार, गुण, रीति आदि मापदण्डों वाला काव्यशास्त्र ज्यों का त्यों अपनाया था, 'भाषाभूषण' आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ संस्कृत से अनूदित कर अलंकारशास्त्र को हिन्दी में लाते रहे थे किन्तु श्री श्यामसुन्दर दास जैसे मनीषियों ने आधुनिक युगीन अपेक्षाओं को दृष्टिगत रखते हुये

हडसन के "इंट्रोडक्शन टू लिटरेचर" आदि ग्रन्थों से पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की अवतारणा करने हेतु "साहित्यलोचन" आदि ग्रन्थ लिखे। इससे हिन्दी में एक नये, समन्वित समीक्षाशास्त्र का स्वरूप बना।

मुझे याद है हम छात्रगण हिन्दी नाटकों की समीक्षा हेतु "वस्तु, नेता और रस" इन तीन तत्त्वों की चर्चा करते थे, अंग्रेजी की 'यूनिटी' (देशकाल, अभिनय आदि की) के सिद्धान्त को 'अन्विति' कहते थे, कहानी की समीक्षा कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल और सर्जक के सन्देश (लेखन के उद्देश्य) इन पाँच मापदण्डों पर करते थे। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने आई. ए. रिचर्डस के आलोचना सिद्धान्तों की गहन समीक्षा कर उसकी अवधारणाओं को हिन्दी समीक्षाशास्त्र तक ला छोड़ा था। ऐसा ही कुछ संस्कृत के नये समीक्षाशास्त्रियों को करना होगा। कुछ मनीषीगण ऐसा करने भी लगे हैं।

दृक् जैसी पत्रिकाओं द्वारा इस प्रकार की विधाओं के समीक्षण हेतु समीक्षाशास्त्र के नये मापदण्ड शनैः शनैः उद्भावित किये जायेंगे, यह आशा इस अनुभव से बनने लगी है कि पिछले दिनों इस प्रकार के शोधपत्र विभिन्न शोधसंगोष्ठियों में भी प्रस्तुत हुये हैं और पत्रिकाओं में भी प्रदर्शित हुये हैं। शोधसंगोष्ठियों में प्रस्तुत अधिकांशतः शोधपत्र तो नवयुगीन कविता की विषयवस्तु का परिचय देने तथा नवयुगीन पदार्थों के लिये प्रयुक्त नये संस्कृत शब्दों का वर्णन करते हुये पूर्वक्षुण्ण मार्गों से कवि की प्रशस्ति प्रस्तुत करने तक ही सीमित रहते हैं यह हम सब जानते ही हैं किन्तु कुछ शोधपत्रों में नई दृष्टि भी परिलक्षित होती है तथा नवयुगीन काव्यशास्त्रीय निकषों पर उस सर्जन को परीक्षित करने की प्रतिभा भी। इस प्रकार की व्यापक समीक्षा दृष्टि तथा विश्वजनीन परिप्रेक्ष्य में आधुनिक संस्कृत सर्जन की अर्थवत्ता बताने वाली समीक्षाओं की आज कितनी आवश्यकता है यह स्वतः स्पष्ट है। तभी तो विश्व की विशेषकर भारत की आधुनिक भाषाओं की साहित्य निधि के बीच संस्कृत कविता भी प्रतियोगिता में उतर चुकी है इसका एहसास होगा। समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य में सर्वोत्कृष्ट कृति को पुरस्कृत करने वाले अलंकरण (जैसे ज्ञानपीठ

पुरस्कार या बिड़ला सरस्वती पुरस्कार) जो पहले कन्नड़, मलयालम, बांग्ला, मराठी आदि भाषाओं को ही मिलते थे, संस्कृत को भी मिले हैं यह क्या संस्कृत सर्जकों को व्यापक प्रतियोगिताओं के विजेता होने का गौरव प्रदान करने के साथ–साथ और आगे बढ़ने के लिये सत्प्रेरणा नहीं दे रहा? बिड़ला न्यास का सरस्वती पुरस्कार डॉ. गोविन्द चन्द्र पांडे के काव्य संग्रह "भागीरथी" को मिल चुका है(2004)।, ज्ञानपीठ पुरस्कार भी डॉ. सत्यव्रत शास्त्री को मिल चुका है (वर्ष 2005 का वर्ष 2008 में घोषित)। ये कृतियाँ सर्जनात्मक संस्कृत काव्य की हैं और इनमें कुछ रचनाएँ लीक से हटकर लिखी गई भी लगती हैं। इनका व्यापक समीक्षात्मक अनुशीलन आज भी अपेक्षित है।

आधुनिक संस्कृत सर्जन के नये समीक्षक तैयार नहीं हो पा रहे हों सो बात नहीं है। ऊपर सूचित पत्रिकाओं में विशेषतः दृक् में लिख रहे समीक्षकों की अच्छी ज़मात तैयार हो रही है। पूर्वसूचित लक्षणग्रन्थकारों तथा समीक्षकों के अतिरिक्त वरिष्ठ पीढ़ी के समीक्षकों में प्रो. शिवकुमार मिश्र, जगन्नाथ पाठक, श्रीरंजन सूरिदेव, उमेशदत्त भट्ट, हरिदत्त शर्मा, बनवारी लाल पाठक, बनमाली बिश्वाल, मञ्जुलता शर्मा आदि निरन्तर इस क्षेत्र में सक्रिय हैं। अगली पीढ़ी के प्रतिभाशाली समीक्षकों की भी अच्छी संख्या अग्रपंक्ति में आ रही है जिनमें प्रमोद भारतीय, नारायण दाश, प्रवीण पण्ड्या, अर्चना तिवारी, हरेकृष्ण मेहेर, लाला शंकर, अर्चना मंगल, कौशल तिवारी, पूर्णचन्द्र उपाध्याय आदि नाम सुपरिचित हो गये हैं।

डॉ. मञ्जुलता शर्मा के संयोजन में आगरा में आधुनिक संस्कृत साहित्य पर तो राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित हुई (2002 ई.) उसमें प्रस्तुत शोधपत्रों का संकलन "**अर्वाचीन संस्कृत साहित्यः दशा और दिशा**" शीर्षक से ग्रन्थाकार में प्रकाशित हो चुका है। आधुनिक संस्कृत सर्जन का समीक्षात्मक आकलन कर उसके विविध पक्षों पर लिखे उनके कुछ समीक्षात्मक निबन्धों का संग्रह "आधुनिक संस्कृत साहित्य के नये भावबोध" शीर्षक से भी प्रकाशित हुआ है। इसमें संस्कृत साहित्य में प्रतिफलित कथ्य के विभिन्न आयामों पर (कविता, कथा, गद्य आदि विधाओं का परीक्षण कर) समीक्षात्मक दृष्टिपात

किया गया है। समूचे आधुनिक संस्कृत सर्जन का सर्वांगीण परिचय देते हुये उसके विभिन्न आयामों, विशेषताओं आदि का विवेचन कर भाषा की दृष्टि से, छन्दो वैविध्य की दृष्टि से, देश विदेश के साहित्य से प्रतिफलित हो रहे विभिन्न 'वादों' के परिग्रहण की दृष्टि से, आज के परिवेश को, राष्ट्रीय समस्याओं को, युगीन विडम्बनाओं को तथा आज अपेक्षित मूल्यचेतना को आज का सर्जक किस प्रकार संप्रेषित कर रहा है इसके मूल्यांकन की दृष्टि से, साथ ही कथ्य और शिल्प की शैली और सौष्ठव की कौन कौन सी विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं इसके विश्लेषण की दृष्टि से समसामयिक साहित्य पर व्यापक समीक्षात्मक दृष्टि डालने के उद्देश्य से उन्होंने अब यह नया ग्रन्थ "आधुनिक संस्कृत काव्य की परिक्रमा" तैयार किया है जो आजकल लिखी जा रही कविता के कथ्य और शिल्प के समग्र परीक्षण हेतु उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है।

विभिन्न समीक्ष्य विषयवस्तुओं का वर्गीकरण करते हुये आठ अध्यायों में विभाजित इस ग्रन्थ के अनुशीलन से पाठक आसानी से समझ सकेगा कि आज की संस्कृत कविता किन अर्थों में, किन आयामों में, किन बिन्दुओं में हमारे प्राचीन काव्यमार्गों से इतर मार्गों पर चली है, उसकी विशेषताएँ क्या हैं, भाषा में कौन से परिवर्तन आये हैं कौन से परिवर्तन ग्राह्य और काम्य हैं, कौन से त्याज्य हैं, कौन से उपादेय हैं, कौन से हेय हैं आदि। इस प्रकार के समीक्षात्मक साहित्य की जिन अपेक्षाओं का संकेत ऊपर दिया गया है उनमें से अधिकांश की पूर्ति यह ग्रन्थ कर सकेगा इस आशा के साथ मैं इस नये ग्रन्थ के पर्दापण पर इसकी लेखिका डॉ. मञ्जुलता शर्मा को अनेक बधाईयाँ प्रेषित करता हूँ।

देवर्षि कलानाथशास्त्री
(राष्ट्रपति सम्मानित)
अध्यक्षः आधुनिक संस्कृत पीठ, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
प्रधान सम्पादकः 'भारती' संस्कृत मासिक
भूतपूर्व अध्यक्षः राजस्थान संस्कृत अकादमी
निदेशकः भाषाविज्ञान, राजस्थान सरकार
सी/8, पृथ्वीराज रोड, सी–स्कीम, जयपुर (राज.)

विषयानुक्रमणिका



डॉ0 मञ्जुलता शर्मा

जन्म : 13 दिसम्बर, 1959

माता–पिता : श्रीमती कमला देवी
पं0 श्री राधेश्याम शास्त्री

स्थान : आगरा (उ0 प्र0)

शिक्षा : एम. ए. (संस्कृत), पी.एच.डी.
डी. लिट., वास्तुरत्न, वास्तुशास्त्राचार्य

कार्य स्थल : संस्कृत विभागाध्यक्ष, सैण्ट जॉन्स कॉलेज, आगरा

प्रकाशन :

1. पुस्तकें – पुराणों में पुरुषार्थ चतुष्ट्य, अर्वाचीन संस्कृत साहित्यः दशा और दिशा, आधुनिक संस्कृत साहित्य के नये भावबोध, मूको रामगिरिर्भूत्वा (आधुनिक संस्कृतोपन्यासः, भाषा अनुवाद)

2. शोधपत्र

46 शोधपत्र विभिन्न राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित

लगभग 25 समीक्षाएँ विद्वानों द्वारा चर्चित एवं समादृत

10 विशिष्ट व्याख्यान यू0जी0सी0 व्याख्यान शृँखला में।

3. अनेकों संस्कृत एवं हिन्दी कविताओं और कहानियों का प्रकाशन एवं आकाशवाणी से प्रसारण।

4. विदेश भ्रमणः 1. मैक्गिल संस्कृत सम्मेलनम्, मैक्गिल विश्वविद्यालय, (कनाडा)।

2. मेरू फाउण्डेशन, अमेरिका के तत्वाधान में व्याख्यान।

प्रथम अध्याय
साम्प्रतिक संस्कृत काव्य और उसके आधुनिक सन्दर्भ

नयी कविता, वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतस् व्यक्ति की प्रतिक्रिया है। अभिव्यक्ति, प्रेषणीयता और उपलब्धि की दृष्टि से नयी कविता ने नवीन भावभूमि पर स्वयं को प्रतिष्ठित किया है। उसका स्वर विविधता लिये हुए है। आधुनिक कविता ने परम्परा से विद्रोह के रूप में प्रयोग तथा अन्वेषण का मार्ग स्वीकार किया है। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों को मापने की पूर्ण क्षमता है। यद्यपि प्रयोगशील कवि के मन में अपने मार्ग को लेकर संशय की स्थिति बनी हुई है परन्तु मर्यादा और मूल्यों से संघर्ष के बीच जूझ कर वह लिख रहा है। उसके काव्य में शास्त्रीय लक्षणों का पूर्णरूपेण प्रयोग भले ही न किया गया हो परन्तु उसके चमत्कारजन्य प्रयोगों को देखकर, उसकी अनूठी उपमाएँ सुनकर काव्य में प्रगतिशीलता की गन्ध अनुभव की जा सकती है।

साम्प्रतिक संस्कृत काव्य और उसके आधुनिक सन्दर्भ

'आधुनिकता' यह शब्द 'अधुना' शब्द से निष्पन्न है। इसी शब्द से आधुनिक, आधुनिकतावाद, आधुनिकीकरण आदि शब्दों की व्युत्पत्ति मानी जा सकती है।

वर्तमान समय में 'अधुना' शब्द का प्रयोग साम्प्रतम, अद्यतन, अर्वाचीन आदि शब्दों के लिए किया जाता है। अंग्रेजी में 'आधुनिक' इस अभिप्राय की व्यञ्जना के लिए 'Modern' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी शब्द से 'Modernity', Modernism, Modernization' आदि शब्द उत्पन्न हुए हैं। हम Modern शब्द को 'आधुनिक' के अर्थ में स्वीकार कर सकते हैं।

साम्प्रतम्, अर्वाचीन एवं आधुनिक

यान्त्रिकीकरण, नगरीकरण, विश्वयुद्ध की विभीषिका, अणुबम द्वारा नरसंहार आदि कारणों से मनुष्य के समक्ष यह प्रश्न उठा कि यह सब ईश्वर ही करता है, अथवा करवाता है? क्या निर्दोषों के प्रति वह इतना निष्ठुर हो सकता है इन प्रश्नों का समाधान जब मानव मस्तिष्क

नहीं कर सका तब उसी वैचारिक संघर्ष से आधुनिक काव्य का जन्म हुआ। इरविंग होवे (Irving Howe) के अनुसार – Where the contemporary refers to time, the modern refers to sensibility and style and whereas the contemporary is a term of natural reference, the modern is a term of critical treatment and judgement[1].

साहित्य में आधुनिकता का प्रारम्भ

डी0 एच0 लॉरेन्स, रिचर्ड एलमान, सिरिलकोनोली, फ्राङ्ककरमोड आदि पाश्चात्य विद्वान आधुनिक साहित्य को लगभग 1907 से 1925 संवत्सर के मध्य का स्वीकार करते हैं। अतः श्रीरामजी उपाध्याय का समस्त साहित्य आधुनिक संस्कृत साहित्य कहा जा सकता है।[2] आधुनिक साहित्य के विषय में विश्वनाथ भट्टाचार्य महोदय का मत है कि हमें संस्कृत के इस वैशिष्ट्य को अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिए कि संस्कृतज्ञों का आज भी समाज में विशिष्ट स्थान है। उनके द्वारा समाज की समस्त समस्याओं एवं अनुत्तरित प्रश्नों पर लेखन कार्य किया जा रहा है अतः तात्कालिक एवं सामाजिक प्रभाव से लिखा गया संस्कृत साहित्य आधुनिक साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है[3]। डॉ0 अभिराज राजेन्द्र मिश्र 1784 के बाद में लिखे गये साहित्य को अर्वाचीन मानते हैं इन्होंने इस काल के तीन विभाग किये गये हैं[4] –

1– पुनर्जागरण काल (1784–1884)
2– स्थापना काल (1884–1950)
3– समृद्धि काल (1950– से आज तक)

1. Howe Irving 'Literary Modernism Fawcett World Liberary. New york 1967.
2. रा. रामजी उपाध्याय, ''आधुनिक संस्कृत साहित्यानुशीलम्'' पृष्ठ 63–64
3. भट्टाचार्य डॉ0 विश्वनाथ '' आधुनिकसंस्कृतसाहित्यानुशीलम्'' पृष्ठ 98
4. मिश्र डॉ0 राजेन्द्र 'प्राग्वाचिकम्' देववाणी सुवासः प्रथम खण्ड

श्री चन्द्रकिशोर गोस्वामी आधुनिक संस्कृत काव्य को दो भागों में विभाजित करते हैं–

(1) स्वतन्त्रता पूर्व साहित्य
(2) स्वातन्त्रयोत्तर साहित्य

निश्चित रूप से ऐसे विभाजनों को राजनीतिक परिवर्तनों की देन कहा जा सकता है।

परन्तु अर्वाचीन संस्कृत का एक और विभाजन डॉ0 जगन्नाथ पाठक द्वारा सम्पादित आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास इस खण्ड में मिलता है। यह विभाजन कालक्रम अथवा साहित्यिक प्रवृत्ति पर आधारित न होकर व्यक्ति विशेष पर आश्रित है। इसमें संस्कृत साहित्य के आधुनिक काल को मुख्यतः तीन युगों में विभाजित किया गया है :–

(1) अप्पाशास्त्रीराशिवडेकर (1873–1913) युग में शास्त्री जी ने अपनी अनवरत साहित्य साधना से साहित्य को प्रशस्तिगान वाली प्रवृत्ति से मुक्ति दिलाई। उन्होंने राष्ट्रीय चेतना के साथ–साथ प्रसाद गुण गुम्फिता भाषा को स्थान दिलाकर पाण्डित्य प्रदर्शन की मानसिकता को दूर करने का प्रयास किया। डॉ0 कलानाथ शास्त्रीजी ने सम्भवतः उनकी मृत्यु के बाद उनके प्रभाव को स्वीकार करते हुये राशिवडेकर युग को 1890 से 1930 के बीच स्वीकार किया है।

(2) भट्ट युग पं0 भट्ट मथुरानाथ शास्त्री जी के नाम से प्रवर्तित है। इसे 1930 से 1960 के मध्य माना जा सकता है। परन्तु कलानाथ शास्त्री जी ने 1889 से 1960 के मध्य के गद्यलेखन के प्रभाव को भट्ट मथुरानाथजी का प्रभाव स्वीकार किया है। इस काल में अनेकों पत्र–पत्रिकाओं को नवजीवन दिया गया तथा संस्कृत भाषा जो कि पाश्चात्य प्रभाव से शिथिल पड़ने लगी थी उसमें शास्त्री जी ने एक नई ऊर्जा का संचार किया।

(3) डॉ0 वेंकटराघवन युग (1960–1980) तक का युग कहा जाता है। इसमें डॉ0 राघवन ने अखिल भारतीय स्तर के साहित्य को एक स्थान से प्रकाशित करने की योजना पर बल दिया और आधुनिक संस्कृत साहित्य को समकालिक भारतीय भाषाओं के साहित्य के समकक्ष स्थापित करने में विशिष्ट योगदान दिया। डॉ0 राघवन ने आलोचनात्मक लेखन के साथ–साथ अनेक नाटकों का भी लेखन करते हुये उन्हें रंगमंच पर अभिनीत किया। परन्तु यहाँ वैयक्तिक विभाजन के प्रसंग में व्यक्ति विशेष के प्रति अनुराग की प्रबलता दिखाई देती है। क्योंकि उस काल विशेष में यद्यपि अन्य विद्वानों का सहयोग, सृजन और रचनाधर्मिता भी उल्लेखनीय रही परन्तु विभाजनकर्ता पर किसी विशिष्ट का अतिप्रभाव होने के कारण उसे युग का सिरमौर मानते हुये युग को नामांकित कर दिया। यदि इस तथ्य को स्वीकार किया जाये तो 1980 के बाद वाले युग का नामकरण भी किया जाना अपेक्षित है। इस काल विशेष में अभिराज राजेन्द्र मिश्र, प्रो0 राधावल्लभ त्रिपाठी आदि की रचनाधर्मिता से हमारा अर्वाचीन संस्कृत साहित्य समृद्ध हो रहा है, अनेकों विधाएँ विकसित हो रही हैं। आधुनिक संस्कृत के नये प्रतिमानों से पाठक रूबरू हुये हैं। अतः जैसा कि हर्षदेव माधव के एक पत्र में कहा गया है कि यदि वर्तमान संस्कृत साहित्य को विशेष व्यक्ति के नाम से अभिहित करने की बात कही जाये तो 1980 के बाद का युग अभिराज युग कहा जा सकता है।

परन्तु विभिन्न प्रकार के विभाजनों का यदि तात्विक दृष्टि से विचार किया जाये तो प्रवृत्ति के अनुसार किया गया विभाजन अधिक मान्य होना चाहिये। जिससे साहित्य को व्यक्तिगत रुझान और क्षेत्रवाद से दूर कर विशुद्ध रूप में स्थापित किया जा सके।

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् व्यक्ति के जीवन में अनेक परिवर्तन हुए। इसका प्रभाव साहित्य के विषय, लेखन एवं शैली पर भी दिखाई दिया। नये कवियों ने इन परिस्थितियों को भोगा तथा विषयानुकूल उसे अभिव्यक्ति प्रदान की है। क्योंकि

परतन्त्र भारत के बाद की परिस्थितियाँ नितान्त भिन्न थीं अतः काव्य को भिन्न युगीन परिस्थितियों की देन कही जा सकता है। नया विषय एवं शैली दोनों ही क्षेत्र में संक्रान्ति उपस्थिति कर रही हैं। अब धीरे–धीरे पुराने मूल्यों के स्थान पर नवीन जीवन मूल्य उपस्थित होते जा रहे हैं। अतः काव्य शिल्प तथा विषय के नियामक तत्वों में भी युगीन प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि हमारे कदम अत्यन्त दृढ़ता से साहित्य समृद्धि के अनेक सोपान तय करने में लगे हैं। हम बहुत तीव्रता से भले ही न चल पा रहे हों परन्तु पिछड़ भी नहीं रहे हैं यह आधुनिक संस्कृत साहित्य के लिए गौरवशाली परम्परा का निर्वहन है।

आधुनिक जीवन में काव्य सृष्टि के लिए अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं। यदि आज कवि पौराणिक कथानकों का आश्रय न लें, कल्पना के वैचित्र्य का समावेश भी न करें तब भी आम आदमी से जुड़े अनेकों विषय उसे काव्य सृजन का सूत्र दे सकते हैं वस्तुतः काव्य की नवीनता, आधार ही समय की गति की निरूपता है। अर्वाचीन कवि के लिए प्राचीन कवियों से भी बड़ा विश्व या ब्रह्मांड है। मम्मट ने काव्य सृजन के लिए '**लोकशास्त्राद्यवेक्षणात्**' कहकर अर्वाचीन कवि के लिये मानों एक विशाल फलक की ओर इशारा किया है। यही हमारे साहित्य की आधुनिकता है। यह जगत अपनी परिवर्तनशीलता से नये–नये रूपों में निरूपित किया जाता रहा है। आधुनिक जीवन की अनन्त सम्भावनाएँ कविता के बन्द द्वार खोलती है और यहीं से काव्य यात्रा की अर्वाचीनता का युग शुरु हो जाता है। वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता का प्रारम्भ लगभग सर्वसम्मति से स्वातन्त्र्योत्तर काल को ही कहा जा सकता है। वही इसका समृद्धिकाल है और वही इसका प्रारम्भ।

वस्तुतः आधुनिकता के सम्बन्ध में काल विशेष के निर्णायक तत्त्व के रूप में कभी तो विषय एकरूपता की बात आती तो कभी हमारे परिवेश की। विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने विचारों के अनुसार आधुनिकता की व्याख्या अलग–अलग लक्षणों द्वारा की है।

आधुनिकता के लक्षण

आधुनिकता क्या है? किन लक्षणों से युक्त काव्य को आधुनिक कहा जाए? इन प्रश्नों पर विद्वानों में एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान साहित्य की विशेषताओं को ही उसका लक्षण मानते हैं और कुछ काव्य सृजन के मानकों को विशेषताओं से अलग रखते हैं। तथ्य कोई भी हो परन्तु यह निर्विवाद स्वीकार्य है कि आधुनिक काव्य आधुनिक परिवेश की यान्त्रिक, भावनात्मक एवं सामाजिक व्यवस्था पर दृष्टि केन्द्रित करके ही लिखा जाता है। चाहे बदलते हुए मूल्यों पर लिखे गए काव्य को इसका लक्षण माना जाये अथवा काव्य में वर्णित परिवर्तित मानदण्ड हों, प्रभावित काव्य ही होता है अतः आज आचार्य मम्मट आनन्दवर्द्धनाचार्य, आचार्य विश्वनाथ जैसे सीमित काव्य लक्षण को परिभाषित भले ही न किया गया हो परन्तु काव्य के लेखन दायित्व का कवि को ज्ञान अवश्य है। उसके पास प्राचीन काव्यशास्त्र जैसी आधुनिक परिभाषाएँ भले ही मौजूद न हों परन्तु कविता के नवीन प्रतिमानों के विषय में वह जागरुक होने का प्रमाण अवश्य दे सकता है।

प्रयोगवादी कवियों का अभिमत है कि समाज में परिवर्तन के साथ ही साहित्य की मान्यताओं में भी परिवर्तन होता है, नवीन सामाजिक परिस्थिति और चेतना के सन्दर्भ में पलने वाला व्यक्ति जिस प्रकार जीवन स्पन्दनों को हृदयंगम करता है उसे मूर्त रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए भाषा में नयी अभिव्यक्ति क्षमता का संचार करना पड़ता है यही क्षमता उसे आधुनिकता से जोड़ती है और आधुनिकता का बोध नगरबोध से जुड़ा है इसमें कभी निरन्तरता है और कभी व्यवधान, कहीं परम्परा है कहीं उसका उल्लंघन। वास्तव में इसकी प्रक्रिया में प्रश्नचिह्न की निरन्तरता है जो इसके अंदाज और विषयवस्तु दोंनों को बदलती रहती है।

श्रीमती निर्मला उपाध्याय ने आधुनिकता के लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट किये हैं[2] –

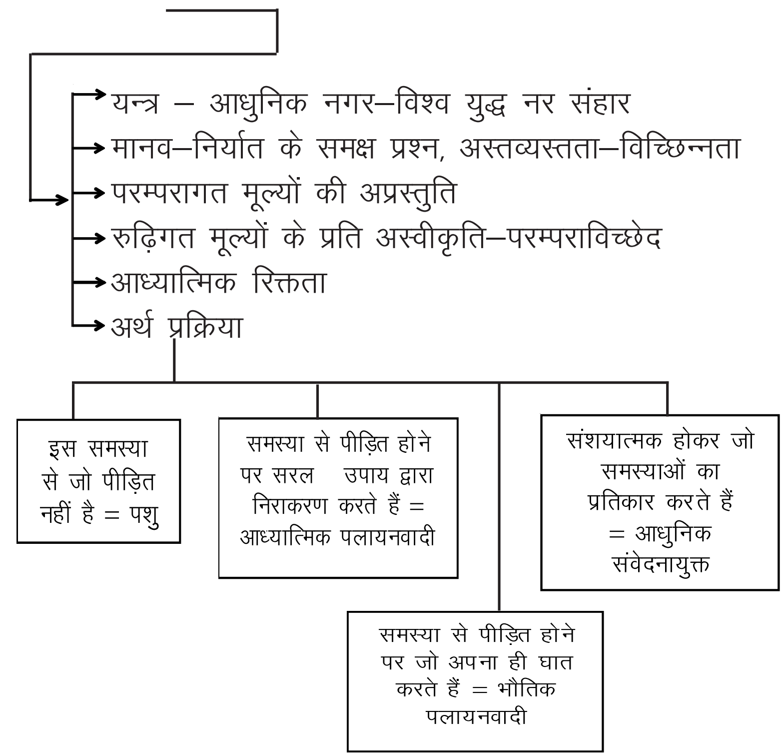
1. गोस्वामी डॉ0 चन्द्रकिशोर ''आधुनिक संस्कृत काव्य में युगबोध' पृष्ठ 29
2. उपाध्याय निर्मला 'स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृतसाहित्य' आधुनिक संस्कृत साहित्यशीलम् पृष्ठ 57–64

(1) शृंगारित भावना का ह्रास
(2) राष्ट्रीय भावना की प्रबलता
(3) समग्र देश की एकता का संदेश
(4) समकालीन घटना प्रसंगों, वृतान्त निरूपण के प्रति जागरुकता आदि

परन्तु ये लक्षण अर्वाचीन साहित्य की विशेषता को इंगित करते हैं परन्तु आधुनिक साहित्य के लक्षणों का स्पर्श नहीं करते।

डॉ0 अजीत ठाकोर ने आधुनिक काव्य के लक्षणों को सूक्ष्मता से निरूपित किया है[1] निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

आधुनिकता



1. ठाकोर डॉ0 अजितः, काव्यार्थ पृष्ठ 57–59

वस्तुतः संक्षेप में आधुनिकता का लक्षण है कि कृतिकार भावक को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ भी लिखता है उसमें उसका विलक्षण जीवन दर्शन परिलक्षित होता है। वह योग से भोग की ओर केन्द्रीभूत हैं।

कुत्सित, क्षोभकारक, दुर्ग्राह्य वस्तुओं की निर्भीक अभिव्यक्ति उसके लेखन में व्यक्त होती है। वह जन्तु सदृश दृष्ट मनुष्य की निराशा का भी अपने साहित्य में मार्मिकता से चि्त्रण करता है[1] ।

चन्द्रकान्त टोपीवाला[2] ने आधुनिक काव्य के लक्षणों को निम्न शीर्षकों में समाहित किया है—

(1) निषेधात्मक वृत्ति

(2) परम्पराओं का उन्मूलन

(3) साहित्य स्वरूप का प्रत्याभिनिवेश

(4) प्रयोगधर्मिता

(5) कृतकता, नवीनता, संयुक्त वेदना, हताशा, विच्छेद, स्वीकार, विघटन इत्यादि भावों की रचना

(6) प्राचीन ध्वंस अवशेषों का त्याग—नूतन चेतना

(7) केन्द्रोत्सर्गिता, निर्भयता, मनुष्य की निर्बलता की स्वीकृति

(8) नवीन विषयों में सर्जक की चेतना

डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी आधुनिक संस्कृत काव्य शिल्प निर्माण के लिए निम्नलिखित तत्वों को प्रेरक तत्व स्वीकार करते हैं —

(1) राजनैतिक पार्श्वभूमि	(5) सामाजिक चेतना
(2) राष्ट्रवादी काव्यप्रवाह	(6)विडम्बनशैली—व्यंग्यप्रधान अभिव्यक्ति
(3) गाँधीवादी प्रभाव	(7) नवचेतना
(4) राष्ट्रभाव की निरंतरता	(8) विषयों की नवीनता
(9) समकालिकता	(10) नवविधा

(11) प्राचीन विधाओं में वस्तु विन्यास की नवीनता

1. ठाकोर डॉ0 अजितः, काव्यार्थ पृष्ठ 58—60
2. टोपीवाला चन्द्रकान्त 'प्रतिभापानुंकवच' द्वितीय प्रकरण

(12) परम्परा और आधुनिकता का समन्वय

(13) यथार्थबोध

(14) व्यक्तिवाद का उदय

(15) परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द[1]

(16) नवार्थ सन्धान[2]

इस प्रकार पाश्चात्य साहित्य जैसी आधुनिकता तो संस्कृत साहित्य में कुछ अपवादों को छोड़कर दिखाई नहीं देती परन्तु आधुनिकता के कुछ लक्षण अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

विषयनावीन्य

परिवर्तनशील इस संसार में विज्ञान की प्रगतिशील उपलब्धियों के फलस्वरूप जीवन की समृद्धि में भी अत्यन्त द्रुतगति से परिवर्तन हुआ है। मनुष्य का जीवन स्तर, उसका परिवेश अपने नवीन रूप में प्रस्तुत है। अतः काव्यदृष्टि के लिये आज कोई भी विषय अस्पृश्य नहीं रहा है। मथुरानाथ शास्त्री महोदय ने '**साहित्यवैभवम्**' कृति में 'नवयुगवीथी' का निर्माण किया है जहाँ ट्राम, मोटरकार, रेल, जलपोत, विद्युत, छायाचित्र, सिनेमा, विज्ञान आदि विषयों को लक्ष्य करके अनेकों पद्य लिखे हैं।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने '**विमानयात्राशतकम्**' लिखा। राधावल्लभ त्रिपाठी ने '**धरित्रीदर्शनलहरी**' में विमान से देखे हुए पृथ्वी के रम्य दृश्यों का वर्णन किया है इसके अतिरिक्त उन्होंने 'वातानुकूलितयाने' काव्य में उपनी बिम्ब युक्त मार्मिक दृष्टि प्रस्तुत की है।

इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि आज के कवि के पास विषयों का अभाव नहीं है उसके लिये धरती का विशाल फलक सामने है जहाँ पर उसकी दृष्टि जाती है वही वह अपनी कल्पना और भावों के चित्र उकेर सकता है। अब केवल राजाओं और आश्रयदाताओं के लिये ही अपनी वाणी से नहीं जूझना पड़ता अपितु इस काव्य संसार के प्रजापति कवि के पास उसके स्वतन्त्र विचारों का भण्डार है।

1. डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी 'संस्कृत साहित्य बीसवीं शताब्दी' पृष्ठ 9—75
2. अर्वाचीन संस्कृतम् अंङ्क 23 पृष्ठ 26

अतः काव्य में नवीनता आना स्वाभाविक है। आधुनिक काव्य की शृंखला अणुयुग की चर्चा के बिना अधूरी है। डॉ0 रेवाप्रसाद द्विवेदी ने 'प्रमथ' नामक अपने काव्य संग्रह में अणुयुग की विभीषिका को प्रस्तुत किया है।

चित्र काव्य की परम्परा आधुनिकता की द्योतक है। अनेक कवि चित्रों के साथ काव्य लिखकर उसमें नवीनता के साथ–साथ रोचकता उत्पन्न कर रहं हैं। डॉ0 कवेठकर ने **'मोनालिसा'** में चित्रयुक्त काव्य का प्रयोग किया है। डॉ0 सत्यव्रत शास्त्री ने '**थाईदेशाविलास**' और हर्षदेव माधव ने '**भावस्थिराणि सौहृदानि**' जैसे काव्यों में अनेकों शब्द चित्रों एवं भावचित्रों को संजोया है। इन मधुर चित्रों के प्रयोग से काव्य की चेतना सजीव हो उठी है। आधुनिक संस्कृत काव्य की धारा सातत्य और सहज रूप में अनवरत प्रवाहित होती रही है। पुरातन काव्य पौराणिक आख्यानों एवं पुरातन कथाओं का आश्रय लेकर लिखे जाते रहे। कवि उनका भावांश एवं वृत्तांश लेकर तथा अपनी मौलिक कल्पना से यथेष्ट परिवर्तन करके खण्डकाव्य के रूप में प्रायः अपनी रचनाशीलता को पुष्ट करते रहे। आधुनिक कवियों के दो वर्ग दिखाई देते हैं प्रथम वर्ग में वे कवि हैं जो आज भी पुराने वृत्त को नये रूप में तराशकर प्रस्तुत कर रहे है। और दूसरे वर्ग में वे कवि आते हैं जो समाज के मूल्यों, समस्याओं और घटनाओं से रूबरू होते हैं। नये भाव को नये कलेवर के साथ प्रस्तुत करने का साहस रखते हैं। उनके विषय में तो नवीनता होती ही है कलापक्ष की नवीनता भी पाठक को चमत्कृत करती है।

आचार्य श्री निवास रथ संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति के सारस्वत साधक कहे जाते हैं। उनकी कविताओं में विषयों का नावीन्य और रहस्यात्मक अनुभूति निहित है।

जीवनगतिरनुदिनमपरा
तदेवगगनं सैव धरा
जनताकृतिः शान्तिसुखहीना

संस्कृतिदशाऽतिमलिना दीना
केवलनिजहितसाधनलीना
राजनीतिरचना स्वाधीना
न तुलसीदलं न गङ्गाजलं
स्वदते यथा सुरा

(विंशशताब्दी.....–371)

श्रीनिवास रथ विज्ञान के विकास से प्रसन्न तो हैं परन्तु उन्हें चिन्ता इस बात की है कि विज्ञान का यह उत्तरोत्तर विकास व्यक्ति के ज्ञान, संस्कार और चरित्र को कहीं धूमिल न कर दे। शस्त्रों की बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा से विश्वसंहार का इतिहास न रच जाये –

विज्ञाननौका समानीयते
ज्ञानगङ्गा विलुप्तेति नालोक्यते
तारकायुद्धसम्भावनाऽधीयते
गोपनीयायुधानां कथा श्रूयते
विश्वशान्तिप्रयत्नेषु सन्दृश्यन्ते
विश्वसंहारिनीतिर्यथोपास्यते
भूतले जीवरक्षा परिक्षीयते
जीवनाशाऽन्तरिक्षेऽनुसन्धीयते।

(विंशशताब्दी.....–374)

संस्कृत के रचनाकारों की जो दृष्टि प्रारम्भ में वाणी को चमत्कारपूर्ण करने अलंकृत करने में लगी रही थी, वही कालान्तर में राष्ट्रचेतना से जुड़ गई। राष्ट्रबोध की अनेक कविताएँ लिखीं गईं। भारतमाता के श्रीचरणों में स्वयं को न्यौछावर कर देने जैसी भावना ने साहित्य में एक ओज का समावेश कर दिया। परन्तु धीरे–धीरे युग ने करवट ली फिर सामाजिक मूल्यों और रुढ़ियों ने कवि चिन्तन को झकझोर दिया, तूलिका की दिशा बदली और कविता गाँधीवादी प्रभाव से शिथिल होकर व्यंग्य प्रधान विडम्बन शैली में लिखी जाने लगी।

डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी ने धर्माचायों पर सटीक व्यंग्य किये हैं, धर्म का पाखण्ड करने वाले, शिष्यों को उपदेश देने वाले जब ये तथाकथित महात्मा नवयौवन सम्पन्न बालाओं पर कुदृष्टि डालते हैं तब कितने घृणित प्रतीत होते हैं–

तस्याः पीन स्तनौ दृष्ट्वा शिरः कम्पयते स्म सः।
तयोरन्तरसंलग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव।
सभायां च समाप्तायां स्थले निर्मक्षिकेऽथ सः
प्राह शिष्यमहो शान्तं पापं दौस्थ्यं न सह्यते।

(सन्धानम् पृष्ठ–56)

स्वातन्त्र्योत्तर काल में कवियों का परम्परामोह भंग हुआ है। राष्ट्र के नवनिर्माण के लिये उनकी चेतना स्पन्दित हुई है। फलतः तथ्य और कथ्य दोनों ही विषय की नवीनता को समेटे हुये हैं। जीवन की परिभाषा को रवीन्द्र कुमार पण्डा इस प्रकार परिभाषित करते हैं।

कस्य कृते जीवनं क्रीडनम्
कस्य कृतेऽभिशापः।
समयस्रोतसि कर्गजपत्रमिव
दोलायते इतस्ततो जीवस्य जीवनम्।

(नीरवझर पृष्ठ–7)

अतः केवल जीवन ही नहीं अपितु वर्तमान विसंगतियों ने देश के प्रत्येक भावबोध को नये शब्द दिये हैं भौतिकता की चीत्कार से कवि का मन इतन आहत है कि उसे ऐसा प्रतीत होने लगा है कि अब उसकी बात सुनने वाला कोई नहीं है। केशवचन्द्र दाश की 'ईशा' इस बात का प्रमाण है –

निधिभवनस्य/अलिन्दे यदा/श्रूयते भौतिकतास्वरः
विक्षिप्तदीनतासु चीत्करोति/शैलकल्पक्षुधा
कमहं श्रावयामि/प्रसूतिकाव्यथां मम?
सन्धिसन्धानयोर्मध्ये/दोलायते स्थितिमम।

(ईशा, पृष्ठ–4)

इस प्रकार घूमते हुए दर्पण के समान कवि की दृष्टि आज अनेकों विषयों का सूक्ष्म निरीक्षण करती है। जिसमें वर्तमान जीवन की संवेदनशून्यता, कृत्रिमता, अस्तव्यस्तता, वर्ग एवं जातिभेद, सांस्कृतिक मूल्यों का पतन, पाश्चात्य सभ्यता का अनुसरण, विकृत राजनीति, धर्म में राजनीति का हस्ताक्षेप और शिक्षण संस्थाओं की दुर्दशा शामिल है। 'आर्यासहस्रारामम्' में जगन्नाथ पाठक विद्याभवन के द्वयर्थक प्रयोग से चमत्कृत करते हैं और शिक्षा की स्थिति पर प्रश्न चिह्न लगा देते हैं–

विद्याभवनस्तम्भा जगति धराशायिनोऽत्र दृश्यन्ते
विद्याभवनं तदपि स्थिरमस्तीत्येतदाश्चर्यम्

(78 आर्या)

राजनीति और धर्म का वितण्डावाद हर्षदेव को पीड़ित करता है–

अधुना/अयोध्यायां मनुष्या न वसन्ति/
वसन्त्यत्र विषाद खण्डाः/महालयेषु अश्रुदीपाः
प्रज्ज्वलन्ति/भित्तिषु व्यथाः श्वसन्ति।

(निष्क्रान्तसर्वे, पृष्ठ–70)

इसी प्रकार समाज के गिरते मूल्य कवि को विभीषण की याद भी सकारात्मक सोच के रूप में दिलाते हैं। वह आज के सामाजिक पतन से इतने दुःखी हैं कि उसे रावणराज्य से भी अधिक बद्तर मानते हैं क्योंकि रावणराज्य में सीता का अपहरण एक बार ही हुआ था आज न जाने कितनी मासूम बालाएँ नित्य बलात्कार की शिकार होतीं हैं। उस समय समृद्धि थी परन्तु आतंकवाद नहीं था, रावण जन्मभूमि विवाद भी नहीं था और सबसे बड़ी बात यह थी कि लंका में एक विभीषण भी था अर्थात कोई एक व्यक्ति तो था जो दुर्नीति का विरोधी था परन्तु आज तो समस्त समाज पर अनीति का आवरण पड़ा है। इस प्रकार वर्तमान साहित्य परिपाटी से हटकर लिखा जा रहा है।

बनमाली बिश्वाल की रचना '**व्यथा**' में अग्नि का जनहितकारी और प्रलयंकारी उभयरूप को दर्शाया गया है। अग्नि में सृष्टि की स्थिति और प्रलय दोनों ही नजर आते हैं। उस अग्नि में ज़ठराग्नि है, विकराल हलाहल है, दुर्वासा का शाप, युवाओं की उद्यम शक्ति, परमाणु अस्त्र का विध्वंस, गांधारी के पटावृत नेत्र, महादेव के द्वारा सृष्टि का विनाश और द्रौपदी प्रतिज्ञा की कल्पना की गई है –

अहमस्मि जठरस्य क्षुधा,
अहमस्मि आग्नेयास्त्रस्याग्निमयी वर्षा।
अहमपि विषध्वंसी,
अहमस्मि विकराल–हलाहलविषः
अहमस्मि क्रोधःदुर्वाससः
अहम कदा लुक्कायितः/..
बद्धश्चाहं गान्धारीनेत्रयोः/द्रौपद्याश्च आग्नेयसंकल्पे/भस्मीकर्तुं शक्नोमि मदनं/विस्फारिते महादेवस्य तृतीयनेत्रे **(व्यथा पृष्ठ–1)**

इस प्रकार आधुनिक काव्य में नवीन उपमान और उपमेय के प्रयोग के साथ विषयवस्तु के प्रस्तुतिकरण और अनुभूति में एक चमत्कारिक परिवर्तन आया है। हर्षदेव माधव प्रथम वर्षा की अनुभूति में पञ्चमहाभूतों की स्वान्तः तृप्ति का अनुभव करते हैं–

शनैः शनैः वर्षाबिन्दवः पतन्ति/मम मृत्तिका/शनैः शनैः क्लिन्ना भवति/मम रिक्ततायां/जलं प्रविशति/मम तमसि/विद्युन् नीडं रचयति/मम पिहितहृदयद्वारे/वात्याससारस्य/चरणशब्दः श्रूयते, तदा/वातायनवत् किञ्चिदुद्घाट्यते/मय्यपि/एकं प्रभ्रष्टं व्योम/मया प्राप्तमधुना।

(निष्क्रान्तसर्वे, पृष्ठ–108)

आधुनिक कवियों ने उन विषयों को अपनी लेखनी का विषय बनाया है जो अब तक अनपेक्षित रहे। तुच्छ से तुच्छ विषय पर लिखने वाले बनमाली बिश्वाल **'घासपुष्पम्'** में अपने मन की व्यथा कह जाते हैं–

दलितं प्रपीडितं, निष्पेषितम्
अहं घासपुष्पम्।
घासे मम जन्म, स्थितिः/घासे हि विलयः।
पुष्पेष्वहं न परिगणितम्/जीवाम्यहं परं बह्वाशाभिः।

(व्यथा पृष्ठ–2)

'वेलेन्टाइन डे' जैसे आधुनिक विषय एवं प्रसंग पर कवि ने अपनी एक सम्पूर्ण रचना प्रस्तुत की है जिसमें कम्प्यूटर एवं ईमेल के माध्यम से प्रिया के पास सन्देश भेजने की मनोकामना है।

अपने युग की समस्त विसंगतियों में नये क्षितिज की ओर उड़ान भरने वाले हमारे आधुनिक कवियों की रचनाओं में आधुनिक बोध ध्वनित होता है। राधावल्लभ त्रिपाठी की रोटिकालहरी, लहरी काव्यों की परम्परा को एक नया दृष्टिकोण देने में समर्थ है। चूल्हे में फूलती रोटी से बुभुक्षा कैसे जाग्रत होती है और भूखे बालक के नेत्र भी मानो उस रोटी के विस्तार के साथ–साथ उन्मीलित होते हैं।

किलन्नगोधूमचूर्णस्य पिण्डैः समं
वेल्लिता चक्रपट्टे च विस्तारिता ।
ऊष्मणा योजिता वाष्पपूरान्विता
वाष्पपूरं हरन्ती शिशोर्नेत्रजम्।

(रोटिकालहरी)

केशवचन्द्र दाश शिशिर में भीगी घास पर चलते कुत्ते में भी सौन्दर्य की अनुभूति करते हैं। डॉ0 रेवाप्रसाद द्विवेदी का प्रमथः नामक काव्य संग्रह अणुयुग के प्रति सचेत करता है।

डॉ0 हर्षदेव माधव संकेतरहित नगरे, दीप पञ्चाशिका, भूतप्रेतशतकम्, कालोऽस्मि, उपनेत्रम्, वीणा, रुधिर, सिकता, नागोनगोरो—टाजानियावनम्, महाबलिपुरम, आतंकवाद, वन्ध्याकरणम्, एकाकिनः शून्यावकाशम् शब्दानां निर्मक्षिकेषु ध्वंसावशेषु, प्रतिच्छाया, कन्याकुमारी, लॉसएञ्जलिस, बोपुटो डोल्फीनमीन, हत्या व्हेलव्यापादनम् ओलम्पिक समारोहः इत्यादि तीन सौ से भी अधिक विषयों पर अपनी अभिव्यक्ति दे चुके हैं। उनकी यही वैश्विक चेतना उन्हें संस्कृत की युगानुरूपता का साधक मानती है।

वर्तमान समय में इन्टरनेट और कम्प्यूटर ने विश्व को बहुत समीप कर दिया है। आज हम किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय घटना से शीघ्र ही अवगत हो जाते हैं और उससे प्रभावित होकर साहित्य सृजन करने लगते हैं। विश्व के विशाल फलक पर संस्कृत के कवि की दृष्टि भी केन्द्रित है। वह युग के अनुसार अपनी काव्य रचना करने में समर्थ है। उसमें अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को जानने, समझने और काव्य में उतारने की शक्ति है।

चीन पाकिस्तान के मध्य संघर्ष, मुशर्रफ की असफल शान्तिवार्ता, अन्तरिक्षयात्रा, विमान अपहरण, अपोलोयानगमन, अमेरिका और ईराक का युद्ध, नेल्सन मण्डेला की कारागार से मुक्ति, मुम्बई में बॉम्ब विस्फोट, नेताओं की हत्या, धर्माधिकारियों का पतन, राजनेताओं की दोहरी नीति इन समस्त विषयों पर संस्कृत में लिखा जा चुका है। इससे यह सिद्ध होता है कि संस्कृत में आधुनिक युग की चेतना का प्रवेश हो चुका है।

डॉ0 रमाकान्त, डॉ0 राजेन्द्र मिश्र, हरिदत्त शर्मा, राधावल्लभ त्रिपाठी आदि ने अपनी विदेश यात्रा को अधिकृत करके रचनाएँ लिखीं हैं। उनका यह प्रयास संस्कृत को अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में स्थापित करता है।

प्राचीन कवियों ने राधा—कृष्ण, पार्वती परमेश्वर गोपीकृष्ण आदि देवी देवताओं के प्रणय को घोर शृंगार रस में सिक्त करके लिखा। कहीं—कहीं पर यह शृंगार अश्लील भी हो गया। परन्तु आज का कवि इसका इस प्रकार निरूपण करता है —

ऊषरमृत्तिकासमा
मम मनसः स्थितिरस्ति
इत्सिंग पर्यटकविषममार्गसमोऽस्ति दिवसः
ध्रुवप्रदेशहिमखण्डे गृहीता रात्रिः
'काराकोरम' इत्याख्ये घाटप्रदेशे चलतीव समयः
हिन्दुकुशपर्वतशिखरात् पारं गच्छन्ती
प्रतीक्षा,
एकः श्वासोऽपि
फुफ्फुसात् लावारसमुपस्पृश्य बहिरागच्छति
चम्बलप्रदेशकन्दराऽऽश्रिता
अपराधभावयुक्ता इव वासनाः
आतङ्कं नीत्वा प्रसरन्ति मनसि
ईरानदेशस्य ज्वालाग्रस्ततैलक्षेत्रमिव
मयि किं प्रज्वलति?
जग्वारविमानानां व्यस्तपरिवर्तनच्छायाः
मम रुधिरभिसरणतन्त्रे
मिश्रिताः सन्ति
अलकनन्दे
इन्सेट बी उपग्रहोऽपि
मम प्रणयावेगस्य छविं ग्रहीतुं
न शक्नुयात्[1]

1. निष्क्रान्ताःसर्वे पृष्ठ 115

यथा अन्यत्र भी –

बुद्धस्य भिक्षापात्रे
निमज्जितमस्ति
अणुबॉम्बदग्धं नगरम्[1]
– – –
वेदना
जेरुसलेमचर्चवेदिका गृहे
रुधिराप्लुता श्वसिति[2]
– – –

आधुनिक धर्माचार्यों के पाखण्ड और प्रदर्शन से कवि का मन संतप्त है अतः चाहे राजनेताओं के दुराचरण की बात हो अथवा कवियों के गिरते हुये चरित्र और लेखन की, संस्कृत के अर्वाचीन लेखक ने इस विषय पर क्रूर प्रहार किये हैं –

अश्लीलो ऽसो कविस्तस्य काव्यपाठात् प्रजायते
कामक्रीड़ा–दुराचारः शिक्षासंस्थास्वहो भृशम्[3]

पारस्परिक वार्तालाप में किस प्रकार अश्लीलता का समावेश हो रहा है, स्त्रियों के प्रति, बालाओं के प्रति मानव दृष्टि किस प्रकार विकृत हो रही है इस विषय में राधा वल्लभ त्रिपाठी कहते हैं –

सम्मुखस्थितबालाया किं कुचौ लक्षितौ त्वया
कुञ्चितं कञ्चुकं तस्या भित्वेव बहिरागतौ[4]

कवि जनार्दनमणि भी अपनी गुरु गोरखाणां की कथा इस रचना से मञ्चों पर बहुत लोकप्रिय हुये। इसमें उन्होंने ऐसे आधुनिक मनोवृत्तियुक्त मनुष्य का चित्रण किया है जो गुरुघंटाल है। अर्थात वह गिरगिट की भाँति परिस्थितिवश अपना पूरा चरित्र बदल देता है।

1. निष्क्रान्ताःसर्वे पृष्ठ 127
2. निष्क्रान्ताःसर्वे पृष्ठ 134
3. सन्धानम् पृष्ठ 55
4. सन्धानम् पृष्ठ 56

स्वार्थान्धकैर्नवनीतलेपनलालिते दृप्ते युगे
चाटूक्तिमग्नपुरन्दरे गुणगुम्फितानां का कथा।
ईर्ष्याकषायितदोषदूषितभग्नसम्बन्धान्तरे
श्रद्धविनिर्गतहट्टकेशुभभावनानां का कथा।[1]

वस्तुतः सामान्य व्यक्ति के दाँव पेच ही उन्हें पीड़ा नहीं देते अपितु ऐसे कवि जो मूर्ख होने पर भी चाटुकारिता और गुटबाजी के आधार पर सभाओं में स्थान बना लेते हैं ऐसी स्थिति में विज्ञ विद्वान तिरस्कृत होते हैं–

काकैर्बकैर्नुनु पेचकैर्महिते सभाया मण्डपे
रे शारदे तव विज्ञहंससुभाषितानां का कथा[2]

इसके अतिरिक्त सामाजिक विद्रूपताओं से आहत हुआ कवि का मन स्वयं से ही प्रश्न करता है कि क्या ऐसी स्थितियों में वास्तव में स्वतन्त्र, स्वाधीन कहलाने के अधिकारी हैं। जहाँ देश में अत्यन्त गरीबी है, कृशकाय जनता है, दहेज के लिये कन्याएँ जलायी जा रही हैं, स्त्रियों पर अत्याचार किये जा रहे हैं, स्थान–स्थान पर धर्म के नाम पर देश को बाँटने की योजनाएँ बनायी जा रही हैं। प्रेम और मैत्री का कहीं कोई पता नहीं है, फिर भी क्या हम स्वाधीन हैं?

अर्थ एव पुरुषार्थोऽद्य
नवोढ़ापि संसहते यौतुकयातनाम्
सुमहार्घं पतिसुखं
प्रतिगृहं जीवद्वध्वाः निर्ममदहनम्
तथापि स्वाधीनाः।
खालिस्तानमिच्छन्ति ये
स्थाने स्थाने आन्दोलनं देशविभागाय,
हिन्दुस्थानप्रीतिः व्यपगता
मैत्रीनाम्ना कृतघ्नता
प्रीतिनाम्ना यौनव्यभिचार
तथापि स्वाधीना
सतीनाम्ना नारीहत्या

1. निस्यन्दिनी 53/2,5
2. निस्यन्दिनी 53/9

प्रतिप्राणं रुधिरपिपासा
धर्मनाम्ना यावन्तः विवादाः
मन्दिरमस्जिदवादे राजनीतिक्रीड़ा
हिन्दुरेव शङ्काकुलः हिन्दुस्थानेऽद्य,
तथापि स्वाधीनाः[1]

समकालीन साहित्य अपने समय के सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने में सफल रहा है। पारम्परिक शैली में रचना करने वाले साहित्यकार भी यथार्थ और सामाजिक सत्य के उद्घाटन की प्रवृत्ति से प्रभावित है। हरिदत्त पालीवाल निर्भय की अमृतलता में स्वतन्त्र भारत की स्थिति पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है –

येषां श्रमसीकरो जगत्पालयते ते क्षुधिताः नग्नाः। सीदन्ति सम्पदामीशत्वं चोच्छ्म श्रुमुखं जनरक्तपिबम्। मातरो भगिन्यो मयेक्षिता शीलं जहतीर्वसनादि विना। कणहेतोः शिशवोऽतिदुःखिताः परिवृत्ता जगतः स्थितिर्निहि

(अमृतलता 2/2)

हिन्दी के कवि निराला की पत्थर कूटती मजदूर स्त्री की कृशता, शुष्क स्तनों से लगा हुआ बालक, संस्कृत के भगवत्तशरण की भावभूमि को कुछ इस प्रकार स्पर्श करता है–

चिन्तामग्नोऽहं
गलावधि
सालसानि सौँद्राणि
विधाय पक्ष्मणि
चूषयति सा शनैः शनैः
जर्जरिण्या जनन्याः
शुष्कमञ्चलम् **(सागरिका–3/4)**

हर्षदेव माधव ने तो 'रेड लाइट' जैसे विषय पर अपनी लेखनी चलाई है वेश्याओं को पिञ्जरे में बद्ध सारिका के रूप में देखकर किसका हृदय द्रवित नहीं होता –

19. व्यथा पृष्ठ 15–16

अत्र सन्ति पुष्पपाणामामन्त्रणानि
किन्तु
सुरभेर्मादकत्वं नास्ति
अत्र सन्ति
पञ्जरबद्धानां सारिकाणां कलानि
किन्तु
वसन्तोन्मादो नास्ति
शब्दाः सन्ति अर्थसंवेदनरहिताः
जलमस्ति चित्रितम्
उद्यानमस्ति–प्रफुल्लत्वरहितम्
तृष्णावने विहरन्ति
काञ्चनपार्श्वमृगचर्मवत्यो हरिण्यः
अधुना
रामः पञ्चवटीं विहाय गतः
अत्र सन्ति
निशाचराणां सञ्चारः

(तव स्पर्शे स्पर्शे, पृष्ठ–147)

आधुनिक संस्कृत साहित्य के नवीन हस्ताक्षर प्रवीण पंड्या अपनी नव ऊर्जा से अर्वाचीन काव्य धारा में एक प्रवाह उत्पन्न कर रहे हैं। उनकी वाणी में ओज, शब्दों में पैनापन है। उनकी कविताएँ आधुनिक संवेगों का सशक्त मनोविज्ञान है। एक नया काव्यसंग्रह ''उद्बाहुवामनता' में अनेकों नये विषयों को नई दृष्टि के साथ प्रस्तुत किया है। 'वृकवृत्तिः' कविता उन लोलुपों और स्वार्थी लोगों की ओर इशारा करती है जो साम्राज्य किसी का हो, राजा कोई हो परन्तु स्वार्थ पूरे करने के लिये ही प्रयत्नशील रहते हैं –

वह्निरयम् एते जना
अस्य वह्नेर्वश्याः
किं कथयामोऽमीशां विनियोगे?
नेमे जना रावणस्य
न च रामस्य

कोऽपि पक्षो भवेन्नाम
एष वा स वा ....
एते तु प्रतीक्षन्ते यद्
रक्तं कदा निपतिष्यति
रामस्य रावणस्य वा?
अमी पिशिताशना गृद्धाः
किं त्वाम् किं माम्
किमम् किं तम्
किं तत्र किम्

(बाहुवामनता पृष्ठ 29)

ग्राह्य और अग्राह्य के मध्य सीमा रेखा का अभाव

समकालीन संस्कृत लेखन में हमें कोई भी ऐसी भूमध्य रेखा दिखाई नहीं देती जहाँ ग्राह्य और अग्राह्य विषयों के मध्य विभाजन का स्पष्ट सूत्रोल्लेख हो। पारंपरिक विधान एवं समसामयिक आधुनिकता कहीं कहीं सम्मिलित रूप में प्रस्तुत हुई है। क्योंकि संस्कृत में लिखने वाला जब पुरातन साहित्य की आनन्दानुभूति में विह्वल हो रहा होता है तब ही आधुनिकता के परिदृश्य उसे झकझोर देते हैं और वह गहन संवेदनशीलता के प्रवाह में बह जाता है। निष्क्रान्ताः सर्वे के वैचारिक मंथन में इस तथ्य को 'पुरा यत्र स्रोत आसीत्' कविता के माध्यम से व्यक्त किया है—

पुरा यत्र स्रोत आसीत्
तत्राधुना समयस्य सिकताः सन्ति
पुरा यत्र स्रोत आसीत्
तत्राधुना प्रेम्णः क्षारं जलमस्ति
पुरा यत्र स्रोत आसीत्
तत्राधुना टेलीफोनप्रणयप्रणयवचनानि
चलचित्रप्रणय चेष्टाः
विचित्रफेशनमृगतृष्णिकाः सन्ति
पुरा यत्र स्रोत आसीत्
तत्राधुना अणुबॉम्बस्फोटवार्ता वर्तन्ते

श्रूयन्ते पिस्तोल मशीनगनरवाः ....
दृश्यन्ते रक्तधाराः

(निष्क्रान्ताः सर्वे पृ0 5)

प्राचीन कविता को आज न तो पूर्ण रूप में ग्रहण किया जा सकता है और न ही समसामयिक विषयों से दृष्टि फेरकर साहित्य सृजन हो सकता है। प्राचीन और अर्वाचीन के मध्य मार्ग पर लिखी गई रचनाएँ संस्कृत काव्य को उष्णता प्रदान कर सकती है।

इसके लिए प्राचीन काव्य की रूढ़ियों का परित्याग कर नवीन रचनात्मक विन्यास के योग से काव्य का शृंगार किया जा सकता है। जैसे रामअवतार शर्मा ने भावप्रस्तुति को सर्वथा परिवर्तित कर दिया है। डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी की रोटिकी लहरी, जनता लहरी, गीतधीवरम् आदि इसी प्रकार के काव्य हैं जो ग्राह्य और अग्राह्य की सीमा रेखा को इंगित करते हैं। इसी प्रकार अन्य अनेकों कवियों ने आधुनिक बोध को प्राचीन कलेवर में समेट कर परम्परावादियों की भ्रूभंगिमा से स्वयं को पुरातनपंथी होने के अभियोग से मुक्त किया है। इस विषय में डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी का यह विचार इस तथ्य को पुष्ट करते हैं—

''आधुनिक संस्कृत काव्य रचना के लिये आनन्त्य सम्प्लव, लय, महावाक्य, तथा छाया से कुछ प्रतिमान विचारणीय हो सकते हैं यह कहा जा सकता है कि इन प्रतिमानों में नया तो कुछ भी नहीं है एक दृष्टि से यह सत्य भी है। परिवर्तित परिस्थितियों में इन प्रतिमानों का नये रूप में सत्यापन यदि आज की कविता करती है तो वह इन प्रतिमानों की भी नवीनता का ही सूचक होगा[1] ।

वास्तव में आधुनिकता का बोध नगर बोध से जुड़ा है। इसमें कभी निरंतरता है और कभी व्यवधान, कहीं परम्परा है और कहीं इसका उल्लंघन। वस्तुतः इसकी प्रक्रिया में प्रश्नचिह्न की निरंतरता है जो इसकी अभिवृत्ति और विषयवस्तु दोनों को ही बदलती रहती है।

1. आधुनिक संस्कृत साहित्यः नये प्रतिमान पृष्ठ 213

द्वितीय अध्याय
विभिन्नवाद और आधुनिक कविताओं पर प्रभाव

प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही काव्य पर हम यदि दृष्टिपात करते हैं तो यह निश्चितरूप से विदित होता है कि प्रत्येक काल में काव्य रचना की एक विशिष्ट शैली, एक विशिष्ट मंतव्य अवश्य रहा है। कवियों की प्रज्ञा में कुछ जीवन मूल्य इतने प्रखर होते हैं कि वह उन्हें संजोकर ही अपनी रचनाधर्मिता को पुष्ट करता है। यह चिन्तन सामाजिक चेतना और परिवर्तन के साथ–साथ एक मनोविज्ञान से भी प्रभावित रहता है। परन्तु इसमें युगानुरूप परिवर्तन होता रहा है। जब किसी व्यवस्था के प्रति मत बदलते हैं तो एक नये वाद का जन्म होता है। इन वादों का प्रभाव काव्य सृजन पर अवश्य पड़ता है। आधुनिक कविताएँ अपनी विविधता के कारण पाठकों को आकृष्ट करतीं हैं, कहीं उनमें सामाजिक विपन्नता से लड़ने की इच्छा दिखाई देती है तो कहीं भोग में आकंठ डूब जाने के तेवर। नारी का पूजनीय रूप वेश्या एवं भोग्या रूप में भी कई कवियों ने चित्रित किया। गरीबों के प्रति सहानुभूति और अमीरों के प्रति रोष साम्यवादी चिन्तन को जन्म देता है। काव्य में कहीं वर्ग संघर्ष है तो कहीं अपने अस्तित्व को सुरक्षित करने का संकल्प, कहीं राष्ट्र के प्रति चिन्ता है तो कहीं रहस्यानुभूतियों से सर्जक जुड़ रहा है। वस्तुतः चित्र–विचित्र खट्टी मीठी ये समस्त अनुभूतियाँ ही वादों को जन्म देतीं हैं। प्राचीन कवि किसी विशेष सम्प्रदाय से जुड़कर अपनी कविता लिखते थे, आधुनिक कवि की कविताओं पर किसी विशेष वाद का अथवा एक से अधिक वादों का प्रभाव दिखाई देता है। कुछ प्रमुख वाद इस प्रकार हैं–

1. साम्यवाद

साम्यवाद में गरीबों के प्रति सहानुभूति और अमीरों के प्रति आक्रोश होता है। यह मार्क्सवादी व्यवस्था है। इसमें समाज की नींव अर्थ पर आधारित होती है।

सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में धन के समान वितरण की व्यवस्था करना इस वाद का प्रमुख उद्‌देश्य है। यह व्यवस्था सम्पत्ति के समान वितरण के सिद्धान्त को स्थापित करने का एक प्रयास है। यह भी सम्भव है कि इस प्रयास में धनवानों को अपनी सम्पत्ति को अनिच्छापूर्वक छोड़ना पड़े क्योंकि साम्यवादी विचारधारा में सहानुभूति गरीबों के साथ ही होती है। यह माना जाता है कि जिसमें शोषित वर्ग धनिकों की तानाशाही को जड़ से उखाड़कर फेंक सकता है।

आज समाज में जिन मूल्यों और संस्कारों की दुहाई दी जाती है वह भी शिथिल प्रायः हो रहे हैं देश में साम्यवाद अपने कदम रखता हुआ काफी आगे बढ़ गया है। यद्यपि धनी और निर्धन के बीच खींची गई लकीर अभी भी विद्यमान है परन्तु जातिगत व्यवस्था के ताने बाने ढीले पड़ने लगे हैं परिणामतः निर्धनों की निर्धनता में भी अब दयनीयता, बेचारगी के स्थान पर हक की लड़ाई का आक्रोश जन्म ले रहा है।

समाज की प्रारम्भिक अवस्था में पुण्य और पाप की अवधारणा अत्यन्त पुष्ट और घनीभूत थी पुण्य के फलस्वरूप धन का अपार भण्डार और पाप के कारण दुःखों का गरल प्राप्त होता है। साम्यवाद ने इस परिभाषा को नकारते हुए इस तथ्य को स्थापित करने का प्रयास किया है कि वास्तव में यह रेखा मानव के शक्ति बल और उन्मत्तता का प्रदर्शन है। अतः इस सामन्ती व्यवस्था को भंग करके एक ऐसे समाज को स्थापित किया जाए जिसमें धन के वितरण की समान व्यवस्था हो । धनिकों, पूँजीपतियों की तानाशाही रोकी जाए। मजदूर मालिक के बीच का भेद मिटाकर सबको समान कार्य और समान जीवन जीने का अधिकार हो। अभिराज की कविताएँ इसकी वकालत करते हुए कहतीं हैं –

परितोऽपि पामराणां तृणशालिकाइमाः
होलानलं समिन्धय बन्धोः शनैः शनैः

(मत्तवारणी–38 / 3)

ऐसे मजदूर जो अपनी दिहाड़ी से ही भरण पोषण की उम्मीद लगाए रहते हैं यदि उनके साथ में अन्याय हो तो यह पूँजीपतियों के लिए निन्दा की बात है।

परहित का चिन्तन कवियों के हृदय से उदभूत होता है उसमें यद्यपि किसी भी 'वाद' का प्रत्यक्ष निर्वहन नहीं कहा जा सकता है परन्तु दीन दरिद्र में दरिद्रनारायण के देखने का स्वप्न प्रत्येक कवि की कविता में मिलता है। श्रमिक के प्रति करुणा का स्रोत प्रवाहित करते हुए राधावल्लभ त्रिपाठी उसके पसीने की बूँदों पर काले बादलों का वितान तान देते हैं –

पायाद् वः श्रमिकस्य भालनिचितं घर्माम्भसां जालकं
प्रोञ्छन्तीव रसात् प्रसारितकरा कारुण्यनिस्यन्दिनी
क्षेत्रे कार्यरतांश्च पामरजनानाहलादयन्तीशुभा
छाया साऽऽतपदुस्सहेऽत्र दिवसे कृष्णाम्बुदस्यायता

(सन्धानम् 87/1)

कहीं कहीं पर यह व्यंग्य विपरीत अवस्थाओं के ऊपर किया गया प्रतीत होता है कि जो अयोग्य है वह समाज में आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठित हैं और योग्य हैं वे एक ओर खड़े होकर अपने अपमान को निःशब्द निर्निमेष होकर देख रहे हैं –

कनकपञ्जरस्थिता वायसा दधिभक्तं भोज्यन्ते
जर्जरकण्ठाः शुकाः सारिका असकृन्निर्भर्त्स्यन्ते
धेनूः समुत्सार्य सूकर्यो नीयन्ते बहुमानम्

(मधुपर्णी 33/2)

वास्तविकता यह है कि साम्यवाद कार्लमार्क्स से प्रभावित विचारधारा है इसे 'मार्क्सवाद' का नाम भी दिया गया है। कार्लमार्क्स जीवन भर विश्वमानव को अन्याय, नैतिकता, हिंसा, शोषण एवं उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने के लिए जूझते रहे। यहीं से वर्गमुक्त, शोषणमुक्त एवं हिंसामुक्त साम्यवादी जीवनधारा प्रवाहित हुई। और साम्यवाद की भावभूमि पर साहित्य सृजन और चिन्तन के अंकुर फूटे। आधुनिक कवियों पर इसका व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। बनमाली बिश्वाल की अनेकों रचनाएँ इस भाव को अंगीकृत करके लिखी गई हैं। एक बाल श्रमिक नंगे पैर, कण्टकों से आहत होकर कहीं गृह कार्य में सेवक है तो कहीं श्रमिक। दूसरी ओर भाग्यवान बालक कार में बैठकर विद्यालय जा रहे हैं। समाज की यही विडम्बना उसे बाँट रही है –

भाटकीय 'ट्राली' याने
उपविश्याथ च 'कार' याने
आरुह्य स्वापितुर्द्विचक्रिकां
आरुह्योत त्रिचाक्रिकां काञ्चित्
विद्यालयं गच्छन्त्यागच्छन्ति
भाग्यवन्तो बालाः
जाताश्च ये धनिनां गृहेषु
मुखे धृत्वा रजतचमसान्।
अन्ये पुनः पित्रा–मात्रा सह
सम्पाद्य कठिनतमं
कृषिकार्यमुत गृहकार्यम्
नग्नपादाः कण्टकैराहताः
मार्गस्थैर्वा 'चीप्स' खण्डैः
क्षताश्च रक्ताक्ता
परिधाय वासांसि जीणानि
स्कन्धे धृत्वा स्यूतांश्च सुजीर्णानि्
धावन्तिः गच्छन्ति ....

(ऋतुपर्णा पृष्ठ 9–10)

एक ओर भाग्य और विधाता के निर्णय को स्वीकार करके समाज में वर्गभेद का इतिहास लिखा जा रहा है वहीं दूसरी ओर अहिंसा के सिद्धान्त के टुकड़े हवा में उड़ाकर अपना प्रभुत्व सिद्ध किया जा रहा है–

विलुप्तोऽस्ति अहिंसा सिद्धान्तः
दुर्बलस्य पृष्ठे वेत्राघातः
यस्यशक्तिः राज्यं तस्य
यस्य यष्टिः तस्यैव महिषः
विस्मृतोऽद्य 'वसुधैव कुटुम्बकं' वादः
अनुदिनं प्रवर्द्धते

('ऋतुपर्णा' –पृष्ठ 54)

इस विचारधारा के मूल में निर्धनों के प्रति सहानुभूति के भावों को विकसित करने की धारणा निहित है। अनेकों संस्कृत कवियों ने इस प्रकार के वर्णनों का प्रमुखता से वर्णन किया है। इसका प्रभाव यह है कि एक ओर तो असहायों की विवशता पाठकों में करुणा का संचार करती है और दूसकी ओर धनिकों के प्रति उनका आक्रोश उचित लगने लगता है। नागार्जुन ने अपनी कविताओं में इन भावों को प्रश्रय दिया है। 'पदमशास्त्री' का 'लेनिनामृतम' महान क्रान्तिकारी लेनिन के जीवन पर आधारित रचना है। इसमें पन्द्रह सर्ग हैं। साम्यवादी विचार धारा को सर्वांगीण रूप से प्रस्तुत करने वाली एकमात्र कृति है। एक उदाहरण दृष्टव्य है –

यदि महामृत्युना रूसे क्रान्तेः स्फुरणमुद्भवेत्
सहस्रधा मरिष्येऽहं ध्रुवं देही विदह्यते

(4 / 20)

इसमें अत्याचारों से लड़ने वाले शताधिक संघर्षरत राष्ट्रभक्तों का संघर्ष है।

वस्तुतः साम्यवाद अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज कराकर अधुनातन उन शोषितों के बीच में एक कड़ी के रूप में दिखाई देता है। संस्कृत ने यद्यपि अपनी उपजीव्यता का निर्वाह करते हुए प्रायः परम्परात्मक विषयों पर दृष्टि रखी है परन्तु 'साम्यवाद' कहे अनकहे स्वयं उनके बीच में अपनी पैठ बना रहा है।

आधुनिक संस्कृत साहित्य में साम्यवाद न केवल परिभाषित, विकसित एवं अपने उपयोगी होने का प्रमाण देता है अपितु छलछद्म का स्वयं दृष्टा भी है। साम्यवाद का लाभ न तो शोषितों को मिल रहा है और न ही पीड़ितों को। पूंजीपति वर्ग द्वारा साम्यवाद के नाम पर देश के दलितों को छला जा रहा है। राजनेता अपने वोट बैंक के विस्तार के लिए समाज को वादों में बाँट रहे हैं और इस प्रदूषित व्यवस्था से जनता हतप्रभ है –

साम्यवादछद्मवेशे
भ्रमत्यत्र 'पुञ्जिपतिवर्गः'
साम्यवादनाम्नाऽप्यत्र
छलितोऽस्ति
देशस्य दरिद्रः
देशस्य 'पुञ्जिपतयः'
करिष्यन्ति यदा अंशदानम्
अनायासं भविष्यति
देशाद् दरिद्रता–निवारणम्।
'वोट्'–लाभाय साम्यवादः
नास्तु कश्चिन्मूलमन्त्रः
तथा सति प्रदूषितः
भवेत् स सिद्धान्तः

(ऋतुपर्णा – पृष्ठ 150)

2. सामाजिक वास्तववाद

इस वाद का जन्म रूस में हुआ और साम्यवादी विचारधारा के अनुयायियों द्वारा उसका पोषण एवं संवर्धन हुआ। इस वाद की सर्जना में निम्नस्तर के लोगों की कथा व्यथा है, शोषण, अन्याय लोकजीवन में कुत्सित और अश्लील प्रसंग, वर्गसंघर्ष और अभाव की त्रासदी है। केशवचन्द्र दाश, हर्षदेव माधव आदि कवियों की रचनाओं में सामाजिक वास्तववाद का दर्शन होता है। इस वाद के अनुयायियों में एक ऐसा कवि सर्जक श्वाँस लेता है जिसे समाज की कठोर मान्यताओं से शिकायत है, उसके मूल्यों और बेमेल मापदण्डों पर आपत्ति है और समाज की दोहरी नीति के प्रति अविश्वास है। इसमें आडम्बर रहित, अलंकार हीन विशुद्ध भाषा में समाज के द्विमुखी स्वरूप को नकार देने का साहस है। आज मनुष्य की मनुष्यता नष्ट हो रही है और उसमें पशुता का उदय हो रहा है, अन्याय उद्दीप्त है, मनुष्य न्याय के लिए भटक रहा है –

संसार विपण्यां कश्चित्
प्रचलित न्यायव्यवसायः
क्रीयतेऽत्र विक्रीयते न्यायः
राजत्वं स्वं तनुते अन्यायः
शुल्कहीनः न्यायः दिवास्वप्नः
महार्घेऽस्मिन् युगे मन्ये
न्यायः सुमहार्घः ....
.............................वयंमद्य जीवन्तोऽपि शवाः

(ऋतुपर्णा – 39)

अन्यत्र भी –

पाशविकोऽत्याचारा पाशविकी हत्या
समाजस्य विध्वंसार्थम्
असमय वात्या
पशुत्वं जागर्ति भृशं
मनुष्येषु न पशुवर्गेषु
मनुष्यता जागृयाच्च पशौ ....

(ऋतुपर्णा – 118)

हमारा समाज विभिन्न समस्याओं से त्रस्त है। प्रत्येक वर्ग अपने आप से जूझ रहा है। सबकी अपनी–अपनी आवश्यकताएं और सीमाएं हैं। बनमाली बिश्वाल ने इस प्रकार के विषयों पर अपनी प्रज्ञा को अधिक केन्द्रित किया है। वे मानते हैं कि समस्याएं जीवन का आधारभूत अंग हैं, सामाजिक चेतना का प्राण हैं। कोई भी जीवन समस्यारहित होने पर नीरस है। अतः आपके काव्य के सकारात्मक चिन्तन से समाज को संघर्षरत रहने की प्रेरणा मिलती है। परन्तु ये समस्त मूल्य अप्रत्यक्ष रूप में हमारे समाज की वास्तविकता को साहित्य से जोड़ते हैं इसमें व्यञ्जना है, जिजीविषा है और सामाजिक वास्तववाद का चिन्तन भी।

समस्या नो जीवन रहस्यम्
समस्याभिर्विरहित जीवनं नीरसं
नामृतं न विषम्................
उत्कटा सा कृषकाणां
असंख्या छात्राणां
शोचनीया नारीणां सा
दयनीया वृत्तिहीन–यूनां
यन्त्रागारे श्रमिकाणां
स्थाने–स्थाने बाल श्रमिकाणां
क्वचिद्देहजीविनीनां सा
क्व शरणार्थिनाम्
कुत्र 'चारा–घोटाला' सा
कुत्र बोफोर्स/शेयर घोटाला
कुत्र मिशनरी हत्या
कुत्र रामजन्मभूमिः
बाबरी मस्जिदीया,
हिन्दुत्वरक्षायै कुत्र
शिवसेना–बजरङ्ग दलीया ....

(ऋतुपर्णा–146)

इस प्रकार इस 'वाद' में सामाजिक प्रश्नों को काव्य का विषय बनाया है। वास्तव में समाज का स्वरूप इसमें प्रतिबिम्बित होता है। जिसमें न तो अलंकारों के आडम्बर की कोई आवश्यकता होती है और न ही भाषाचातुर्य की। अत्यन्त सरलता से समाज में पैठ बना लेना ही सामाजिक वास्तववाद का उद्देश्य है। हर्षदेव माधव की आय–व्यय पत्रकम कविता भी इसी वाद से प्रभावित रचना कही जा सकती है –

आयः	**व्ययः**
श्रमिकेभ्यः	भ्रष्टाचारे
अकिञ्चनेभ्यः	उत्कोचे
सर्वकारसेवकेभ्यः	सर्वकारप्रधानविदेश प्रवासेषु
शोषितेभ्यः	योजनानां कर्गजेषु

दुःखितेभ्यः — कार्यालयेषु
सामान्यजनेभ्यः — वाहनेषु

(भावास्थिराणि सौहृदानि – पृ0 91)

इसी प्रकार एक अन्य प्रयोग भी दृष्टव्य है –

वृद्धि गतानि वस्तूनि	वस्तुषु मूल्यन्यूनता जाता
शोषणम्	सत्ये
आजीविकान्वेषणम्	प्रामाणिकतायाम्
दीनता	श्रमे
कार्यालयेषु कार्यसिद्धये	मानवतायाम्
गमनागमनम्	साहसेषु
	पराक्रमेषु
	सेवायाम्

अवशेष :

– कशेरुका रहित अर्थतन्त्रम्
– अर्थशास्त्रिाणां निरर्थका समीक्षा
– वर्तमानपत्राणां सञ्चयः

इसी प्रकार रवीन्द्र कुमार पण्डा अपनी भावभूमि में विचरण करते हुए समाज को जब बहुत समीप से देखते हैं तो कह उठते हैं –

समर्था येन केन प्रकारणेन लभन्ते स्वलाभान्
धनिका भोगविलासिनः
दरिद्राः पाषाणतलस्य भेका इव
निबद्धा सदाशान्तिशीलाः
विमुक्ताः सरीसृपा इव कुर्वन्ति लीलाः

(बलाका पृ0–36)

समाज में दोहरे चरित्र के थपेड़ों से आहत हुआ अभिराज का मन भी व्यथित है। उन्हें सदैव यही शिकायत रही कि द्विमुखी समाज का यह दिखावा बन्द होना चाहिए –

यद गृहं निवारितं प्रदीप्तवह्नितोमया
पावकी भवन्त एव ते दहन्ति मामलम्

(मत्तवारणी पृ0–124/2)

वस्तुतः इस वाद का उद्देश्य समाज के परिवर्तित होते मूल्य, रीति और संस्कारों पर प्रकाश डालना है। आद्यौगिकीकरण यन्त्रीभूत जीवनशैली ने मनुष्य के जीवन को भी यन्त्रवत् कर दिया है उसकी सभ्यता, उसके संस्कार अन्तिम श्वाँस ले रहे हैं अतः ऐसे में नगरसभ्यता के दूषित प्रभाव को इंगित करना भी इस वाद का उद्देश्य है। सम्भवतः कवि एवं साहित्य सर्जक का इस दिशा में कार्य करना इसलिए भी अनिवार्य है क्योंकि उसका सृजन ही मानवता का स्वर हो सकता है। उपेक्षित समाज की करुणा शब्दों के आकार में ही द्रवीभूत हो सकती है। अभिराज राजेन्द्र मिश्र की एक नवीन गज़ल इस वाद को सम्पूर्णता से स्पष्ट करने सक्षम है। वास्तव में आज सभी वस्तुओं का बाजारीकरण हो गया है ऐसे में मानवजीवन, मनुष्यता सभी क्रय विक्रय की वस्तु हो गये हैं –

विक्रयार्थं समागतो विपणौ
निष्क्रयार्थं समागतो विपणौ
नैव जाने महार्घतां स्वीयाम्
यन्निमितं प्रचारितो विपणो
को नु मां क्रेष्यतीहः कैर्मूल्यं?
वेद्मि नाहं प्रदर्शितो विपणौ
ब्राह्मणो वा वृणोतु चाण्डालः
स्यामुभाभ्यां समादृतो विपणौ।
स्वाभिमानस्य संङ्कथा व्यथा
नैष पन्थाः समर्थितो विपणौ
स्वर्णशाकावुभावपि क्षणिकौ

आशुविक्रीयते यतो विपणौ
अत्र घटितेऽखिलं झटित्येव
प्राग्विचारो न दृश्यते विपणौ
स्वैरमुत्सार्यतेऽत्र सत्पुरुषः
लम्पटोभाति सत्कृतो विपणौ
क्वापरत्रार्थसिद्धिरार्तानाम्
काङ्क्ष्यतेऽथो गवेषितो विपणौ

(अभिराज राजेन्द्र मिश्रस्य)

इसी प्रकार अन्यत्र वक्रोक्ति द्वारा लक्षणा के प्रयोग से यथार्थ का चित्रण हर्षदेव माधव ने किया है –

अत्र लभ्यते विना हट्टं
किलो मितेन क्रयणेन सह
सार्धकिलोमिता वञ्चना
सर्वकारसेवानियुक्तया सह
कार्यचौर्यं विना मूल्यम्
अपि च
उत्कोचलाभोऽभि निःशुल्कः संयुक्तोऽस्ति
निर्वाचने
विजयेन सह
भ्रष्टाचारस्य वर्तत उपहारयोजना
परीक्षा प्रमाणपत्रैः सह
सङ्गतास्ति
वृत्तिप्राप्तयर्थं चिन्ता।
भवान् जानात्येव यत्
मानवताया नास्ति मूल्यम्
अतः
विक्रयकाले क्षिप्ता सा मार्गे
यदि भवते रुचिता स्यात् ....

(स्पर्शलज्जा कोमला स्मृतिः–पृ0 16)

इस प्रकार व्यञ्जना के माध्यम से यथार्थ का निरूपण बहुत ही मार्मिक होता है। माधव ने अनेकों ऐसे प्रयोग अपने काव्य में किये हैं। साहित्य आस्वादन के प्रसंग में यह एक यथार्थ अनुभूति है कि यदि समस्याओं का वर्णन अभिधापरक शैली में किया जाता है तो वह अनाकर्षक होता है। हमारा काव्यशास्त्र सदैव से इसी तथ्य को पोषित करता रहा है। आधुनिक संस्कृत साहित्य में दहेज प्रथा की निन्दा प्रायः प्रत्येक सर्जक ने कही है इसे एक सामाजिक बुराई मानते हुए इसकी भयावहता की ओर प्रायः संकेतित किया जाता रहा है। यही सामाजिक वास्तववाद है जिसका उद्देश्य समाज की वास्तविक स्थिति प्रकाशित करना है। विद्याशंकर त्रिपाठी ने यौतुकप्रथा से छले हुए पिता की व्यथा को इस प्रकार चित्रित किया है।

पर्याप्तं वरपितृवाञ्छितधनं दातुं न शक्तो यदि
पुत्री तस्य चिरं विवाहविधितो लोके भवेद् वञ्चिता
देशेऽस्मिन्नपरत्रयापि बहुशः पित्रोर्व्यथा पीड़िताः
कन्याः काश्चिदसून स्वयंजनिगृहे मुञ्चन्तिपाशावृताः।
एवं स्वतन्त्रे खलु भारतेया
कुरीतिरेषा प्रसृत प्रचण्डा
तस्याः समूलोद्धरणायलोको
लोकेस्वरश्चापि प्रबोधनीयौ।

(संस्कृतवाग्विलासः पृ0–71,72)

इस प्रकार समाज की वास्तविक समस्याओं से जनमानस को जोड़ना ही इस वाद का उद्देश्य कहा जा सकता है। यह समस्याएँ राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय दुरुहताओं को उजागर करती है। समाज में जो कुछ भी घटता है वह उसका एक अंग बन जाता है और साहित्य उस अंग को आत्मसात कर उस अंग को सर्वजनीन बना देता है। यही सामाजिक वास्तववाद अथवा यथार्थवाद है ऐसा प्रतीत होता है मानो घटनाओं को अपने शब्दों के शरीर में उतारने के लिए आज का कवि प्रतीक्षित रहता है।

विमान अपहरण की घटनाओं के प्रकाश में आते ही अनेकों संस्कृत कवियों ने उसे संस्कृत साहित्य में अनुस्यूत कर लिया। यही इस भाषा की युगानुरूपता है और इस वाद की सृजनशीलता का आश्वासन। समस्या कोई भी हो वह समाज के मूल्यों से जूझती है और उसी में श्वाँस लेती है और उसी में अपने अस्तित्व का मंच स्थापित करती है अतः अर्वाचीन संस्कृत साहित्य उसका काव्य अपने इस वचन पर दृढ़ता से प्रतिबद्ध है।

3. अस्तित्ववाद

इस वाद के अनुयायियों का मानना है कि मनुष्य का अस्तित्व ही सर्वाधिक मूल्यवान है। उसके अनुभव, उसके कार्य ही समाज का रूप निर्धारित करते हैं यहाँ सामाजिक मूल्यों के अनुकरण के स्थान पर व्यक्ति के आचरण से मूल्यों के निर्माण की बात कही गई है। इस वाद के मुख्यतः तीन बिन्दु स्वीकार किये गये हैं –

1– व्यक्ति विशेष में मानवीय अस्तित्व की अनुभूति
2– मानव जीव और जगत का सम्बन्ध
3– मानव चेतना द्वारा प्रकट किया गया वैयक्तिक सत्य

वस्तुतः यह वाद ईश्वर के प्रति अनास्था व्यक्त करते हुए इस तथ्य को मानता है कि सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की सत्ता समाज में सर्वोपरि है। उसी का सम्मिलित रूप समाज के स्वरूप को आकार देता है। अतः जब मनुष्य की सत्ता अपने अस्तित्व को प्रखर करती है तब यह वाद प्रभावी होता है। इसमें देशज एवं आंचलिक अनुभूतियों की प्रबलता हो सकती है। अस्तित्ववादियों के लिए स्वेच्छा से जिया गया एक–एक पल परतन्त्रता के सौ वर्षों से अधिक महत्वपूर्ण है।

यहाँ काव्यगत नव प्रयोग इस भावसंबलता के सहायक तत्व होते हैं। अनेकों बिम्बों द्वारा मानव मनोविज्ञान को शब्दों में गूँथा जाता है। हर्षदेव माधव संकेतरहित नगर में नागरिकों का अस्तित्व ढूँढ़ते दिखाई देते हैं –

संङ्केतरहित पत्रं भूत्वा
अहं निवसामि तव नगरे अलकनन्दे!
शाकिनीवत् प्रस्खलन्ति जनसाधारणयानानि
लोष्ठवत् स्तब्धं नगरोद्याने
सरोवरस्य जलम्
कीटशलभतुल्या नागरकाः
शूकरदन्तसमः ट्यूबलाइट प्रकाशः
गृधपक्षवत....................विस्तीर्णो मार्गः
भल्लूकरोमराजिसमो यन्त्रालय धूमः
उलूकवर्णं तमिस्रम्
काष्ठकूटचञ्चूप्रहारनादो घटिकायन्त्रस्य
अलकनन्दे!
त्वामेव मे संङ्केतं मन्ये
अस्मिन्
संङ्केत रहिते नगरे।
(भावास्थिराणि जनान्तर सौहृदानि – पृ0 23)

इसी प्रकार अन्यत्र भी अपने अस्तित्व को अलकनन्दा में देखता हुआ कवि उसकी तरलता में स्वयं को समाहित कर लेता है। परन्तु यहाँ खुद को मिटाना उसका उद्‌देश्य नहीं है अपितु चिरंतन करना है अलकनन्दा की तरह। यह है मानव चेतना द्वारा व्यक्त किया गया वैयक्तिक सत्य। जहाँ अलकनन्दा की धारा में उसके प्रणयनिवेदित अश्रु विद्यमान हैं। मीन का उछलना और लहरों का तरंगित होना उसके श्वाँस और धड़कन हैं। समुद्र से दूर मिलन के लिए उत्कंठित उसकी तृषा मानो कवि की अपनी कामनाएँ हैं।

हे अलकनन्दे!
कतिपया मे श्वासास्ते वक्षसि सन्ति
मम कानिचिदश्रूणि
प्रवणरहितानि

त्वन्नेत्रपृष्ठे निहितानि सन्ति
क्वचिन्मे रक्तं
अद्यापि त्वत्स्वप्नधमनिषु प्रवहति
तव हस्ते
स्पन्दते मे निश्वासमीनः
ओष्ठयोस्ते/निलीयते मे तृषा.............
पश्य, त्वदस्तित्वतले/निहितमस्ति में सर्वस्वम्
(भावास्थिराणि....पृ0 20)

इस प्रकार सृष्टि की रहस्यमयता में मनुष्य अपने अस्तित्व को ढूँढ़ता है। स्थापित मूल्यों से विरोध करके अपने नवीन मूल्यों की स्थापना का संकल्प लेकर मनुष्य स्वाभाविक व्यवस्था को बदलना चाहता है। यहाँ समस्त प्राचीन परम्पराओं के त्याग की बात नहीं है अपितु परम्पराएँ उसके विचारों और जीवन शैली की बाधक हैं उन्हें वह हटाना चाहता है और अपनी चेतना के डैने पसारकर मुक्त आकाश में ऊँची उड़ान का इच्छुक है। वह कालबद्ध, चिन्ताग्रस्त, अभावयुक्त चेतना से मुक्ति पाकर नव मूल्यों में स्वयं के आनन्द का स्वप्न देखता है। यहाँ मुक्ति से अभिप्राय मोक्ष नहीं है। वह भ्राँतिहीन होने के लिये उन समस्त दुःखों, कष्टों और सन्ताप का निरूपण करता है जिससे परे उसका अपना अस्तित्व होना चाहिये। अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने मत्तवारणी में अधिकांशतः गज़ल इसी भाव से इसी वाद के समीपस्थ लिखी है। वे अपनी सरलता से भी वह स्थान, वह नाम, वह स्वरूप पा सके जो अन्य व्यक्ति, कवि अपनी चाटुकारिता और छलछद्म से भी प्राप्त न कर सके –

त्वया स्तम्बेरमाः क्रीता जगत्यां गजपतिर्जातः
मृडानीपादपद्मरजांस्यहं क्रीत्वा नृपोऽभूवम्।
त्वया सौशब्द्यमेव विपोषितं श्लेषादिदुर्बन्धैः
सरलमधुरैनिजैर्गीतैरहं रसिकाद्विपोऽभूवम्
(मत्तवारणी–पृ058)

यदि इस चिन्तन का मंथन किया जाए तो कुछ प्रवृतियों का इसमें प्रतिफलन दिखाई देता है।

इस वाद का बीज विचार बिन्दु है चयन की स्वतन्त्रता। इसमें व्यक्ति अपना मार्ग स्वयं चुनता है और उस मार्ग में आने वाली बाधाओं को स्वयं भोगकर उसका अन्य पर आरोपण नहीं करता। ऐसा अस्तित्ववादी समाज की प्रमुख धारा से हटकर अपनी अलग धारा बनाता है इसके प्रतिफलन में पीड़ा का संत्रास भी उसे पीड़ित नहीं करता। प्यार, भोग, निराशा और मृत्यु ये समस्त तत्व अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों के क्रम को सूचित करते हैं। जब व्यक्ति प्यार और भोग में आकंठ डूब जाता है तो उसे निराशा और मृत्यु प्राप्त होती है परन्तु क्षणिक आनन्द का सिद्धान्त उन्हें इस मृत्यु में भी संतुष्टि देता है। इसी संतुष्टि को अपनी विवशता मानकर बिश्वाल इस प्रकार मुखरित होते हैं–

जानाम्यहं
प्रेम कृत्वा ज्वलति मनुष्यः
ज्ञात्वाऽपि प्रीणामि त्वयि
कश्चिदस्मि प्रेमिको विवशः
संस्प्रश्याग्निं मरिष्यन्ति
जानन्त्यपि कीटाः
सर्व ज्ञात्वाऽप्यग्निस्पर्शः
तेषां विवशता। (ऋतुपर्णा–पृ0 84)

जीवन की छलना मनुष्य को छलती है पूर्वजन्म और अगले जन्मों के ताने बाने में उलझा हुआ वह आनन्द से अपना वर्तमान नहीं जी पाता। मृत्यु जब समीप आती है तो लगता है क्या जीवन बीत गया? हमने क्या भोगा? क्या सत्कर्म किया? परन्तु इस वाद के समर्थक अपने न तो आने वाले कल के लिए उत्कण्ठित होते हैं और न बीते हुए कल पर उसे पश्चाताप होता है। वह तो यही सोचता है कि पलक जैसा क्षणिक जीवन, पुष्प जैसा सुगन्धित और प्रिया के अधर जैसा आस्वादित रहा, यही है सच्चाई सम्पूर्ण जीवन की –

पलकमिव प्रतीयते जीवन, यदाहं पश्याम्येकस्य मरणम्
प्रसूनमिव प्रतीयते जीवनं, करोमीहि यदा प्रियाधरपानम!
(बलाका, पृष्ठ 69)

इस प्रकार आधुनिकता का बोध नगरबोध से जुड़ा है इसमें कहीं निरन्तरता है तो कहीं व्यवधान, कहीं परम्परा है तो कहीं इसका उल्लंघन। वास्तव में इस प्रक्रिया में एक प्रश्न सदैव बना रहता है और व्यक्ति इसमें डूबता–उबरता रहता है। यह वाद व्यक्तिवाद का ही एक स्वरूप है। व्यक्तिवाद का अभिप्रायः व्यक्ति के अपने अस्तित्वमय चिन्तन से है जिसमें उसका अच्छा अथवा बुरा होना दोनों ही उसके कारण और उसके लिये हैं। राधावल्लभ त्रिपाठी अपने एकाकी होने में पीड़ा होते हुए भी उसे अपने अस्तित्व की चेतना स्वीकार करते हैं –

स्थास्याम्यहमेकाकी स्थाणुः प्रेतवनेयथा
नग्नो निष्प्रभशाखश्च भस्मीभूत मनोरथः

(सन्धानम् पृ0 10)

हर्षदेव माधव कहीं तो शरपतनभय का अनुभव करते हुए 'मृगया' में दिखाई देते हैं तो कहीं मृत्यु को विभिन्न दृश्यों में अनुभव करते हुए योगी बन जाते हैं। उन्हें ईश्वर के अस्तित्व पर कोई संदेह नहीं है परन्तु वह प्रकृति को, स्वयं को एक पृथक अस्तित्व के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि भूकम्प पृथ्वी के हृदय का कम्पन है जो उसकी व्यथा से उत्पन्न हो रहा है –

पृथ्व्याः क्षतोऽपि भविष्यति
तथैव।
पृथ्व्याः हृदये भविष्यति
व्यथाऽपि श्यामा शिलावत्

(भावस्थिराणि पृष्ठ–41)

एक अन्य स्थान पर उनकी व्यथा मौन है परन्तु आधा जला हुआ पंख सम्पूर्ण व्यथा का खण्डकाव्य बन गया है –

हे अलकनन्दे !
प्रत्युत्तरे मया
संदेशविरहिते मदनलेखे
अर्धदग्धपतङ्गस्य पक्ष एकः प्रेषितः।
अपि वाचयिष्यसि मे मौनस्य व्यथाम्?

(भावस्थिराणि पृष्ठ–25)

इसी प्रकार के अनेकों उदाहरण आधुनिक संस्कृत साहित्य में दृष्टिगोचर होते हैं। हमारा मन्तव्य तथ्य स्पष्ट करना है विस्तार नहीं। अतः अस्तित्ववाद व्यक्तिवाद का ही एक रूप है यह इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है।

4. राष्ट्रवाद

यद्यपि चतुर्थ अध्याय में राष्ट्रीय चेतना पर विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा, फिर भी वादों के प्रसंग में राष्ट्रवाद पर दृष्टिपात करना भी प्रसंगानुकूल है। आधुनिक संस्कृत साहित्य में अपने देश के प्रति सकारात्मक चिन्तन की प्रवृत्ति सर्जक की यत्र–तत्र दिखाई देती है। इसमें मातृभूमि के प्रति प्रेम, स्वदेशाभिमान और देशभक्ति प्रमुख है। राष्ट्रीय काव्यधारा की एक श्रेष्ठ मुक्तक रचना महर्षि अरविन्द की 'भवानी भारती' है। इसमें भारत माता ने अपने राष्ट्रभक्त पुत्रों का आह्वान किया है। राष्ट्रदेवी का स्वरूप यहाँ काली के रूप में चित्रित है –

नरास्थिमालां नृकपालकाञ्चीं वृकोदराक्षीं क्षुधितां दरिद्राम्
पृष्ठे वष्णाङ्कामसुरप्रतोदैः सिंहीं नदन्तीमिव हन्तुकामाम्

(भवानी भारती/5)

इस प्रकार यह काव्य संस्कृत भाषा की जीवन्तता का परिचायक है। स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रवाद की धारा शताब्दियों से प्रवाहित रही है। जहाँ एक ओर स्वाधीनता के अनन्तर होने वाले दंगे उसे पीड़ित करते हैं वहीं दूसरी ओर राष्ट्र की समृद्धि, उसकी उन्नति से वह आत्मसंतुष्ट है। परन्तु धीरे–धीरे इस वाद में एक प्रश्न चिह्न दिखाई देने लगा जिसमें राष्ट्रीय चरित्र के दोगलेपन से सामान्यजन का हृदय क्लेश से भर उठा। इस प्रकार जब हम राष्ट्रवाद का क्रमिक अवलोकन करते हैं उसमें प्रथमतः स्वतन्त्रता के लिये व्याकुलता है फिर उस स्वतन्त्रता को सहेज कर रखने की इच्छा है इसके बाद विभिन्न प्रकार के संघातों, दुरभिसंधियों और राष्ट्रहित का हनन करने वाले राष्ट्रद्रोहियों से शिकायत है।

संस्कृत साहित्य ने सदैव स्वयं को युगानुरूप सिद्ध किया है। जब आँगन में स्वतन्त्रता का पहला तिरंगा लहराया था तब हम गर्व से भर उठे थे परन्तु आज जब हम इस स्वतन्त्रता का उपभोग करते यहाँ तक आ गये हैं तो हमें उससे घात करते लज्जा नहीं आती। अभिराज राजेन्द्र मिश्र की 'यशस्ते मयाऽवेक्षितं राष्ट्रबन्धो' इस प्रकार की एक श्रेष्ठ रचना कही जा सकती है जिसमें राजनेताओं और उनके कुलषित चरित्र का विस्तार से वर्णन किया है –

त्वया निर्मितो यः सरित्सेतुरासीत्
क्षतं–विक्षतं तद्वपुर्जीर्णशीर्णम्
तदीयेषु रन्ध्रेषु सर्पावभासं यशस्ते मयाऽवेक्षितं राष्ट्रबन्धो।
शिशूनां कृते त्वतकृता पाठशालाऽ
पतत् प्रावृषि प्राणहन्त्री नु तेषाम्
पितृणां नु तेषां प्रगाढ़ाश्रुवृष्टौ यशस्ते मयाऽवेक्षितं राष्ट्रबन्धो

(मत्तवारणी पृष्ठ 94)

जहाँ इस प्रकार के गिरते मूल्य कवि को सोचने के लिये विवश कर देते हैं वहीं राष्ट्रप्रेम के स्वर भी संस्कृत काव्य में मुखरित हुये हैं।

पद्म शास्त्री का 'स्वराज्यम्' राष्ट्रवाद को संपोषित करने वाला खण्डकाव्य है। वस्तुतः इसका समर्पण उन लोगों के लिये है जिन्होंने स्वराज्य प्राप्ति के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया। स्वतन्त्रता संग्राम में निरन्तर संघर्ष करते हुये भारतवासियों ने जिस आत्मबल का परिचय दिया उसका इसमें विस्तार से वर्णन किया गया है –

सबलं स्वात्मबलं जहौ न ना
ननु पूर्णस्वतन्त्रताविधौ
बलिना सह लोपमेति त
न्नृबलं नात्मबलं तु भौतिकतम्

(स्वराज्यम् 3/14)

अभिराज राजेन्द्र मिश्र के काव्य में राष्ट्रवाद अपने विकसित रूप में दिखाई देता है। राष्ट्र की दुर्गति देखकर वे चिन्तित हैं।

शोकतापजर्जरा द्रोहभारभङ्.रा
अद्य दृश्यते न किं भारती वसुन्धरा
दुर्गति हि भारते कीदृशी स्वतन्त्रता?
मामके हि भारते कीदृशी स्वतन्त्रता?

(श्रुतिम्भरा पृष्ठ 36)

यह कैसी स्वतन्त्रता है जिसमें जातिवाद वर्गभेद और द्वेष का सम्बन्ध विकसित है। मिश्रजी तो उस भारत की वन्दना करना चाहते हैं जो अक्षत है, सत्कृत है और सुव्रत है[1] उनका हृदय गाँधी के रक्तरञ्जित भारत को देखकर व्यथित हो जाता है[2]। परन्तु एक श्रेष्ठ राष्ट्रभक्त कवि का यह दृढ़ विश्वास है कि उसका भारत फिर से विश्वगुरू होगा –

एत सौम्यरान्धावा बन्धुता विधीयताम्
क्षेत्रवर्गभावना सत्वरं निवार्यताम्
प्राञ्जलं पुनर्भवेद् येन भव्य भारतम्!
विश्वपूजितं भवेनमामकीनभारतम्

(श्रुतिम्भरा पृष्ठ–39)

इसी भाव को हृदय में संजोए सरस सहृदयी कवि हरिदत्त शर्मा के अनुभव राष्ट्रवादी चिन्तन के बहुत करीब हैं। उनके लेखन में बिगड़ती हुई राष्ट्रीय चेतना के प्रति आक्रोश नहीं है। अपितु आशा का वितान उन्हें इस बात का आश्वासन देता है कि हमारी भारतीयता, हमारे जीवनमूल्य कभी नहीं मर सकते। हम कितनी ही जातियों और वर्गों में बँट जाएं, कितनी ही भाषाएँ बोलने लगें परन्तु हमारी प्रतिबद्धता सदैव जीवित रहेगी –

---

1. श्रुतिम्भरा पृष्ठ 33
2. तथैव पृष्ठ 38

राष्ट्रमेकं रक्तमेकं
जन्मभूरियमस्मदीया
वयं सर्वे भारतीयाः
वयं सर्वे भारतीयाः।।
एकतासूत्रे सुबद्धा
वयं सर्वे शोभनीयाः
हिन्दवो वा मुस्लिमा वा
खिष्टियाश्च सर्वे समानाः
पारसी सिख बौद्ध जैनाः
शुभसमन्वयमादधानाः
रीति–नीति प्रतीतिभिन्ना
भ्रातरः सर्वे स्वकीयाः

(लसल्लतिका पृष्ठ 16)

जनार्दन प्रसाद मणि की 'निस्यन्दिनी' में राष्ट्रवाद का सरल प्रवाह देखा जा सकता है। उन्होंने अनेक राष्ट्रवादी कविताओं द्वारा अपने ओजस्वी स्वर को मुखरित किया है। सर्वप्रथम 'भारतं रे'[1] कहकर भारत को सम्बोधित किया है फिर 'भारतम नमाम्यहम्'[2] अपना नमस्कार करते हुए 'वयं रक्षाम्'[3] द्वारा उसकी रक्षा का वचन दिया है। उनकी 'राष्ट्रसंवेदना'[4] काव्य नीराजना के ब्याज से प्रत्युत्तरित होती है। उन्हें लगता है कि जो कुछ भारत में है, जिन गुणों से इसका कण–कण महका हुआ है जिसका बन्धुत्व विश्व में व्याप्त है वैसा देश कोई और हो ही नहीं सकता –

यदिहास्ति तदन्यत्रापि नु यन्नेहास्ति न तत्क्वचिदपि भूमौ
विश्वेशकृपामहितं मुदितं तत्सौख्यधृतं प्रसृताऽचरणम्

(निस्यन्दिनी पृष्ठ 41/1)

1. निस्यन्दिनी पृष्ठ 5
2. निस्यन्दिनी पृष्ठ 12
3. निस्यन्दिनी पृष्ठ 22
4. निस्यन्दिनी पृष्ठ 50

संस्कृत साहित्य का कोई भी कवि ऐसा नहीं है जिसकी लेखनी से राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति के पुष्प निःसृत न हुये हों। 'प्रणव' राष्ट्र में होते हुये दुराचार से पीड़ित हैं जन्मभूमि की दुर्दशा उन्हें चिन्तित कर रही है –

जन्मभूमेर्दुर्दशा सम्पादिता निरपत्रपैः
मस्तकान्येषां रुषा किन्नो हरिष्यामो वयम्?
साधुवेषे रावणाः वृद्धिंगता सीताहराः
तान् दशग्रीवान् कदा वै पातयिस्यामो वयम्?

(प्रणवरचनावली पृष्ठ–435)

परन्तु इसका यह अभिप्रायः कदापि नहीं है कि उन्हें इसके सुधरने की आशा नहीं हे। क्योंकि रमाकान्त शुक्ल की भाँति 'मे भारतम' पर उनका विश्वास है। राष्ट्रीय कवि के रूप में प्रतिष्ठित शुक्ल जी एक मात्र ऐसे कवि हैं जिन्हें राष्ट्र के गिरते मूल्यों पर भी क्रोध नहीं आता। उनका चिन्तन सकारात्मक है उनमें अपने देश की पुरातन आस्थाओं पर आज भी विश्वास है। वे इस तथ्य को तो स्वीकार करते हैं कि भारत में कुछ मूल्य क्षीण हुये हैं परन्तु यह बदलाव अस्थाई है। हमारा भारत अपने उस गौरव के साथ रहा है और उसका वही गौरव सदैव उसके कान्तिमय स्वरूप को बनाये रखेगा। यह भूमि शंकर, राम, सीता, पार्वती जैसे देवों से प्रतिष्ठित है यहाँ कला और विज्ञान की प्रभा दैदीप्यमान है जहाँ धर्म, अर्थ, काम,1 मोक्ष के लिये जीवन जिया जाता है[1] जिसका प्राकृतिक सौन्दर्य विश्व को आकर्षित करता है। ऐसे भारत के लिये कवि की यही आकांक्षा है कि भारतवर्ष सदैव उन्नति को प्राप्त करे।

प्रणम्यः प्रणम्यो मया यः स्वदेशः
सदा कीर्तनीयः सदा वन्दनीयः
सदा वर्धतां मोदतां राजतां यो
भजेऽहं मुदा भारतं तं स्वदेशम्
भजे तं मुदा भारतं दिव्यदेशम्

(सर्वशुक्ला पृष्ठ–102)

1. सर्वशुक्ला पृष्ठ 94

'भाति मे भारतम्' के प्रत्युत्तर में हर्षदेव माधव ने नव प्रयोग करते हुये 'भांति ते भारतम्' भी लिखा है जिसमें भारतवर्ष के गिरते मूल्यों पर चिन्ता व्यक्त की गई है।

चौर्यहिंसाऽनीति–भ्रष्टता–संकुलाः
सर्वपक्षैर्हृता विश्वविद्यालयाः
नास्ति विद्याप्रमाणस्य पत्रेष्वपि
जीविका तेन संलभ्यते भारते

(भाति ते भारतम् 31/31)

माधव की शैली आक्रामक है उन्होंने छोटे–छोटे हाइकू में भी इस व्यथा के चित्र उकेरे हैं। उन्हें दिल्ली से शिकायत है क्योंकि वहीं से सम्पूर्ण भारतवर्ष के आचरण का इतिहास लिखा जाता है राष्ट्रप्रेम की भावना पर जब चोट लगती है तो कवि तिलमिला उठता है –

दिल्लीयम् दम्मम्
मदम्/स्वार्थम्/कौटिल्यम्
अत्रैवपश्य।।

॰ ॰ ॰ ॰

दिल्ली निष्प्राणाः
समाधयः/सौधामृताः/
निर्जीवा चितिः।।

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि/पृष्ठ 35)

नवोदित कवि प्रवीण पण्ड्या ने भी माधव की भाँति भारतवर्ष की स्वतन्त्रता पर और उसके लोकतन्त्र पर प्रश्नचिन्ह लगाया है –

पश्यन्नस्मि
साधनारतं वर्षेभ्योऽ
नन्यभक्त प्रवरन्तम्
लोकाद् दूरङ्.च्छतः
तन्त्ररहितम् भवतः
लोकतन्त्रस्य नाम भजन्तम्
सततं स्वातन्त्रयञ्जपतन्तम्

(ज्योतिर्ज्वालनम् पृष्ठ–11)

इस प्रकार वादों के बीच में राष्ट्रवाद ने सर्वाधिक रूप में अपनी पैठ बनाई है। यह परम्परा भी रही है कि भारतभूमि की वन्दना किये बिना मानो कोई कवि अपनी सृजनधारा को पूर्ण हुआ नहीं मानता। अतः इसका सम्यक और व्यापक अनुष्ठान हमें साहित्य की यज्ञशाला में दिखाई देता है कहीं यह भावना केवल स्तुतिपरक दिखाई देती है तो कहीं आक्रोश का ज्वार बनकर देश को सुधारने का संकल्प बन जाती है। बात कुछ भी हो पर राष्ट्र से प्रत्येक कवि की भावनाओं को संजीवनी मिलती रही है।

5. रहस्यवाद

रहस्यानुभूति को आत्मसात् करने की प्रक्रिया कोई सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। इसमें सर्जक की चेतना अगोचर प्रदेशों में भ्रमण करके अमूर्त को मूर्त कर देती है। रहस्यानुभूति नितान्त आत्मविषयक होती है उसके लक्षणों के विषयों में रहस्यदृष्टा कुछ भी बताने में असमर्थ होता है। स्वानुभूति को अन्य व्यक्ति में यथावत संक्रमित करना असाध्य होता है। यह रहस्यानुभूति क्षण भर के लिये होती है। जब व्यक्ति उस अनुभूति से चेतना के स्तर से बाहर आता है तब उस स्मृति को पुनः निर्मित करता है। इस प्रक्रिया में यह आवश्यक नहीं कि वह उसका समग्र वर्णन कर सके। परन्तु यह अवश्य है कि वह चित्त को एकाग्रचित करके उसका तात्विक स्वरूप प्रकट कर सकता है।

परन्तु कभी–कभी यह रहस्यानुभूति प्रश्न बनकर मानव मन को उद्वेलित करती रहती है उसे लगता है कि वास्तव में वह कौन है और इस संसार में क्यों आया है, डॉ0 कृष्ण लाल लिखते हैं कि –

कस्त्वम्? कोऽहम्?
केयम्? कोऽयम्?
प्रश्नोऽसि त्वम्
अहमपि प्रश्नः।
इयमपि प्रश्नः अयमपि प्रश्नः
प्रश्नमयोऽयं शृणु संसारः।

(विशंशताब्दी.... पृष्ठ–388)

इसी प्रकार 'शव' के प्रति भी कवि ने एक जिज्ञासा परक अनुभूति को

व्यक्त किया है। वह लिखते हैं कि वास्तव में शव ही जलाया जाता है मृत व्यक्ति से सांसारिक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, आत्मा परमात्मा में मिल जाती है। अतः ''**तवैवायं शवो दह्यते**'' ठीक ही है। व्यक्ति से व्यक्ति का सम्बन्ध देह धारण तक ही होता है उसके बाद वह शव बन जाता है।

इसी प्रकार शिव दत्त शर्मा चतुर्वेदी ने 'त्वम्' कविता द्वारा उस अदृश्य प्रेयसी की ओर संकेत किया है जो अनुभूति में है पर दिखाई नहीं देती, प्रतिदिन समीप में रहकर भी दूर रहती है यह क्षण भंगुर जीवन यूँ ही बीत गया परन्तु उसका साक्षात्कार नहीं हो सका।

क्षणमिव जीवनमेव यापितं मिलिता तथाऽपि न त्वम्

(विशंशताब्दी.... पृष्ठ–396)

यहाँ पर उस परमात्मा के प्रति अनुराग और समर्पण दिखाई देता है। मृत्यु के विषय में अनेकों प्रश्न मन को विचलित करते हैं कभी यह अजगर का आवेष्टन प्रतीत होती है तो कभी नवजीवन की प्रथम निःश्वास, कभी दुःखी जीवन की प्रगाढ़ शान्ति तो कभी जीवन रूपी प्रश्न का उत्तर बन जाती है। देवदत्त भट्टि ने मृत्यु को इस प्रकार परि भाषित किया है –

मृत्युरेको वटवृक्षः
यस्याधो जीवनं शममधिगच्छति
मृत्युर्नवजीवनस्य प्रथमः श्वासः
मृत्युः दुःखितमालिंगति
तस्य दुःखं च निरस्यति।
मृत्युर्जीवनस्य पश्चिमः स्वरः
मृत्युरनिलं इवायाति
जीवनं चापहति ....
जीवनं यदा बहून प्रश्नान करोति
प्रश्नाननां समाधानं न लभते
तदा मृत्युः पश्चिममुत्तरं भूत्वाऽऽयाति
सर्वं च समाहित्यापयाति
जीवने श्रान्तानां कृते

मृत्युः शाश्वतो विरामः

(विशंशताब्दी.... पृष्ठ–558)

रहस्यानुभूति में जब रहस्यात्मक विचार आते हैं तब वह सनातन सी लगती है। परन्तु उस रहस्यात्मक चेतना को व्यवहार भाषा में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। हर्षदेव माधव की 'अलकनन्दा' इसी प्रकार की रहस्यात्मक अनुभूति है –

हे अलकनन्दे
कतिपया मे श्वासास्ते वक्षसि सन्ति
मम कानिचिदश्रूणि
प्रवणरहितानि
त्वन्नेत्रपृष्ठे निहितानि सन्ति
किञ्चिन्मे रक्तं
अद्यपि त्वत्स्वप्नधमनिषु प्रवहति
तव हस्ते स्पन्दते मे निश्वासमीनः
ओष्ठयोस्ते
निलीयते मे तृषा
अङ्गुल्यग्रेषु ते
मम वन्ध्यास्पर्शा वेपन्ते
हे अलकनन्दे!
पश्य,
त्वदस्तित्वतले
निहितमस्ति मे सर्वस्वम्

(भावस्थिराणि पृष्ठ –20)

रहस्यवाद की प्रक्रिया में दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ अनुभव की जा सकती हैं प्रथमतः रहस्यानुभूति के साथ सर्जक की अनुभूतियों का जुड़ना, दूसरा रहस्यानुभूति के तत्त्वचिन्तन के बाद सर्जक की अनुभूतियों का प्रस्फुटित होना। अतः यह आवश्यक नहीं है कि सर्जक और रहस्यानुभूति में साम्य हो। क्योंकि तत्त्वचिन्तन, धर्मचिन्तन, वैज्ञानिक संशोधन और समाज का निरीक्षण करने से ज्ञानोपार्जन होता है। ज्ञान के द्वारा सर्जक की चेतना अनेक सीमाओं का अतिक्रमण

करके अगम्य प्रदेशों में भी भ्रमण करती हुई अमूर्त को मूर्त कर देती है। यही कारण है कि कभी–कभी यह अनुभूति बुद्धिगम्य एवं तार्किक न होकर आत्मिक होती है। यह अनुभव इतने क्षणिक होते हैं कि तत्वदृष्टा उसका यथावत वर्णन करने में असमर्थ होता है परन्तु उन अल्पकालिक अनुभूतियों को अपनी कल्पनाशीलता में समेटकर काव्य की रचना कर देता है। इस कल्पनाशीलता पर उसकी धार्मिक प्रतिबद्धता, दार्शनिकता और परिवेश का प्रभाव होता है। कभी–कभी यह वैश्विक चेतना से जुड़कर विस्मयकारी अनुभूति बन जाती है। प्रायः प्रत्येक रहस्यदृष्टा अपनी अनुभूतियों के अन्तर्मन द्वारा उपभुक्त और सत्य मानता है। यह रहस्यानुभूति चेतन अचेतन के बीच के अन्तर को स्वीकार नहीं करती।

काव्य में वर्णित वह अचेतन तत्व भी अनुभूतिजन्य ही होते हैं भले ही साहित्यसर्जक ने उन्हें पल भर के लिये अनुभव किया हो। जगन्नाथ पाठक का काव्य भारतीय अध्यात्म एवं परमसत्ता की अनुभूति को एक अलग ही रूप में रेखांकित करता है। पढ़ने पर प्रतीत होता है कि जैसे यह लौकिक प्रेम का प्रदर्शन तो नहीं परन्तु जब बात यह आती है कि यह अनुभव मात्र पल भर का ही रहा तो ऐसा लगता है कि कवि उस अलौकिक सत्ता के प्रति समर्पित है जिसे केवल मन चक्षु से उसने पल भर को निहारा है –

तव वा मम वाऽस्ति जीवने नहि काचित्परमार्थतोभिदा
अयि रुपिणि! रूपमेव ते कुरुते दर्शकदृश्यभावनाम्
(1/1)

केशवचन्द्रदाश ने 'ईशा' में परमात्मा से मिलन का रहस्य नवीन बिम्बों के माध्यम से उकेरा है। वास्तविकता यही है कि अपने अस्तित्व का अनुभव उस परमतत्व में लीन होने में है लौटने में नहीं। संसार तो मनुष्य को बाँधता है और वह सत्ता उसे अपनी ओर खींचती है इस द्वन्द की स्थिति में जीव कभी तो लौकिक सुखों की की क्षणिकता से बँधता है तो कभी चिरन्तन सुख की अनुभूति के लिये उस ब्रह्म में लीन होना चाहता है –

नाहं निक्षिप्तकन्दुकः
प्रत्यागमिष्यामि
भूतलं संस्पृश्य
परमेको मिमिलिषुः
आषाढ़स्य बिन्दुः **(ईशा पृष्ठ–1)**

इसी प्रकार अन्यत्र भी देह की नश्वरता कवि के मन में वैराग्य उत्पन्न करती है –

अनभिज्ञशरीरतो मम
मनो विगलति
यथा कश्चिद् वयस्कप्रणवः, वृत्तित्यक्तब्राह्मणस्य मुखात्
(अलका पृष्ठ–8)

अन्यत्र भी –

संसारो निमज्जति स्वयं
अवैखरीलीलामालिकासु
हास्यं यथा चुम्बिष्यदधरे
त्वमवभाससे यदा। **(अलका पृष्ठ –2)**

संसार का सृजन और प्रलय दोनों ही उससे आबद्ध हैं। यह कर्त्तत्व जिसके अधीन है वह अपनी लीला से उसे निरन्तर संचालित करता रहता है। जीवन और जगत की अनन्त्य अनुभूति एक अनाहत नाद बनकर जीव के अन्दर गूँजती रहती है और प्राणी उस ब्रह्म के समीप पहुँचने की अपनी यात्रा को अनवरत जारी रखता है। हर्षदेव माधव की कविताएँ रहस्यवाद में डूबकर लिखी गई हैं। वे सृष्टि के कण–कण में उस अलौकिक तत्व को देखकर उसके साथ तादात्मय स्थापित कर लेते हैं। उन्हें विश्वास है कि वह सत्ता एक रहस्य है, प्रकाश है और आनन्द स्वरूपा है–

ईश्वरः
सूरदासस्य नेत्रयोः तारकरहितयोः
सूर्यरूपेण प्रतीयते
मया सहस्रपत्रेषु
ईश्वरत्वपद – 'रब्बरमुद्रा' मुद्रिता

किन्तु

न कोऽपि हस्ताक्षरमेव करोति

परन्तु दर्शन और एकाकार का द्वन्द बराबर बना रहता है अन्ततोगत्वा षोड़शचक्र में विचरण करने वाले उस आत्मा रममाण ब्रह्म को हृदय द्वारा ही देखा जाएगा।

अद्य मम हृदये
विकसितं पाटलपुष्पम्
यज्जानाति
ईश्वरत्वस्य परिभाषाम्

(स्पर्शलज्जा कोमलास्मृतिः पृष्ठ—154)

इस प्रकार रहस्यानुभूति में रहस्यात्मक विचार आते हैं और यह अनुभूति सनातन प्रतीत होती है, परन्तु इस चेतना तत्व को व्यवहारिक भाषा में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। कभी—कभी कवि जिस बात को कहता है वह वास्तव में अप्रत्यक्ष सत्ता की ओर संकेत करती है परन्तु शब्दों के अन्य अर्थ उसे लौकिक जगत से जोड़ देते हैं वह प्रिया स्वयं परमब्रह्म है जिसके बिना जीव को सांसारिक सुख फीके, रसहीन लगते हैं —

नहि जगदति रुचिरं त्वया विना

वास्तविकता यही है योगी को यह संसार उस परमतत्व के बिना सूना लगता है। उसमें एकाकार होने की तड़प ही रहस्यवाद को जन्म देती है।

6. विदेशजवाद

इस वाद से प्रभावित रचनाएँ सुदूर उन प्रदेशों, एवं देशों को अंगीकृत करके लिखी जाती रहीं जहाँ पर सर्जक ने स्वयं को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में देखा। इसमें यह आवश्यक नहीं काव्यसृष्टा उन स्थानों पर विचरण करने के बाद ही उनका सृजन करने में सक्षम हो पाया हो। अपितु कभी—कभी उन स्थानों के वर्णनों, चित्रों और प्रसंगों से वह इतना तादात्मय स्थापित कर लेता है कि उसके वर्णन स्थान के बहुत समीपस्थ प्रतीत होते हैं। इन कविताओं पर तत्कालीन स्थानीय सामाजिक मान्यताओं परम्पराओं और रुढ़ियों का प्रभाव भी

देखा जा सकता है। प्रायः अर्वाचीन कवियों ने विदेशजवाद से प्रभावित होकर अपने काव्य में उन दृष्ट, अदृष्ट स्थानों को अपनी सर्जना का विषय बनाया है। संस्कृत कवि जब अपनी यात्रा का प्रारम्भ करते हैं उसी समय विमान पर आरुढ़ होते ही उनकी काव्य यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। डॉ0 रामकरण शर्मा अत्यन्त सरल बात को कितनी सपाट बयानी से कहते हैं कि हवाई जहाज में सैर करते यात्री विमान के अन्दर खाना पीना, आनन्दित होना, लिखना—पढ़ना आदि समस्त क्रियाएँ कर सकते हैं लेकिन विमान की खिड़की नहीं खोल सकते —

पिबत खादत मोदत यात्रिणः
पठत जागृत माद्यत सीदत
लिखत पश्यत धूमयतापि च
न तु गवाक्षमवावृणुत स्वयम् **(वीणा पृष्ठ—77)**

इसी प्रकार राधावल्लभ त्रिपाठी जब अपनी योरोपयात्रा के समय विमान से नीचे हिमाच्छादित पृथ्वी को देखते हैं तो उन्हें वह दरिद्र गृहिणी की भाँति फटे वस्त्रों से आच्छादित प्रतीत होती है क्योंकि वर्फ का कहीं—कहीं पिघल जाना इस नवीन उपमान की कल्पना को जन्म देता है —

स्यूतं स्यूतं पुनरपि च यच्छीर्यते धार्यमाण
गात्रे क्लृप्तं कथमपि तथाऽऽच्छादने नालमेव
धृत्वा देहे हिममयमितं श्वेतकार्पासवस्त्रं
पृथ्वी चास्ते विकलकरणा निर्धना गेहनीव।

(सन्धानम् — 69/6)

डॉ0 त्रिपाठी ने भी अपने प्रवासजन्य अनुभवों को काव्य का विषय बनाया है। सत्यव्रत शास्त्री 'थाईदेशविलासः' में अपनी विदेशजन्य स्मृतियों को समेटते हैं तो राजेन्द्र मिश्र 'बालीप्रत्यभिज्ञानशतकम' द्वारा बाली देश को पाठकों के समीप पहुँचा देते हैं। हरिदत्त शर्मा का विदेशजन्य प्रेम उनके 'थाईभूमिरियम' में दिखाई देता है —

स्यामनामसुप्रथिता रम्या
थाईभूमिरियम
बहुसुवर्णशुचिदीप्तिराजितः

थाईदेशोऽयम।।
थाईभूमिरियम (लसल्लतिका पृ0 85)

रमाकान्त शुक्ल की यायावरी वृत्ति जब उन्हें मॉरीशस के सुरम्य वातावरण में पहुँचा देती है तब वह भावविभोर हो उठते हैं, उसमें अपने भारतवर्ष का ही रूप निहारते हैं और अन्ततोगत्वा उसे अपनी शुभकामनाओं एवं शुभआशीर्वाद का अमृत पिला ही देते हैं—

हर्षमुल्लासमोजो दधाना सदा
रत्नगर्भा धरेयं सदा राजताम्
शारदा—श्रीसपर्यापरं सत्सदा
भातु मौरीशसं भातु मौरीशसम्
(सर्वशुक्ला पृष्ठ—132)

कमलेश दत्त त्रिपाठी की 'योरोप' रचना युरोप को सुन्दरी के रूप में प्रतिबिम्बित करके लिखी गई रचना है। राधावल्लभ त्रिपाठी की आल्पस पर्वत पर 'मेघदूत' रचना भी इसी वाद से प्रभावित दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त हर्षदेव माधव की अनेकों रचनाएँ विदेशजवाद से प्रभावित हैं। 'मिस्रदेश' में पिरामिड और नाइलनदी के नवीन बिम्ब पाठकों को आकृष्ट करते हैं। विश्वदर्शन के सच्चे साधक के रूप में माधव ने विदेश की प्रत्येक अनुभूति को अपने काव्य के कटघरे में खड़ा कर उसकी व्याख्या की है। उनके अनेकों काव्यचित्र उनकी यात्राओं के साक्षी हैं। रुमानिया देश में 'ड्रेक्युला' नामक भयानक भूत प्रजापीड़ित राजा को संकेतित करता है। इस कविता में माधव ने रुमानिया देश के 'ट्रान्सिल्वेनिया' प्रदेश में ब्रानकासल दुर्ग का वर्णन किया है —

ट्रान्सिल्वेनिया प्रदेशे
ब्रानकासल दुर्गे
पर्वतशिलानिर्मितभित्तिषु
सप्ततिसंङ्ख्यकेषु कक्षेषु
जर्जरिते सूर्यप्रकाशे
सूसूकारेण सह पवनमयं कञ्चुकं परिधाय—प्रविशति
'ड्रेक्युल' इत्याख्यस्य राज्ञः प्रेतः ....
(ड्रेक्युल आसीत् प्रजापीडको राजा)

काष्ठतलोपरि श्रूयते
उलूकनादः
चित्रपटस्य भयानकः प्रेतोऽयं ड्रेक्युलः
नररक्तलोलुपो भूत्वा
भ्रमति विविक्ते
तस्य शरीरे
'डान्युब' नदीमिता तृषा,
दुर्गकक्षमिता बुभुक्षा ....
वृकसदृशी लोलुपताः
तस्य नेत्रयोः
कार्पाथियनपर्वतमालाया निर्जनत्वम्
हस्तयोः सान्ध्यवर्णं रुधिरम्
देवदार—चीड़—स्प्रुस—ऑकवृक्षाच्छादितकाननेषु
भ्रमन्ती रात्री
तस्य प्रचण्डादृहासं प्रसारयति क्षेत्रेषु
(भावस्थिराणि सौहृदानि पृष्ठ—123)

इसके अतिरिक्त सिंहलद्वीप, लद्दाख, शिलाँग आदि स्थानों को भी माधव ने अत्यन्त यथार्थ भंगिमाओं में अपने काव्य का विषय बनाया है। कहीं सागर की नीलिमा है तो कहीं पर्वतों की उन्नत शृंखलाएँ, कहीं सोमनाथ में बैठा हुआ स्तब्ध नन्दी है तो कहीं समुद्र का गर्जन शिव के डमरू के नाद सा गुंजित होता है। इसके अतिरिक्त 'ज. सेतुरामन' का श्री 'वैङ्क.टेश—महात्म्यम्' एवं 'बुशमनमोहनसिंह समागमः पर भी इस वाद की छाया दिखाई देती है इसमें 'वैङ्क. टेश—महात्म्यम्' अमेरिका के वैभव को व्यक्त करता है और 'बुशमनमोहनसिंहसमागमः' में दोनों देशों के अधिपतियों की वार्ता का वर्णन है।

7. स्वच्छन्तावाद (रोमेन्टिसिज्म)

स्वच्छन्दतावाद अंग्रेजी के Romanticism का हिन्दी अनुवाद है। सन् 1798 ई0 में वर्ड्सवर्थ के साथ ही अंग्रेजी में स्वच्छन्दतावाद का प्रारम्भ हुआ। 19वीं सदी के प्रारम्भ होते ही अनेक देशों में इसका

प्रचार प्रसार हुआ। इस वाद में मनुष्य की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति निहित होती है। समाज जब पुराने आदर्शों में जीने के लिये इन्कार कर देता है तब साहित्यकार भी उन जीवन मूल्यों से अलग अपने सृजन के बिन्दु स्थापित करने लगता है। परिवर्तन में ही जीवन की सार्थकता निहित होती है और यह परिवर्तन काव्य में भी नवबोध को जन्म देता है। यदि मानव मनोविज्ञान का अध्ययन किया जाए तो यह सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वतन्त्र प्राणी के रूप में जन्म लेता है परन्तु समाज के नियम सिद्धान्त और रुढ़ियाँ उसे निरन्तर जकड़ती जाती हैं जब कवि इस जकड़न से मुक्ति पाकर एक नवीन जीवन दृष्टि की प्रतिष्ठा करता है तब उसके काव्य में स्वच्छन्दतावाद दिखाई देता है। स्वच्छन्दतावाद के विषय में समस्त कवियों में यह धारणा एक मत से स्वीकार्य है कि प्राचीन काव्यसिद्धान्तों का अक्षरशः पालन न करते हुये नवीन तथ्यों एवं मूल्यों का काव्य में अनुपालन करना ही स्वच्छन्दतावाद है। अंग्रेजी के वर्ड्सवर्थ को इस सिद्धान्त का प्रवर्तक कवि माना जा सकता है। क्योंकि उन्होंने सर्वप्रथम काव्य को सरल एवं स्वाभाविक प्रकृति से जोड़ने का उपक्रम किया। वास्तविकता भी यही है जब कविता कृत्रिमता से सहजता की ओर संचरण करती है तब वह हृदयग्राही बन जाती है। उत्तम काव्य की पहचान भी यही है जिसमें कविता के विविध उपादानों (उपमा, छन्द, प्रतीक, बिम्ब, ध्वनि, अलंकार आदि) का सहज एवं स्वाभाविक प्रयोग हुआ हो। सहज भाषा में सहज अभिव्यक्ति करना स्वच्छन्तावादी कवियों की विशेषता है ऐसा कवि भाषा और अभिव्यक्ति के बनावटीपन से दूर रहता हे। अतः श्रेष्ठ कविता बलवती भावनाओं का स्वतः उच्छलन है। दरअसल रोमांटिक कवि स्वतः स्फूर्त अनुभूतियों के पीछे भागते हुये अपने आस–पास के वातावरण से अनभिज्ञ रहता है और अपनी उन कल्पना की तरंगों में डूबता उतराता है। प्रकृति को सहचरी मानकर अथवा सहचरी को प्राकृतिक स्रोतों में निहारता हुआ वह मानवीकरण द्वारा प्रकृति के माध्यम से मानवमन की धड़कनों को अभिव्यक्त करता है। क्योंकि यह वाद आत्मअभिव्यक्ति का प्रतिफलन है और इसलिये इस प्रकार के काव्य में व्यक्तिगत भावों का चित्रण दृष्टिगोचर होता है। परन्तु यह

प्रस्तुति प्रकृति के समीपस्थ होती है।

इस वर्णन में निजी प्रणय का उल्लास, विषाद, आशा, निराशा, स्वप्न, संघर्ष, तीव्रता के साथ शब्दबद्ध होते हैं। उत्कट संवेदनशीलता के कारण उसमें प्रणय भावना का निरूपण, प्रणयी के प्रति तीव्र आकर्षण, उसे पाने की उत्कंठा, दृष्टि में राग, ऐन्द्रिक वर्णन में लावण्यता का पुट और मिलन में आकंठ डूब जाने का आनन्द वर्णित होता है। परन्तु कभी तो यह वर्णन भौतिक उपादानों से प्रेरित होता है और कभी प्रकृति की अठखेलियों में प्रणयी मन संयोग की अनुभूति कर लेता है। बनमाली बिश्वाल की 'भ्रमर' इसी प्रकार की कविता है

कमले स्निह्यसि परं
तद्विरहे वाहयसि नाश्रु
अभिशप्तः यक्ष इव
न सूचितः मेघाय सन्देशः
'लैला' या 'मजनु' रिव
'गौर्या' वा 'केदार' इव
'सोहन्या' वा 'महीवाल' इव
कमलस्य मृत्यौ कदा
नात्महत्या कृता
तत्प्रेम अमरं कर्तुं
मरदेहं त्यक्तवान्न कदा **(ऋतुपर्णा पृष्ठ 64)**

अन्यत्र भी –

जीवनं मे मरुद्यानम्
शुष्कबालुराशिः
पुष्पं यत्र खेलति नु क्वचित्
पत्रहीनकण्टकितवृक्षे **(व्यथा पृष्ठ–8)**

कवि हर्षदेव माधव अपनी प्रणय नौका के साथ प्रिया की प्रतीक्षा करते हुए आशान्वित है कि कभी तो मेरी यह कामना पूर्ण होगी –

हे अलकनन्दे!
अहं तव लोचन तटे
प्रतीक्षा–नौकया सह

स्थितोऽस्मि
कदा तत्र वेलाऽऽगमिष्यति।
(निष्क्रान्ताःसर्वे पृष्ठ–116)

उनका रोमांस सतही नहीं है हृदय की गहराई से वे उन बिम्बों को सहेज रहे हैं जो साधारण होते हुए भी असाधारण बन जाते हैं –

प्रणयः
कम्बलसदृशोऽस्ति
दुःखशैत्ये जीवनं रक्षितुम्
प्रणयः
वासयष्टिसदृशोऽस्ति
हृत्पारावतकस्य क्लममपनेतुम्
प्रणयः वातायनसदृशोऽस्ति
आकाशस्य वृष्टिं मनसि ह्यनुभवितुं
गगनस्य विशालत्वं प्राप्तुं च
प्रणयः वीणागुणसदृशोऽस्ति
जीवनविविक्तं सोल्लासं पूरयितुम्।
(निष्क्रान्ताःसर्वे पृष्ठ–126)

इस प्रकार कभी तो कवि स्थूल जगत के चेतनामय संसार में गतिशील होकर अपने मनोभावों का उसमें संचरण करता है परन्तु कभी–कभी वह लौकिक प्रेम आध्यात्मिकता की सृष्टि करता हुआ सूक्ष्म चेतना द्वारा परमात्मा के अंश को प्राप्त कर लेता है। उसकी यही अन्तःचेतना जगत को प्रकाशित करती है। अभिराज अपने जीवन का सब कुछ इस प्रकार स्वीकार करते हैं –

मृतघट्टोऽहं मृतघट्टोऽहं
जीवतां जनानां घृणास्पदं
प्रेतानां वंशीवाटोऽहम्
मृतघट्टोऽहं
मदगार्वितलघुमाणवकोऽयं
विद्धे किं किं नो तारुण्ये? उर्वश्यभिनन्दनसम्भारे
चकॢपे कति नो नन्दनवनिका ....(मधुपर्णी पृष्ठ–92)

वस्तुतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने प्राकृत रूप में ही शिव होता है। नागर सभ्यता की कृत्रिमता उसे भ्रष्ट कर देती है। फलतः स्वच्छन्दतावादी कवियों की प्रवृत्ति प्रकृति से तादात्म्य के सिद्धान्त पर आधारित है। इन कवियों के इस नवीन चिन्तन ने काव्यध ाारा में जिस क्रान्ति को जन्म दिया वही स्वच्छन्दतावाद के नाम से विकसित हुआ।

8. मनोविश्लेषणवाद

मनोविश्लेषणवाद का सम्बन्ध मूलतः मनोविज्ञान से है। जिस प्रकार मनोविश्लेषणवाद व्यक्ति की अज्ञात अचेतन इच्छाओं, भावों, संवेदनाओं, विचारों, प्रेरणाओं, संकल्पों आदि को एक विशेष ढंग से विश्लेषित करता है। साहित्य का सम्बन्ध मानव मन से है। जब भी सर्जक अपने सृजन को पृष्ठों पर उतारता है तब कहीं न कहीं उसका चिन्तन वहाँ जुड़ने लगता है। भले ही प्रत्यक्ष रूप में कवि को इसका बोध न हो परन्तु उसके लेखन में मानव मन के क्रियाकलाप यथार्थ अथवा काल्पनिक रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं। साहित्य की प्रत्येक विध ाा में मानव मन की स्थितियाँ अवश्य वर्णित होतीं हैं। मनुष्य के अन्दर काम और अहंकार का बहुत व्यापक क्षेत्र होता है। यह प्रकृतियाँ स्वाभाविक और विकृत हो जाती हैं तो यह शुद्ध संघर्ष और दुर्व्यवहार का कारण बनतीं हैं। कभी–कभी स्वयं को सामान्य से परे करके विशिष्ट चिन्तन से अपने को जुड़ा हुआ देखता है। वह उस अलौकिक सत्ता के प्राकृतिक उपादानों में अपनी चेतना को विलीन करके सुख की अनुभूति करता है। रामकरण शर्मा की 'आकाशोऽहं विशाल' में यही अनुभव चित्रित है –

आकाशोऽहं विशालः शकलविरहितः
शून्यशून्योऽप्यनन्तः
क्षोणीनां नृत्यभूमिस्तरणिविधुबुधा–
ङ्.ारकैर्दीप्यमानः
सर्वेषामेव नित्यं सुगम इह ततः
सर्वतोऽहं प्रसन्नः
क्षुद्रैरेभिः कपालैर्घट किमिति

ममानन्ततामाच्छिनस्ति (कविद्वादशी पृष्ठ–9)

मनोविश्लेषणवादी मन को चेतन, अर्धचेतन और अचेतन इन तीन रूपों में देखते हैं। चेतन की अपेक्षा अचेतन का फलक अधिक व्यापक होता है उसमें हमारे सम्पूर्ण जीवन के अनुभव संचित होते हैं। आवश्यकता होने पर सीमित अनुभव चेतन में आकर कार्य व्यवहार एवं विचारों में बदलते रहते हैं।

चेतन मन से हम देखते हैं, अनुभव करते हैं परन्तु अचेतन मन में हमारी दमित इच्छाएँ, आकांक्षाएँ एवं सुप्त वासनाओं के अनेकों चित्र होते हैं जो सामाजिक मान्यताओं के अभाव में चेतन से अचेतन में पहुँच जाते हैं। वहीं से हमारी अभिव्यक्ति बाहर आने के लिये संघर्ष करती है प्रतीक और बिम्बों का संयोजन करती है। यदि उसे माध्यम नहीं मिलता तो यह अवरुद्ध जल की भाँति बाँध तोड़कर किसी न किसी व्यवहार के माध्यम से बाहर आ जाती है। परन्तु यह दमित वासनाएँ अपने नग्न यथार्थ पर काव्य और कला का आवरण चढ़ा कर बाहर निकलती हैं। यह सिद्धान्त फ्रायड के मत पर आधारित है। क्योंकि फ्रायड का मत है कि चेतन मन व्यक्ति, परिवार और समाज की नैतिक मान्यताओं से युक्त होता है परन्तु जब अचेतन की इच्छाएँ, वासनाएँ चेतन मन में आने लगती हैं तब वह अनैतिक वासनाओं का दमन करता है कभी तो यह दमित भावनाएँ किसी माध्यम से रूप छिपाकर प्रदर्शित हो जाती हैं और कभी वर्जनाओं के कारण ग्रन्थियाँ बनाने लगती हैं। यही ग्रन्थियाँ मनोरोग अवसाद आदि को जन्म देती हैं। इस वाद की सरणि में अर्वाचीन कवियों ने अनेक ऐसी कविताओं को जन्म दिया जिसमें उनके मुक्त काम और वर्जित भावनाओं के सैकड़ों चित्र हैं। कवि कल्पनाशील होता है, कला सम्प्रेषणपरक है अतः उसका सामाजिक महत्व है उसी के द्वारा समाज में चेतन संस्कार बनते हैं। कलात्मक अभिव्यक्ति कुंठाओं और ग्रन्थियों से मुक्ति प्रदान करती हैं इसलिये वह कलाकार के लिये आनन्द का स्रोत हैं। मनोविश्लेषणवादी मानते हैं कि दमित भावनाओं के परिशोधित रूप से ही साहित्य का जन्म होता है। केशवदन्द्रदाश की 'निशीथनिश्वासः' में विभिन्न उपमानों का भावपूर्ण प्रसंगों में वर्णन किया गया है –

रात्रियानेन
अहं विहरामि
देहे मे खेलन्ति
आन्दोलितजलपूर्णघटे यथा
अतिक्रमलिप्सवः तरङ्गा ....

(कविद्वादशी पृष्ठ–73)

राधावल्लभ त्रिपाठी के काव्य में, कथा में और आख्यानों में सर्वत्र ही सन्धान किये हुये तीव्र बाणों की अपूर्व प्रस्तुति देखी जा सकती है। काव्य की समस्त व्यञ्जनाएं उनके द्वारा उपभुक्त हैं अथवा अन्य के द्वारा। यह तो सहृदयी पाठक सरलता से अनुमान नहीं लगा सकता। परन्तु उनके काव्य में प्रेम की आवृत्ति के स्थान पर सामाजिक विकृति के अधिक चित्र हैं। सम्भवतः उनकी यायावरी वृत्ति और तीक्ष्ण निरीक्षण से उन्होंने यह अनुभव किया हो। परन्तु जो भी चित्र हैं वह बहुत ही सटीक हैं उनसे अतृप्त काम का एक रंग उभरता है –

तस्याः पीनस्तनौ दृष्ट्वा शिरः कम्पयते स्म सः
तयोरन्तरसंलग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव।।
सभायां च समाप्तायां स्थले निर्मक्षिकेऽथ सः
प्राह शिष्यमहो शान्तं पापं दौस्थ्यं न सह्यते।
सम्मुखस्थितबालाया किं कुचौ लक्षितौ त्वया
कुञ्चितं कञ्चुकं तस्या भित्वेव बहिरागतौ?
स्थाल्यां महात्मनां दृष्टं स्थापितं कुचयुग्मकम्
प्रशशंस महात्माऽसौ कृतं सुस्वादु भोजनम्

(सन्धानम् पृष्ठ–56)

इस प्रकार धर्माचार्यों की अतृप्त कामनाओं के मनोविज्ञान का जितना सटीक और स्पष्ट वर्णन डॉ0 त्रिपाठी ने किया है वह निस्संदेह इस समाज की विकृति की ओर शरसंधान करता है। मनुष्य की यह दमित कामनाएँ जब शब्दों में बँध जाती हैं तब वह काव्य के रूप मे जन्म लेती हैं और यहाँ फ्रायड का यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि दमित भावनाओं के परिशोधित रूप से साहित्य बनता है। वास्तविकता भी यही है कि कविता जब तक किसी संदेश का स्रोत नहीं बनती तब

तक अप्रभावी होती है। यह संदेश सामाजिक रुढ़ियों, विद्रूपताओं, और सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक वर्जनाओं से प्रतिध्वनित होता है। हर्षदेव माधव ने देवदत्त को लक्ष्य करके काम के अशोभनीय रूप को चित्रित किया है जिसमें वर्जित काम की ओर संकेत है –

स्नानगृह गत्वा
शिश्नदेवो भवति चित्रपटं स्मारं स्मारम्

(भावस्थिराणि – पृष्ठ 109)

अभिराज राजेन्द्र मिश्र प्रणय काव्य के कुशल चितेरे है। उनका प्रेम जितने विस्तार से काव्य में अँगड़ाई लेता दिखाई पड़ता है उतनी ही ताड़नापरक सूक्तियाँ उन लोगों के लिये हैं जो समाज में अपने दुश्चक्र से लोगों को ठग रहे हैं। कभी–कभी ऐसा लगता है कि अभिराज उन लोगों को सचेत करते हुये हुंकार रहे हैं –

क्वचिद् विस्मरेयं न जन्मान्तरेषु
कृतघ्नाऽननं लोकितं भूरि–भूरि

(मत्तवारणी–48/5)

नींद में प्रेम का पा जाना भी अचेतन से चेतन की तृप्ति कही जा सकती है एक शेर में मिश्र जी स्वीकार करते हैं –

एवमेष तन्वि भूरि ताम्यतीन्द्रियोच्चयः
यत्कलेवरं समग्रमेव मन्दुरायते
जातु निद्रितो लभे त्वदीयहृद्यसङ्गमम्
स्वप्न एव वागियं प्रबुध्य कोकिलायते।

(मत्तवारणी–96/5,6)

यहाँ इन्द्रियों का अश्व बन जाना उनकी चंचलता के साथ–साथ तीव्र काम वेग का भी सूचक है। इन प्रसंगो में एक ओर समाज से शिकायत की विकृति है तो दूसरी ओर अतृप्ति के कारण संयोग का उतावलापन है।

मनोविश्लेषणवादियों का विचार है कि जब समाज की वर्जनाओं के कारण व्यक्ति अपनी इच्छाओं को पूरा नहीं कर पाता तब वह सुप्तावस्था में स्वप्न बनकर उसे संतुष्टि प्रदान करती है कवि बनमाली बिश्वाल इस भाव को व्यक्त करते हुये कहते हैं–

निलीयते नभसीहः नभ'
खेलत्यपि समुद्रे समुद्रः
अस्तित्वं नु/ स्वप्ने हि स्वप्नस्य
त्वया सह घनिष्ठता
मम स्वप्नमयी
स्वप्ने/स्वप्ने
प्रीणाम्यहं त्वयि
त्वया मे मिलनं स्वप्ने
विरहोऽपि स्वप्ने
स्वप्नमये विरहेऽहं
पश्यन्नस्मि नित्यं
नवं नवंमिलनस्य स्वप्नम्

(ऋतुपर्णा–पृष्ठ 149)

हर्षदेव माधव इस वाद के सर्वाधिक समर्थित कवि हैं वो समाज की पीड़ा, अपना उद्वेलन और अपने विकारों की स्वीकृति अत्यन्त स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं, एक ओर अपने मन का खुलासा है तो अन्यत्र प्रेम सम्बन्धों में आने वाली कामुकता की शिकायत भी है –

वसति मनः
प्रणयपत्र नीड़े
विहगसमम!
मधुरशब्देषु ते
स्वप्नास्तु निर्मीयन्ते।
– – – –
मार्गे 'निरोधः'
नष्टं भ्रष्टं मातृत्वम्
मृतं पितृत्वम्
हतकं नागरत्वम्
हतकं कामुकत्वम्

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि पृष्ठ–61/31,27)

अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में अनेकों कवियों ने अपने हृदयगत भावों

को जिस प्रकार से अपने काव्य का विषय बनाया है। उससे स्पष्ट रूप से यह प्रतीत होता है कि कहीं न कहीं कवि ने चोट खाई है। भले ही विरह हो, घात हो अथवा अतृप्त इच्छाएँ हो। कविता में जिस प्रकार से उन्हें गूँथा गया है वह बोलते चित्र बन गई हैं।

इच्छाराम द्विवेद्वी नेत्रवाणों से बिंधकर प्राणों की मुक्ति की याचना करते हैं[1], वहीं रवीन्द्र पण्डा प्रेम की सम्पूर्णता पाकर भी कहीं अभाव को इंगित कर जाते हैं[2], हरिदत्त शर्मा को उस मोहक सुख ने बाँध रखा है[3], जनार्दन प्रसाद मणि उन दिनों को याद करके भावविभोर हो जाते हैं[4]।इस प्रकार कवियों ने तृप्त अतृप्त प्रसंगों और समाज की विद्रूपताओं को अपनी कविताओं का विषय बनाया है। आधुनिक साहित्य पर मनोविश्लेषणवाद का स्पष्ट प्रभाव यह सिद्ध करता है कि कलात्मक अभिव्यक्तियाँ कुण्ठाओं और ग्रन्थियों से मुक्ति प्रदान करती हैं और साहित्य की भूमिका इसमें सर्वोपरि है।

9. अभिव्यक्तिवाद (अभिव्यञ्जनावाद)

अभिव्यक्तिवाद में काव्य के द्वारा किसी भी व्यक्ति, स्थान अथवा भावनाओं का अतिश्योक्तिपरक वर्णन किया जाता है। इसमें वास्तविकता से परे आवेगों की अतिरंजित अभिव्यक्ति होती है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जर्मन चित्रकला में इस दृष्टिकोण का चित्रण किया गया। बाद में प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात नाटकों में भी इसका प्रयोग किया गया। इस वाद का प्रभाव परावास्तववाद और आधुनिकतावाद पर भी दिखाई देता है। इस प्रकार की रचनाओं में लम्बी कृतियों के स्थान पर तीव्र अनुभूति वाली, तीक्ष्ण संवादों वाली काव्यशैली का उपयोग किया जाता है। वाक्य के अन्त में पूर्ण विराम के स्थान पर प्रायः प्रश्नवाची एवं आश्चर्यजनक चित्रों का प्रयोग अधिक होता है। कवि माधव की कविता में जंगलों का कटना न केवल प्रकृति की भयावहता की ओर संकेत करता है अपितु इसके साथ ही मनुष्य की राक्षसी वृत्ति को भी दर्शाता है –

1. कविद्वादशी पृ0 99
2. बलाका पृ0 103,4
3. लसल्लतिका पृ0 41
4. रागिणी पृ0 27

रामायण काले
राक्षसा वने निवसन्ति स्म।
शनैः शनैः
वनानि छिन्नानि
अतः वराका राक्षसाः ....(मृगया–पृष्ठ 16)

तीक्ष्ण व्यञ्जनाओं में अभिराज निस्संदेह बेजोड़ हैं। कोई भी कवि उनके काव्यबन्धों को तोड़ने में सहज समर्थ नहीं है। अतः इस वाद की प्रतिष्ठा में उनकी रचनाएँ सर्वाधिक प्रभावी कही जा सकती हैं। मत्तवारणी और शालभञ्जिका की अधिकांश गज़लें, मधुपर्णी के कुछ गीत इन भावभंगिमाओं के बहुत से चित्र पाठक को दिखाते हैं। कनीनिका में संगृहीत गज़ल 'प्रपुनाति राजनीति' में व्यञ्जना का अद्‌भुत संतुलित समन्वय है –

दोषं मलं कलङ्क. प्रपुनाति राजनीतिः
किं किं न लोकपुण्यं प्रददाति राजनीतिः
पाटच्चरानमान्यान् प्रथितांश्च कामकीटान्
उद्धार्य कर्णधारान् निर्माति राजनीतिः (पृष्ठ 56)

अभिराज की एक अन्य गज़ल 'को नु दास्यत्युत्तरम्' प्रश्नात्मक शैली में अनेकों समस्याओं की ओ इशारा करती है –

शीतलानि जलानि कस्मादग्नयोऽथ च दाहकाः
उपरि खं कस्माद्धराऽधः को नु दास्यत्युत्तरम्?
यावदात्मसुखप्रयत्नास्तावदेव विपत्तयः
निस्सुखे सति शान्तमखिलं को नु दास्यत्युत्तरम्?
(मत्तवारणी पृष्ठ–70)

इस प्रकार की कविताओं में वास्तविक दुनिया के समक्ष दर्पण रखकर यथार्थ वर्णन किया जाता है। परन्तु यहाँ व्यञ्जनात्मक शैली के कारण वर्णन में कलात्मकता आ जाती है। दरअसल ऊर्मियों की निर्बन्ध अभिव्यक्ति ही इस वाद का ध्येय है। क्योंकि सामान्य व्यक्तियों द्वारा जिसे वास्तविकता कहा जाता है उसके साथ यह सम्बद्ध नहीं होता अपितु लम्बी कृतियों के स्थान पर छोटी–छोटी धारदार तीक्ष्ण उक्तियाँ इसका प्राणबिन्दु होती हैं। इन उक्तियों में बिम्ब, प्रतीक आदि का प्रयोग करके प्रभावी बनाया जाता है। राधावल्लभ त्रिपाठी की

'राज्यमहोत्सवः' इसी प्रकार की रचना कही जा सकती है –

उद्घाटनार्थमाहूतो राजा राज्यमहोत्सवे
याञ्चाभिः करबद्धाभिः मन्त्रिभिः साग्रहं मुहुः
भङ्ग्या भणित्या बहुशः प्रभाव्योऽद्यः प्रभुः किल
इति तेषां दिवास्वप्ना भग्नाः सूचनयाऽनया

(सन्धानम्–पृष्ठ 33)

कवि हर्षदेव माधव ने स्वीकार किया है कि वस्तुगत नवीनता एवं शिल्पगत प्रयोगशीलता इन कविताओं की अपनी शक्ति है। यही कारण है कि ये कविताएँ **"वृक्ष की तरह पनपी हैं, वर्षा की तरह फैली हैं और बम की तरह फूटी हैं"**। 'मृगया' में आतंकवाद, प्रदूषित पवन, रसायन के विषपाश से मलिन नदी का जल, एटमबम से आतंकित साँसें सब ने कवि की चेतना को स्पंदित किया है। वैश्विक घटनाओं के अनुत्तरित प्रश्न मन को बेधते हैं। प्रशस्यमित्र शास्त्री की 'व्यंग्यबहुला' नर्मदा में व्यञ्जना के अनेकों चित्र चित्रित किये गये हैं–

उत्कोच–ग्रहणे कश्चिन्निगृहीतो यदाभवेत्
उत्कोचमेव दत्वाऽसौ अभियोगाद् विमुच्यते
उत्कोचस्याऽभियोगस्य कुर्यात्तेनैव नाशनम्
पण्डितैः सत्यम् उक्तं यद् 'विषस्य विषमौषधम्'

(नर्मदा–पृष्ठ 50)

जनार्दन प्रसाद मणि ने गीत विधा में अपने भावों को उतारा है। परन्तु कहीं–कहीं इन गीतों की सहजता, तीक्ष्णता में बदल जाती है उस समय सर्जक की मानसिकता ऊर्मियों की तीव्रता से प्रभावित होकर मूल्यों पर चोट करती है –

काकैर्बकैर्नुनु पेचकैर्महिते सभाया मण्डपे
रे शारदे तव विज्ञहंससुभाषितानां का कथा

(निस्यन्दिनी–पृष्ठ 53)

वस्तुतः इस चिन्तन से यह तो स्पष्ट ही है कि अभिव्यक्तिवाद सर्जक, बिम्ब के द्वारा सृष्टि के अर्थ को समझने का प्रयास करता है, उसकी रुचि अपनी अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यक्ति पर केन्द्रित रहती है और समाज के परिवर्तित होते जीवनमूल्य उसे कभी विचलित करते

हैं तो कभी उसके समक्ष प्रश्नचिन्ह् बनकर अनुत्तरित हो जाते हैं। वास्तव में इस वाद के मूल में संभावित प्रसंगों से अलग–स्वायत्तरीति से रूपक बिम्ब को स्थापित करने वाली वैयक्तिक बातों को छोड़कर सामान्य जनता के अस्तित्व का स्पर्श करने वाली स्वानुभूति की अभिव्यक्ति है।

10. प्रभाववाद

यह वाद सर्जक के चित्त पर किसी घटना का प्रभाव पड़ने के बाद लिखे गये सृजन को निरूपित करता है। संस्कृतसाहित्य समाज में होने वाली प्रत्येक घटना को अधिकृत्य करके लिखा जा रहा है। भले ही वह भूकम्प की त्रासदी हो, बाढ़ की विभीषिका हो अथवा पोखरण में हुए बम विस्फोट के बाद की तबाही। संस्कृत का सर्जक अपने अनुभवों को साहित्य में उतार रहा है यदि सूक्ष्म रूप में कहा जाए तो घटनाओं का प्रभाव लेखकीय विषय और शैली दोनों को प्रभावित कर रहा है। बनमाली बिश्वाल की 'पोखरण–मृत्तिका' इसी प्रकार की रचना है –

कियान् कालः अपेक्षते
उष्मीकर्तुं शरीरस्य
प्रतिबिन्दु रक्तम्?
अपेक्षते कियांश्च समयः
निष्कासितुमश्रुकणान्
मृत्तिकाचक्षुषोः
वन्दिनी मृत्तिकाऽद्य
निष्ठुरगले अग्निमयास्त्रस्य।
यन्त्रणादायको नूनं
मृत्तिकायै निवेदितः
मनुष्यस्य अन्धत्वोपहारः ....
मृत्तिकार्थं कियद्रक्तपातं
भवतु सा कश्मीरस्य पञ्जाबस्य
उत पोखरन् इत्यस्य,
मृत्तिका तु स्फोटयति वक्षः **(ऋतुपर्णा पृ0 24)**

इसके अतिरिक्त कवि बिश्वाल की– 'अतिचक्रवात', 'कारगिल संघर्ष' आदि रचनाएँ भी इस वाद से प्रभावित हैं। इस वाद में यद्यपि कवि सत्य घटना से प्रभावित होता है परन्तु यह प्रभाव बिल्कुल चाक्षुष सत्य नहीं होता उसमें कल्पनाओं का संयोजन करके ही उसे कविता में उतारा जा सकता है। साहित्य और कला में ऐसा अभिगम बहुधा दृष्टव्य होता है। हर्षदेव माधव की 'भूकम्पोत्तरम्' रचना भी इसी वाद को अभिव्यञ्जित करती है –

धनस्य नास्ति मूल्यम्
किन्तु
मानवेभ्योऽस्ति
शवानां मूल्यम्
समापत्तयो जायन्ते
शवा जायन्ते
जना मृत्युं विक्रीणन्ति
मृत्यु विक्रीय धनुपार्जयन्ति ....
यदि
मृत्युर्नाभविष्यत्
तर्हि सहानुभूति–दया–धर्ममयोऽयं
व्यापारोऽपि
कुतः कुत्र कस्माद्
अभविष्यत्?

(भावस्थिराणि पृष्ठ–41)

11. घनवाद

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में चित्रकला से यह संज्ञा साहित्य में आयी। घनवादी वास्तविकता का अतिक्रमण करके अचेतन में निहित विषयवस्तु की प्रतीकात्मक गति का निरूपण करते हैं। घनवादी कविता काव्य में भाषा का ध्वनितन्त्र, रूपतन्त्र और वाक्यतन्त्र का इस प्रकार संयोजन करती है जिससे रचना का समग्रतन्त्र समय अवकाश गति का परिमाण सिद्ध कर सके। यह तथ्य को उसके मूल रूप से विच्छेदित करके आकार में रूपान्तरित करती है।

यह भौतिक आधार ही निर्माण का कारण बनता है। आकार के बीच आभ्यांतर क्रिया द्वारा समय, अवकाश एवं गति के परिमाण निश्चित होते हैं यहाँ परिमाण शब्द का शब्द से और वर्ण का वर्ण से होता है। यहाँ सर्जक की आत्मानुभूति में भावक को अपनी पैठ बनानी होती है। क्योंकि एक आकृति अनेक विचारों एवं आकारों की ओर इंगित कर सकती है ऐसे में सर्जक के विचारों से भावक को अपने विचार मिलाने होते हैं अन्यथा यह भी हो सकता है कि कविता अपने वास्तविक अर्थ से अलग हो जाए। इसे टाइपोग्राफी के रूप में भी समझा जा सकता है –

वक्रा कुक्कुर
पु
च्छ स शी
दृ

(निष्क्रान्तासर्वे पृ0–40)

यहाँ कुत्ते की पूँछ का टेढ़ापन शब्दों के साथ–साथ लेखन में भी दिखाई दे रहा है। इसी प्रकार अन्य कविता में शब्दों के साथ–साथ मुद्रिका का पतन भी दिखाई दता है –

मम हृदयं मुद्रिका भूत्वा कुत्रचित
प्र
भ्रं
श
ते

(निष्क्रान्तासर्वे पृ0–13)

यहाँ हृदय का कहीं भी भटक जाना एक संकेत है। परन्तु मुद्रिका द्वारा केवल गिरने के भाव साम्य को यहाँ आकृष्ट होने के अर्थ में नहीं समझना चाहिये। अपितु इसमें रूपतन्त्र, ध्वनितन्त्र और वाक्यतन्त्र की समग्रता निहित है। इस प्रयोग में विनिपात की स्थिति दर्शाने के लिये 'प्रभंशते' इस शब्द को अवरोह क्रम में प्रस्तुत किया है फलतः रूपतन्त्र की यह स्थिति उसके प्रक्षेपित हो जाने की क्रिया को संकेतित करती है। इस प्रयोग का ध्वनितन्त्र अत्यन्त प्रबल है।

यहाँ मुद्रिका का गिरना केवल असावधानी को ही नहीं सूचित करता अपितु चिर विरह की चेतावनी भी देता है। क्योंकि प्रेम में यह आवश्यक नहीं कि सातत्य संयोग बना ही रहे। अतः दुष्यंत द्वारा प्रदत्त अँगूठी की घटना से भी मिथकीय रूप में जोड़कर इस कथन की ध्वनि का अनुभव किया जा सकता है। वाक्यतन्त्र में हृदय और मुद्रिका सादृश्य भाव न केवल प्रणय में अभिज्ञान की अनुभूति कराता है अपितु किसी विशेष के लिये प्रिय के समर्पण को भी सिद्ध करता है। अतः इस प्रकार घनवादी विचारधारा के समग्रतन्त्र को यहाँ फलीभूत होते देखा जा सकता है। चित्रकाव्य और इसमें इन्द्रिग्राह्यता शब्दों के साथ–साथ चलती है और चित्रकाव्य में चित्र की प्रस्तुति के बाद अनुभूति का जन्म होता है। वस्तुतः यहाँ भावक के चिन्तन का फलक इतना व्यापक है कि वह शब्दों की जादूगरी को अपनी युक्ति से चाक्षुष कर लेता है।

12. प्रयोगवाद एवं प्रगतिवाद

समाज में शाश्वत मूल्यों में होने वाले परिवर्तन ने प्रयोगवाद को जन्म दिया। काव्य की समग्रता समाज से ही प्रभावित होती है। प्रयोग उस सत्य को पाने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है और दूसरा पक्ष उस प्रेषण तत्त्व को जानने का प्रयास करता है। आज की जटिल स्थितियों ने हमें परम्परागत 'व्यक्तिसत्य' और युग सत्य से दूर कर दिया है। निस्संदेह प्रयोगवादी कवि अपने युग की आवश्यकताओं और बदलते मूल्यों पर दृष्टिकेन्द्रित है। संघर्षशील जीवन में व्यक्ति की संवेदनाएँ उलझी हुई हैं। इसलिये प्रयोगवादी कवि बुद्धि और भावना के ऐसे संघर्ष में पड़ा है कि जहाँ वह अपने और श्रोताओं, पाठकों के मध्य के द्वैत को नहीं मिटा सकता। प्रयोगवादी काव्य पर अस्पष्टता और दुरुहता का आरोप लगाया जाता है परन्तु इसका कारण स्वयं प्रयोगवादी कवि नहीं अपितु वे परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं जिन्होंने उलझी हुई संवेदनाओं को जन्म दिया परिणामतः काव्य में दुरुहता का होना स्वाभाविक है।

काव्य की उत्कृष्टता एवं प्रेषणीयता कवि की कल्पनाशीलता

पर आश्रित होती है। कल्पना काव्य सृजन का एक मानक बिन्दु हो सकती है परन्तु अतिशय कल्पनाशीलता भी काव्य के साथ न्याय नहीं है। क्योंकि बौद्धिकता के अतिरेक से अनुभूति में बाधा आती है। इससे साधारण पाठक उसके साथ तादात्म्य करने में या तो असमर्थ होता है अथवा भिन्न अर्थ को अपने चिन्तन के अनुसार तोड़–मरोड़ देता है जिससे कविता का वास्तविक उद्देश्य समाप्त हो जाता है। हर्षदेव माधव की 'मानसं सरः' कविता में प्रयोगवाद दृष्टव्य है –

खण्डशो भवति
हिमीभूतं व्यक्तित्वम्।
पर्वतेषु
नतोन्नताः शिथिलाः शीतलाः विमक्ताः
असक्ताः, कुम्भकर्णगात्रकल्पाः मृदुलाः
आतपसन्तप्ता द्रवीभूता हिमखण्डाः
अवघट्टयन्ति, गलन्ति त्रुटन्ति .....

(तव स्पर्शे स्पर्शे पृष्ठ 63)

प्रयोगवादी कवि छन्द और भाषा के विषय में भी प्रयोगशील होता है यही कारण है कि छन्दों के नवप्रयोग ने अर्वाचीन संस्कृत साहित्य को अनेकों छन्द दिये हैं परन्तु मुक्त छन्द के नाम पर साहित्य के साथ निरन्तर किया गया दुराघात भी क्षम्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि मुक्त छन्द का भी एक अनुशासन होता है उसमें भी एक लय होती है जो भावक की अनुभूति और कवि की सम्प्रेषणीयता के मध्य सेतु का कार्य करती है। यद्यपि प्रयोगवादी कवियों ने प्रचलित छन्दों को अपने काव्य में प्रायः स्थान नहीं दिया है परन्तु कविता को गद्य रूप में प्रस्तुत करना उनका उद्देश्य नहीं है। मुक्त छन्द का स्वाभाविक प्रवाह उसे छन्द सिद्ध करता है। अभिराज राजेन्द्र मिश्र के मुक्त छन्द की रसमयता और लय निस्संदेह बहुत की भाव प्रवण है –

ब्रह्मांडवैभवं तिरस्कृत्य
उपविष्टश्शम्भुर्ममाग्ङणे
रोदितु गायतु वा रुद्राणी

गणपतिरपि कामं प्रगल्भतां
तमनन्तवदान्यं देवपतिं
पशुपतिमवाप्य धन्योजातः
आसं महाऽशिवश्शिवः किन्तु
संजातः कृपणाद् दानपरः
विश्वसिहि शिवत्वाऽधारोऽहं
परिपूतश्चामृतकलशोऽहम्
मृतघट्टोऽम्......................

(मधुपर्णी, पृष्ठ–97)

प्रयोगवादियों ने प्रचलित छन्दों से इतर मुक्त छन्द को प्रश्रय देते हुये काव्य के नवीन प्रतिमान स्थापित किये। इसमें प्रतीकवाद, बिम्बवाद एवं नाट्य प्रगीतवाद शामिल है। पुराने प्रतीकों के रूढ़ हो जाने के कारण वे वर्तमान जीवन की अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं हैं अतः प्रयोगवादी कवि ने नवीन प्रतीकों के माध्यम से जीवन की विसंगतियों को उभारा है। इसमें कवियों ने पौराणिक, राजनैतिक, सामाजिक, दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रतीकों का प्रयोग किया है। बिम्बवाद में कविता का विस्तार छोटे–छोटे बिम्बों में सिमट गया इससे भावों की अभिव्यक्ति को लघ्वाकार रूप देकर दृश्यात्मक चित्र विधान पर बल दिया गया।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि प्रयोगवादी कवियों का अभिमत है कि समाज में परिवर्तन के साथ ही साहित्य की मान्यताओं में परिवर्तन आवश्यक है। नवीन सामाजिक परिस्थिति और चेतना के सन्दर्भ में पलने वाला व्यक्ति जिस प्रकार के जीवन–स्पन्दनों को हृदयंगम करता है उसे मूर्त रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये भाषा में नयी अभिव्यक्ति क्षमता का संचार करना पड़ता है। इसके लिये शब्दों, छन्दों, लयों, ध्वनि प्रतीकों, बिम्बों पर प्रयोग करके अपने लिये अभिव्यक्ति के माध्यम की खोज करनी पड़ती है। इस प्रकार प्रयोगवाद एवं प्रगतिवाद के द्वारा अर्वाचीन संस्कृत की काव्य धारा में न केवल बाह्य परिवर्तन हुए अपितु आभ्यंतर परिवर्तनों के द्वारा कविता को एक नव्य रूप प्रदान किया गया।

13. आकारवाद

आकारवाद निश्चित रूप से पश्चिम की देन है, संस्कृत में इसका प्रयोग बहुत ही कम कवियों ने किया है। इसमें छन्दों द्वारा पद्य एवं भाव की ऐसी मिश्रित आकृति बनती है कि भावक एवं पाठक उसे बिना पढ़े भी अनुभव कर लेता है इसमें अभिव्यक्ति से आकार का निर्माण होता है। विविध अभिव्यक्तियाँ विभिन्न आकार सर्जन करती हैं यहाँ आकारवाद केवल चित्र रूप में काव्य का प्रतिफलन नहीं है अपितु एक प्रकार से यदि देखा जाये तो काव्य की शैली भी आकारवाद है। भाषा में हो रहे विविध प्रयोग नूतन अर्थछायाओं का साभिप्राय, विनियोग, नवनवीन पदविन्यास, अलंकार, वैचित्र्य भी आकारवाद है।

यदि देखा जाये तो जब इन्द्रिय ग्राह्य उपादान में आकृति अपने अस्तित्व को विकसित करती है तब विषय आकार धारण करता है। यह आकार और अन्तर्मन की अनुभूति से ही श्रेष्ठ कविता का जन्म होता है। फिर आकार इन्द्रगम्यता और तज्जन्य आनन्दबोध से व्यक्ति को रसानुभूति और कलानुभव की ओर ले जाता है।

यह तो सर्वसिद्ध है कि अर्वाचीन संस्कृत साहित्य उन समस्त चुनौतियों को स्वीकार कर रहा है जो युगानुरूप हैं। नवीन भंगिमाएँ हमें आकृष्ट कर रही हैं। नवीन कथ्य और शिल्प प्रयोगों के लिये संस्कृत सर्जक और विवेचक दोनों ही सतर्क हैं। हर्षदेव माधव पर्वत का वर्णन मुद्रण कला के माध्यम से करते हैं। जहाँ शब्दों की आकृति पर्वत की आकृति में बदल जाती है।

हा
धिक!
श्यामलः
पर्वतोऽयं
घनीभूतं
शोकसदृशः
जड़त्वसाक्षात्कार इव
मृत्योरनुभूतिक्षणसदृशः
भूतकाल–ध्वंसवैभव–प्रतिमः

यक्षविप्रयोग–विषादग्रस्तो विषण्णः
दुष्कृत्यजातपापैर्मलिनशरीरः पश्चातापग्रस्तः
प्रणष्टुमिच्छन्नपि स्वं जीवितं धारयति बलात्
बत! धृतराष्ट्रवद् जीविताशापीडितोऽयं वराको दीनदीनः
(निष्क्रान्ताः सर्वे पृष्ठ–38)

बनमाली बिश्वाल अर्थ छायाओं के प्रयोग से एक अन्य प्रकार का आकार रच देते हैं जिसमें प्रणय की ऊष्मा से हृदय का पिघल जाना दिखाई देता है। एक उदाहरण दृष्टव्य है –

प्रियतमे! हृदयं ते पयोहिमं किंचित्
अहमस्मि ज्वालामुखी कश्चिद् दावानलः
विभेम्यहमुष्णेन मे हृदयस्पर्शेन
तरलिष्यति नु क्वचित्
हृदा सह त्वदस्थिपंजरः
(वेलेण्टाइन डे, पृष्ठ–12)

वस्तुतः यह इस वाद के वैविध्यजन्य प्रयोग हैं जिसमें न केवल रूप चेतना का प्राबल्य है अपितु स्पर्श चेतना की अनुभूति भी की जा सकती है।

14. नारीवाद

नारीवाद नारी के शोषण के प्रत्येक बिन्दु पर अपनी संवेदनाओं को प्रस्तुत करता है। इसमें उस अनालोचित पक्ष पर दृष्टिकेन्द्रित की जाती है जिस से समाज की लगभग आधी पीढ़ी अनभिज्ञ है। ऋतु धर्म, गर्भाधान, प्रसवपीड़ा आदि का अनुभव नारी ही करती है अतः नारीवादी विचारधारा में नारी के द्वारा अनुभव की गई अनुभूतियों को शामिल किया गया है। यह अनुभूतियाँ संवेदनाओं, अनुभवों और आवेगों से जुड़ी हुई हैं। वर्तमान परिवेश में जहाँ नारी शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाई जा रही है वहीं अभी भी अनेकों बालिकाएँ शिक्षा से वंचित हैं युवा लड़कियाँ दहेज के क्रूर अभिशाप से अभिशापित हैं।

संस्कृत वाङ्मय में अनेकों कवयित्रियों ने अपनी रचनाओं में नारी पीड़ा को बहुत ही स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया है। इसमें सुभद्रा, मारुला, शीला, भट्टारिका, विज्जिका, इन्दुलेखा, फल्गुहस्तिनी, विकटनितम्बा आदि के नाम महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक युग की कवयित्रियों में नलिनी शुक्ला, पंडिता क्षमाराव, पुष्पा दीक्षित, वेद कुमारी घई, मृदुला शर्मा, मिथिलेश कुमारी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी कृतियों में उत्तर आधुनिकतावादी नारीवादी भावना झलकती है। वेद कुमारी घई ने गांधिवर्यस्य स्वप्नस्तु पूर्णो भवेत[1] में हिन्दुस्तान में व्याप्त धार्मिक, भाषिक, राजनैतिक प्रश्नों को अपने वर्णन का विषय बनाया है। वह देश के दुरावस्था से पीड़ित हैं उन्हें इस बात की बहुत ही पीड़ा है कि जो कृषक अनाज उगाता है वही उसका उपयोग नहीं कर पाता, धर्म स्थानों पर हिंसा का तांडव है और लड़कियाँ अपनी बुनियादी शिक्षा से वंचित हैं महिलाएँ उचित इलाज के अभाव में समय से पहले ही दम तोड़ देती हैं –

कृषक शिशुभिरुदरपूर्तिः प्राप्त च चेत्
श्रमिकबाला यदि शिक्षया वंचिता
जीर्ण–शीर्ण कुटीरे हि यदि रोगिणी
ग्राम्यवनिता चिकित्सा विरहिता मृता

नारीवादी चिन्तन में नारी की व्यथा के ताने बाने को नारी चेतना का रूप दिया गया है। प्राचीन साहित्य में नारी संवेदना द्वारा स्त्री का जो रूप प्रस्तुत किया जाता था उसमें शोषण की बात थी परन्तु आधुनिक समय में शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने का उसमें साहस है। अतः वही संवेदना अब चेतना से जुड़ रही है। युवा मन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या और उसका एक भाव व्यंजक चित्र निस्संदेह बेजोड़ है –

कॉलेज कन्याः ग्रन्थालये
दुग्धोत्सुकाः
सुश्री मार्जार्यः
(ऋषे क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ–54)

1. संस्कृत मंजरी, अक्टूबर 1993, मार्च 1994

परन्तु कहीं–कहीं उसकी विवशता इतनी प्रबल होती है कि सबला से दुखियारी वधू बन जाती है –

स्नानगृहं गत्वा/गृहक्लेशश्रान्ता वधूः
निःशब्दं रोदति
तदा स्नानगृहं
तस्या पितृगृहं भवति

(कष्णक्याक्षिप्तं...... पृष्ठ–49)

माधव के अनेकों उदाहरणों में नारीवाद का प्रबल रूप मुखरित है वे वेश्या की निरीहता को व्याधवधू की विवशता को बिना कहे ही समझ जाते हैं –

वासना यूपे बद्धा सा
दूयते किन्तु न हन्यते।

अन्यत्र

हरिणी हता/व्याधेन निष्ठुरेण
सायं खादिता
सा पुनश्च श्वसिति व्याधबध्वा वक्षसि

(ऋषे क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ–65)

कवि माधव को हरिणी जैसी निरीहता व्याधवधू के जीवन में भी दिखाई देती है। निष्ठुर व्याध द्वारा न जाने कितनी बार उसका बलात मानसिक वध किया होगा। इसमें नारी सम्भोग की विवशता परिलक्षित होती है। यहाँ व्याधवधू के वक्षकम्प में हिरणी के प्राणों का भय ध्वनित होता है इसको मानवीय संवेदना स्वीकार किया जा सकता है। नारी सदा से ही पुरुष द्वारा शोषित की जाती रही है। युगों के मिथक इसके साक्षी हैं। वह कभी त्यागी गई, कभी निकाली गई, कभी ठगी गई तो कभी छोड़ी गई –

केनापि रामेण त्यक्ता
केनापि नलेन निर्वासिता
केनापि दुष्यन्तेन वंचिता
केनापि हरिश्चन्देण विसृष्टा

बनमाली बिश्वाल नारी की विवशता को जब वेश्या के रूप देखते तो

प्रश्न करते हैं समाज से ?

कोऽत्र पापी?
जठराग्निं शमयितुं
याऽनिच्छया प्राकाश्येन देहं विक्रीणाति
अथवा सः
देहक्षुधा–निवृत्तये
स्वेच्छया यो गोपनेन
नित्यं भिन्नं शरीरं क्रीणाति

(व्यथा, पृष्ठ–46)

पुष्पा दीक्षित की अग्नि शिखा में प्रेम की आकस्मिता और वेदना की तीव्रता है उसमें अग्निशिखा जैसी नारी सहसा ही अपने तेज दृग बाणों से हृदय के टुकड़े–टुकड़े कर डालती है[1]। अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने 'वसन्त सेना' नामक कविता में राम, कृष्ण, शिशुपाल तथा रावण के द्वारा नारी समाज के प्रति की गई चूकों का वर्णन है[2]। इनकी वसन्त सेना सम्पूर्ण नारी समाज का प्रतिनिधित्व करती है। अतः उसकी विवशता और राजश्यालक की हठधर्मी नारीवाद की ओर इशारा करती है –

पश्य वसन्त सेने!
लता गाहते काकोऽपि
नद्यां स्नाति सारमेयोऽपि
नौकायां तिष्ठति ब्रह्मक्षत्रेतरोऽपि
वसन्तसेने!
लतेव त्वमसि
नदीव त्वमसि
नौकेव त्वमसि
सर्वभोग्याऽसि त्वं भद्रे
वेश्यासि भज सर्वं
स्वीकुरु राजश्यालं शकारम्   (मधुपर्णी, पृष्ठ–107)

1. अग्निशिखा, पृष्ठ–3
2. मधुपर्णी, पृष्ठ–106

15. शाश्वततावाद

वादों के विस्तार में मतवैभिन्नता के मध्य शाश्वततावाद का मूल्यांकन किया जा रहा है। अभिराज इस वाद का पुरजोर समर्थन करते हुये कहते हैं '' कि साहित्य एवं संस्कृति के सतत परिवर्तन में भी कुछ ऐसा तत्व होता है जो अपरिवर्तित रह जाता है। यदि सब कुछ आत्यान्तिक रूप से परिवर्तित हो जाये तो न साहित्य का अस्तित्व रहेगा और न संस्कृति का। जैसे निदाघ की वनस्पतियाँ नष्ट होते होते भी अपने बीज बिखेर जाती हैं, अगले पावस की वानस्पतिक सृष्टि के लिये, ठीक उसी प्रकार साहित्य एवं संस्कृति का भी प्रत्येक विवर्त अगले प्रस्थान के लिये अपने बीज छोड़ जाता है। सामान्यतः इसी को परम्परा कहते हैं। परम्परा का अर्थ ही है परम्परा अर्थात् जो अपने पूर्व से सम्पृक्त हो, जुड़ी हो। श्रृँखला परम्परा का पर्याय है। श्रृँखला भी तभी बनती है जब पिछला चुल्ला (छल्ला) अगले चुल्ले से जुड़ा हो। जैसे चुल्लों को पृथक कर देने से श्रृँखला नष्ट हो जाती है ठीक उसी प्रकार– पूर्व– पर (नये पुराने का) सम्बन्ध भग्न कर देने पर परम्परा नष्ट हो जाती है। वस्तुतः परम्परावाद ही शाश्वततावाद है मेरी दृष्टि में शाश्वततावाद को नये अर्वाचीन संस्कृत कविता का आदर्श मानदण्ड मानता हूँ।''

दृक (15–16) पृष्ठ–38

वास्तविकता यह है कि काल, भूत, भविष्य और वर्तमान हो सकते हैं परन्तु साहित्य, धर्म और संस्कृति किसी भी काल से जुड़कर उसके प्रवाह में नहीं बहती। वह तो नित्य नवीन है, शाश्वत है और प्रत्यग्र भी। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का शकुन्तला की विदाई का प्रसंग आज भी अपने उन्हीं मूल्यों के साथ जीवित है। इससे यह स्पष्ट होता है कि साहित्य, धर्म और संस्कृति की एक अविछिन्न परम्परा होती है जो रचनाधर्मिता का मूल आधार कही जा सकती है। कवि माधव की निष्क्रान्ताःसर्वे में 'शकुन्तलाया स्वगतोक्ति, एवं 'तव न जाने हृदयं' कविता सम्पूर्ण भावप्रवणता के साथ कालिदास की 'शाकुन्तलम' के भावचित्र खींचने में समर्थ है। अभिराज 'न हन्तव्यो न हन्तव्यः' के द्वारा आश्रम के मृग की भंगिमाओं को 'मधुपर्णी' में चित्रित कर रहे हैं। वेद

कुमारी घई की 'सीतासंदेशः' कविता नारी की विवशता और तिरस्कार की व्यथा कथा को उसी परिवेश के साथ व्यक्त करती है[1]। वास्तविकता यह है कि साहित्य सृजन के मूल तत्व समस्त कालों में वही होते हैं, काल के प्रवाह से वातावरण भले ही बदल जाये, विचारों में चिन्तन का नव्य प्रारूप भले ही समा जाए परन्तु फिर भी वर्णन में कुछ ऐसा अवश्य होता है जो सदैव अपरिवर्तित रहता है। इसी तत्व को शाश्वत कहा जा सकता है काव्य जिसे धारण करके अपनी निरन्तरता पर गर्वित हो सकता है। इसे समर्थित करते हुये अभिराज अपने ''**अभिराजयशोभूषणम्**'' में कहते हैं –

पुरातनं तथास्माकं समग्रास्तित्व धारकम्
गर्भात्पुरातनस्यैव नूतनं वस्तु जायते।

(318 / 121)

अर्थात ठीक उसी प्रकार हमारा जो कुछ भी पुरातन है वही हमारे समग्र वर्तमान अस्तित्व का धारक है। पुरातन के गर्भ से ही नूतन वस्तु का जन्म होता है।

वास्तव में कालिदास आदि कवि भी अपने समय और देशकाल में आधुनिक रहे होंगे परन्तु आज अन्य कवियों को आधुनिक अथवा उत्तरआधुनिक कहने का चलन चल रहा है। यहाँ समस्या यह है कि इसके बाद के कवियों को क्या उत्तर–उत्तरआधुनिक कहा जायेगा और तदनन्तर आने वाली कवि परम्परा कितने उत्तर अथवा उत्तरोत्तर की संज्ञा का प्रयोग करेगी। अतः प्राचीन अथवा आधुनिक, उत्तर आधुनिक जैसे वाद के स्थान पर शाश्वततावाद को मानना अधिक समीचीन है, ऐसा अभिराज का मत है। वे स्वीकार करते हैं कि –

तदेव शाश्वततं यन्नो कदापि परिवर्तते
शाश्वततेनैव तेनैदं धृतं काव्यञ्च जीवनम्
ततशशाश्वततावादे श्रद्धा मम महीयसी
येन प्रवर्तते सृष्टिः काव्ये धर्मेऽथ संस्कृतौ।

(अभिराजयशोभूषणम् 321 / 133,134)

1. विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम् पृष्ठ–361

वस्तुतः कहने का अभिप्राय यह है कि इस वाद के समर्थक इस तथ्य पर अडिग हैं कि साहित्य अपनी प्राचीनता के साथ जुड़ा होता है और उसमें पूर्णतः नवीन कुछ नहीं होता है, समस्त काव्य का उत्स वही शाश्वत तथ्य है, जो काव्य की आत्मा के रूप में सर्वत्र विद्यमान होता है।

16. जनवाद

अंग्रेज मनीषियों ने संस्कृत कविता पर दरबारी होने का आरोप लगाया है। उनका मत है कि संस्कृत काव्य स्तुतिपरक रहा है। भले ही वह देवी–देवताओं की स्तुति के लिये लिखे गये स्त्रोत हों अथवा राजा–महाराजाओं के लिये लिखे हुये प्रशस्तिगान। परन्तु उनमें समाज की चेतना का प्रस्फुटन कहीं मौजूद नहीं है। यह तथ्य उनके कोरे अज्ञान को व्यक्त करता है। यद्यपि महाकाव्यों, खण्डकाव्यों में राजसी वैभव, महल, उपवन, प्रकृति, प्रेम एवं वियोग के दृश्य और प्रभात संध्या अथवा रणप्रयाण का वर्णन मिलता है। परन्तु महाकाव्य आदि ग्रन्थ निर्दिष्ट लक्षणों के ऊपर आधारित होने के कारण नियमबद्ध होते हैं। अतः कवि वहाँ चाहे–अनचाहे उन स्थितियों को अपनी रचना –धर्मिता में समेट लेता है। परन्तु यह वर्णन कभी तो सत्य होता है और कभी कृत्रिम। यत्र–तत्र कल्पित दृश्य उसके काव्य में सजाये जाते हैं। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कवियों को झुग्गी झोंपड़ियों की पीड़ा का अनुभव नहीं है। सामान्य जनता के दुःख दर्द में उनकी सहभागिता नहीं है।

यदि हम स्फुट कविताओं की बानगी देखें तो कविता का जनवादी रूप वहाँ पूरी निष्ठा से हमें दिखाई देता है। सदुक्ति कर्णामृत आदि संग्रह ग्रन्थों में हजारों कवियों की ऐसी रचनाएँ संगृहीत हैं। जिनमें किसानों, पामरों दिहाड़ी मजदूरों और भिक्षुकों की मार्मिक दीन दशा का वर्णन मिलता है। राधा वल्लभ त्रिपाठी की 'जनतालहरी' में समाज के निचले वर्ग की विवशता मुखरित हुई है। इसके अतिरिक्त उनके काव्य संग्रह 'संसरणम्' में इस भाव की गूँज शब्दों में उतरती दिखाई देती है –

हाहाकारः सहस्राब्दैः शोषितानां तपस्विनाम्
चीत्कारस्तु तथैवाहं दलितानां तथा सताम्

(32 / 16)

वास्तव में यदि देखा जाये तो अर्वाचीन संस्कृत काव्य ने जनवादी विचारधारा को अधिक प्रश्रय दिया है। इससे पूर्व की रचनाओं में हमें शृंगार और देश–प्रेम के प्रसंग अधिक हृदयग्राही प्रतीत होते हैं। कहीं स्वतन्त्र होने की अभिलाषा है, तो कहीं स्वतन्त्रता के बाद उसे सहेजने क उपक्रम। कहीं प्रिया से संयोग के कुहकते सावन हैं तो कहीं विरह की मर्मस्पर्शी व्यञ्जनाएँ। उस समय की रचनाओं में यदि गरीब मज़दूर की बात कहीं कही भी जाती तो उसे भाग्य का आदेश मानकर स्वीकार कर लिया जाता था। परन्तु आज जिस जनवादी सोच ने काव्य में प्रवेश किया है उससे कवि की सर्जना ने एक नया रूप ले लिया है। आज कवि बहुत सूक्ष्मता से उस दर्द को उभार रहा है जो विशेष वर्ग को भोगना पड़ता है। अभिराज ने झुग्गी झोंपड़ी वाले इन दिहाड़ी मजदूरों की पीड़ा को बहुत करीब से महसूस किया है। यही कारण है कि उनके शब्दों में उनका बेबस रूप पाठक सहजता से अनुभव कर जाते हैं। उनकी कई गज़ल जनवादी काव्य का अनुपम उदाहरण हैं। भले ही वह चारों ओर से घिरे हुये पामरो की झुग्गी झोंपड़ियों को व्यक्त करती हों अथवा घर की दरिद्रता में दरिद्रनारायण की अनुभूति में डूबी व्यथा कथा हो –

पानाय मल्लको नो पात्रं न भोजनाय
स्यूतानि चीवराणि श्रित्वा न लज्जतेकः?
भूषितकुटुम्बिसंधां विलसत्करेणुरभ्याम्
मशकैकधर्मशालां दृष्ट्वा न खिद्यते कः?

(कनीनिका 44 / 3–4)

इस प्रकार अभिराज सदैव सर्वहारा समाज की उन्नति चाहते हैं उनकी प्रगति के प्रत्येक कदम को वह देश की प्रगति का सोपान मानते हैं। उनकी अनेक गज़ल और गीतियाँ इसका प्रमाण हैं कि जन–जन की व्यथा उन्हें कितना व्यथित करती है। शिवशरण शर्मा 'द्विवेदी' निर्धनता के कारण होने वाली पीड़ा का अनुभव पाठकों से बाँटना चाहते हैं।

भले ही वह स्त्री हो, पुरुष हो, लड़की हो, वृद्धा हो अथवा अबोला बचपन हो। धनहीनता का दंश कैसे सबको डसकर विवश बना देता है। –

निर्धनता नाश्यते त्वरितमिति शब्दाः सदा श्रुताः
सा तु नित्यमेधते किन्तु नश्यति दीना जनता
वेश्यालयेषु विक्रीयन्ते निर्धन–जनक–सुताः
चिन्त्याऽद्य वृद्धा जाता क्रीडन–योग्या शिशुता

(विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम् 315/2)

बनमाली विश्वाल समाज की व्यथा को अपनी व्यथा मानते हैं। अतः उन्हें एक सच्चा जनवादी कवि कहा जा सकता है। वे फुटपाथ पर भटकते, सोते, वीथिकुक्कर सदृश असहाय दीनहीन के लिये भी अपने काव्य में स्थान रखते हैं –

त्वं किन्तु कुत्सितोऽसुन्दरः
स्नानं तव पौरिसभानिर्गमे वा
पङ्किंले क्व दुर्गन्धतडागे,
देहे तव स्थायीवासः
यूकानां लिक्षानां
देहादपि निःसरति दुर्गन्धमसह्यम्
इतस्ततः भ्रमसि 'कंगालः'
न च भुक्तं गृहे किञ्चित्
खादसि अखाद्यम्
अपि न वमसि भुङ्क्त्वा
उच्छिष्टं तममेध्यभोजनम्?

(व्यथा पृष्ठ–881)

इसी प्रकार हर्षदेव माधव ने भी अपनी अनेकों रचनाओं में समाज के निर्बल वर्ग पर अपने चिन्तन को केन्द्रित किया है।

अन्ततः यह सर्वमत से स्वीकार किया जा सकता है कि कवि की चेतना यथार्थ से जुड़ रही है। अब वह कल्पना लोक का प्राणी नहीं अपितु हमारे समाज के बीच में रहकर ही उसका दिल भी धड़कता है। वह उस प्रत्येक संवेदना का साक्षी बनना चाहता है जो

उसके आस–पास जन्म लेती है। अतः जनवाद के रूप में कविता का यह स्वरूप कवि की चेतना में पैठ बना चुका है।

हाँ एक बात अवश्य हमारे समक्ष प्रश्नवाचक चिन्ह पैदा करती है कि साम्यवाद में भी ऐसे ही निर्धन वर्ग की पीड़ा व्यञ्जित होती है, उसके रुदन को रेखांकित किया जाता है, फिर साम्यवाद और जनवाद में क्या फर्क है? दरअसल साम्यवाद एक राजनैतिक आन्दोलन है और इसमें आस्तिकता का अभाव है। यह वाइ ईश्वर को नहीं मानता। समस्त वर्ग भेद और अत्याचार के लिये वह मनुष्य को दोषी मानता है। इसका उद्देश्य अमीरों से धन सम्पत्ति छीनकर गरीबों को देना है जिससे समाज में आर्थिक समानता हो जाये। यह राजा और रंक सब को समान स्थान का अधिकारी समझता है। इसके विपरीत जनवाद एक सामाजिक सोच है जो अपने कष्टों का कारण अपने जन्म–जन्मान्तरों के कर्मों को मानता है। यह वाद ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है। सर्वहारा की अनुभूतियाँ उसकी अपनी पीड़ा का परिणाम है। यह वाद सम्पत्ति को छीनने में विश्वास नहीं रखता। इसका संकल्प अपने कर्मों का प्रतिफल भोगने में है, पाप–पुण्य की व्याख्या करने में है और अपने अगले जन्म को सुधारने में है। परन्तु मूल रूप में देखा जाये तो दोनों ही वाद जन आन्दोलन से जुड़े होने के कारण भाव की दृष्टि से समीपस्थ प्रतीत होते हैं।

वस्तुतः संस्कृत लेखन पर विभिन्न वादों ने अपना प्रभाव अवश्य छोड़ा है यह निर्विवाद रूप से सत्य है। इन वादों के स्वरूप संख्याओं और प्रस्तुति में अन्तर हो सकता है। आधुनिकतावाद, उत्तर आधुनिकतावाद, शाश्वततावाद एवं परावास्तववाद आदि अनेक वाद आज भी विमर्श का विषय बने हुये हैं। वाद के साथ जब प्रवाद जुड़ता है तब ही सर्जना का जन्म होता है यही सर्जना संवाद बन जाती है इनकी लम्बी परम्परा ने ही काव्य में विविधता के रंग भरे हैं। अतः मनुष्य के अन्तर्मन को समाज से जोड़कर साहित्य ने उसे नैतिक मान्यताओं, सौन्दर्य और नवीन मूल्यों के प्रति सचेत किया है। अतः यह तथ्य सर्वमान्य हैं कि विषमताओं और विविधताओं के रहते हुये भी समस्त कवियों ने नवीन जीवन दृष्टि की प्रतिष्ठा की है।

अध्याय 3
आधुनिक कविता में परिवर्तन

नयी कविता वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतस व्यक्ति की प्रतिक्रिया है। विविधतापूर्ण स्वर को व्यक्त करने वाली इस कविता में व्यक्ति और समाज दोनों को मापने की पूर्ण सामर्थ्य है। भले ही इसमें शास्त्रीय लक्षणों का पूर्ण रूपेण प्रयोग न किया जा सके परन्तु यह निश्चित है कि इसमें एक तो कवि का कथन सरल है और दूसरा उसके कथन में कुछ अनूठापन है जिसे सुनकर श्रोता चमत्कृत हो उठता है परन्तु इसके साथ ही आधुनिक कविता का वैशिष्ट्य यह अवश्य होना चाहिये कि उसका लालित्य और मधुरता ह्रदयग्राही हो।

अभिव्यक्ति, प्रेषणीयता तथा उपलब्धि की दृष्टि से नयी कविता ने नवीन भावभूमि पर स्वयं को प्रतिष्ठित किया है यद्यपि प्रयोगशील कवि के मन में अपने मार्ग को लेकर संशय की स्थिति थी परन्तु फिर उसने मर्यादा और मूल्यों के संघर्ष के बीच स्वयं को स्थापित किया। वह परिस्थितियों से जूझकर भी लिख रहा है। अतः आधुनिक कविता के परिवर्तन के निम्न सोपान हैं –

1. बौद्धिक और तात्विक दृष्टिकोण।
2. युगबोध में निहित सत्य को ग्रहण करना।
3. विघटनकारी परिस्थितियों में भी अस्तित्व सरंक्षण में विश्वास।
4. विचार के स्थान पर वस्तु के प्रति विशेष आग्रह।
5. छन्द के स्थान पर विचार केन्द्रित कविता।
6. श्लील अश्लील के दायरे से मुक्ति।
7. सीधी, सरल एवं चुटीली अभिव्यक्ति।

वस्तुतः इस सभी विशेषताओं को कवि माधव ने अपने वक्तव्य में समाहित करते हुये दृक में व्यक्त कहा है[1] कि "बिम्ब, प्रतीक, मिथक रूपक ग्रन्थि, वास्तववाद, परावास्तववाद, कौतुकवाद, तरंग आदि अनेकों संज्ञाएँ हैं जिनके बिना नई कविता दुर्बोध, सारहीन, अर्थहीन लगने की सम्भावना है"।

1. दृक् 4/40

आधुनिकता अब समकालीन कविता की आत्मा कही जा सकती है क्योंकि यह कविता के सर्वाङ्ग. में प्रवाहित है। हमारा अतीत भी कभी आधुनिक था परन्तु कालक्रम से अब वह पारम्परिक कहा जा रहा है। आज जो समकालीन है वह पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त नहीं है। रवीन्द्र पण्डा के अनुसार आधुनिक कविता में निम्नलिखित वैशिष्ट्य दर्शनीय हैं[1] –

1. मुक्त छन्दरचना।
2. प्रान्तीय भाषीय छन्दों का स्वीकरण।
3. सरल संस्कृत का प्रयोग।
4. वास्तविकता की अभिधेय अभिव्यक्ति।
5. नवीन शैली।
6. क्षुद्र कविता।
7. चित्रकल्प रूप कल्पों का प्रयोग।
8. प्रान्तीय भाषा एवं विदेशी भाषाओं का संस्कृतीकरण।
9. अभिव्यक्ति में विविधता।
10. एक बिम्बात्मक काव्य आदि नवीन विधाओं का प्रचलन।

चाहे वह हर्षदेव माधव का कथन हो अथवा रवीन्द्र पण्डा का। आधुनिक कविता के परिवर्तनों को बहिरङ्ग. एवं अन्तरङ्ग. के भेद से दो भागों में देखा जा सकता है। बहिरङ्ग. परिवर्तन उसकी भाव भंगिमाओं को दर्शाता है और अन्तरङ्ग. परिवर्तन उसके स्वरूप पर दृष्टिकेन्द्रित रखता है।

बहिरंग परिवर्तन

बहिरंग परिवर्तन में आधुनिक कविता की लेखन–शैली समाविष्ट की जा सकती है। आज एक निश्चित छान्दस् स्वरूप से विद्रोह करके कविताओं में नित नवीन प्रयोग किये जा रहे हैं जिनमें केवल विदेशी छन्दों का पिष्टप्रेषण नहीं है अपितु कुछ ऐसे परिवर्तन भी हैं जो पाठकों को चमत्कृत कर देते हैं जगन्नाथ पाठक संस्कृत को गज़ल में उतार कर केवल छन्द रचना की दृष्टि से चमत्कार नहीं कर रहे अपितु वह इस तथ्य को झुठला रहे हैं कि संस्कृत पंडिताऊ भाषा और एकरस मीटर पर चलने वाली भाषा है। इन बहिरंग परिवर्तनों से

1. दृक् 5/56

संस्कृत भाषा में जो युगान्तर आया है वह प्राची का अरुणोदय है जिसके प्रकाश में संस्कृत आज भी समस्त व्यवधानों को अँगूठा दिखाकर दूर्वा की भाँति विकसित है। आज चुनौतियाँ सामने हैं यदि हम उन्हें स्वीकार नहीं करेंगे तो पिछड़ जायेंगे इसलिये संस्कृत साहित्य भी उन्हें स्वीकार करता हुआ युगानुरूप स्वयं को सुसज्जित कर रहा है। नीर क्षीर विवेक युक्त पाठक उसके इस रूप पर मुग्ध है। नवीन प्रतिमान स्थापित किये जा रहे हैं, नवीन भंगिमाएँ हमें आकृष्ट कर रही हैं अब हम पुरातनपंथी होने के स्वाँग से बच रहे हैं। संस्कृत सर्जक और विवेचक दोनों ही सतर्क हैं नवीन कथ्य और शिल्प में प्रयोग किये गये ये नवीन मानदण्ड निश्चित रूप से श्लाघनीय प्रयास कहे जा सकते हैं।

टाइपोग्राफी

टाइपोग्राफी का अभिप्रायः है मुद्रणकला का प्रयोग। आज की कविता में मुद्रणकला की विशेषता का प्रयोग अत्यन्त सफलता से किया गया है। रेवाप्रसाद द्विवेदी की प्रमथ काव्य संग्रह में टाइपोग्राफी का प्रयोग है। अर्वाचीन काव्य का उद्देश्य कम समय में अधिक इन्द्रियग्राह्यता है। जब शब्दों को भावों की अनुभूति में चित्रित कर दिया जाता है तब शब्द चित्र पाठक के समक्ष उपस्थित होता है और इसे पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती वह अपने लेखन आकार से भाव को व्यक्त कर देता है। वस्तुतः टाइपोग्राफी की युक्ति से सब कुछ चाक्षुष हो जाता है और व्यञ्जना के साथ नयनरम्यता प्रस्तुत होती है। इसकी सहायता से आकारवादी विवेचन भी प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे पर्वतः[1] कविता शब्दों के प्रयोग वैचित्र्य से पर्वत का आकार प्रस्तुत करती है। प्रतिच्छाया[2] में परछाई का उल्टा गिरना और "**दी ई ई ई ई ई ....र्घा..... आ...आ....आ.....**

न

म

ति शनैः शनैः ....वृद्धावस्थात्[2]" में परछाई के लम्बे

1. निष्क्रान्ताः सर्वे पृष्ठ–38
2. निष्क्रान्ताः सर्वे पृष्ठ–40

होने का आभास मिलता है।

इसके अतिरिक्त

पाण्डुरसूर्यः[1]

शु

ष्क

प

र्ण

प

त

न

म्

में पत्ते का नीचे गिरना और–भुजङ्ग. एवं वन की वक्रता

ज च्छा

व भु ङ्ग. या

न मिषेण विसर्पति

व

क्रि

मा[2]

में प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त अन्य उदाहरण भी दृष्टव्य है –

वक्रा कुक्कुर

पु

च्छ

स शी[3] (पूँछ का आकार)

दृ

वृक्षाग्रे

पश्य

शुष्के[4] (में वृक्ष की गोलाई)

1. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि पृष्ठ–05
2. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि पृष्ठ–05
3. निष्क्रान्ताः सर्वे पृष्ठ–40
5. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि पृष्ठ–06

अन्यत्र –

मम हृदयं
मुद्रिका भूत्वा कुत्रचित्
प्र
भ्रं
श
ते[1]

इसमें मुद्रिका निपात को अक्षर निपात से अत्यन्त कुशलतापूर्वक चित्रित किया गया है।

'मेषप्रशस्तिः गीति' टाइपोग्राफी का विशिष्ट उदाहरण है –

मेषा.मेषा.मेषा मेषा मेषा मे मे मे मे मे षाः षाः षाः षाः. .... खादन्तु खादन्तु तु तु तु तु ..... चर्वन्तु चर्वन्तु. तु. तु..तु. ... हा धिक् मेषान्! हा धिक् धिग् धिग् धिङ् मेषान् हा धिक् भूढ़ान् हा धिक! हा धिग् धिग् धिक्।।[2]

संदिग्धता

कभी कभी काव्य अपनी अर्थवत्ता को पूर्ण ईमानदारी से व्यक्त नहीं कर पाता और कई बार व्याख्या होते होते अर्थ अपने मूल भाव से ही भटक जाता है। प्रत्येक सहृदयी अपने मनोभावानुसार उसका अर्थ ग्रहण करता है अवान्तर में स्थिति यह हो जाती है कि कवि ने यह पंक्ति जिस प्रसंग में कही है वही विलुप्त होकर किसी अन्य ही प्रसंग को जन्म दे जाती है। सम्भवतः आचार्य आनन्दवर्धन ने इसी संदिग्धता की ओर अपनी इस कारिका में संकेत किया है –

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांङ्गनासु।।

1. निष्क्रान्ताः सर्वे, पृष्ठ–13
2. भावस्थिराणि.......... पृष्ठ–264

वस्तुतः कवि का चिन्तन व्यापक होता है। वह जो लिखता है वही कहना नहीं चाहता अपितु उससे कई गुना अधिक अर्थ उसकी कृति में रहता है। अतः अस्पष्ट जो अन्यार्थ है वही संदिग्धता है। काव्य में इसके होने से अर्थ का विस्तार होता है। व्यञ्जना का जन्म भी इसी पर निर्भर है। कवि की प्रतिभा और विदग्धता से अनेकानेक संदिग्धताएँ आ सकती हैं। संकुल और जटिल जीवन पद्धति, शब्द के नव संस्करण, नवीन परिभाषाओं का उदय, चित्तवृत्ति की प्रतिक्रियाएँ कवि के द्वारा नयी भाषिक सरंचना में नवशब्दों के सृजन का प्रयत्न इन संदिग्धताओं का जिम्मेदार है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि भाषा किसी एक खण्ड अथवा अंश के प्रति वैकल्पिक प्रतिक्रिया को जब अवकाश दे वही संदिग्धता है। वस्तुतः किसी भी कृति में लेखक को क्या अभिप्रेत है जब उसके विषय में पाठक को असमंजस से गुजरना पड़े तब वहाँ संदिग्धता होती है। यद्यपि श्लेष में भी द्विअर्थीशब्द होते हैं उसका दूसरा अर्थ भी स्पष्ट होता है इसलिए वहाँ संदिग्धता नहीं मानी जा सकती। नाटकीय वक्रोक्ति अथवा व्यंग्योक्ति में संदिग्धता का अस्तित्व होता है। विलियम एम्पसन इसके तीन आधार बिन्दु स्वीकार करते हैं –

1. तर्क अथवा व्याकरणगत प्रमाण
2. संदिग्धता का अनुभव करने के लिये समानता का प्रमाण
3. मनोवैज्ञानिक संकुलता का प्रमाण

इसके अतिरिक्त अन्य भी कुछ ऐसे तत्व हैं जिनसे संदिग्धता प्रभावित होती है। यथा –

1. कभी कभी वाक्य को अधूरा छोड़कर संदिग्धता उत्पन्न की जाती है यद्यपि यह संदिग्धता अस्थायी होती है जिसमें पाठक अपने मनोवृत्तिजन्य अर्थ को वहाँ स्वयं स्थापित कर वाक्य पूर्ण करता है जैसे –

रामायण काले
राक्षसा वने निवसन्ति स्म।
शनैः शनैः,
वनानि छिन्नानि।
अतः वराका राक्षसा........। ('मृगया' पृष्ठ 16)

यहाँ राक्षसों की बेचारगी का कारण वनों का कटना यद्यपि निर्दिष्ट अर्थ नहीं है परन्तु वाक्य की अपूर्णता के कारण ही यह संदेह उत्पन्न होता है कि वनों के कटने से क्या सर्वाधिक हानि राक्षस समुदाय की हुई है? परन्तु लेखक का अभीष्ट औद्योगिकीकरण एवं नगरीकरण की प्रवृत्ति के कारण समाज में फैली राक्षसी वृत्ति को इंगित करना है जो इस युग का एक कटु सत्य है।

2. कवि के द्वारा पाद पूरण शब्द भी वाचक को सूचित करता है कि उसे किस पूर्व धारणा के साथ काव्य पढ़ना है। यथा –

लड.कायां सीताया एकदैव ह्ययपहरणं जातम्
लड्.कायां, समृद्धिरासीत्
(रावणस्य बेन्क अकाउण्ट व्यवस्था स्वीस बेन्के नासीत्)
रावण एक एव मतिभ्रष्ट आसीत्
स्वर्णभित्तिषु, आतंकवादस्य छाया नासन्
(रामजन्मभूमिविवादोऽपि नासीत्)
(मन्दोदर्यो विदेशप्रवासेषु रावणैः सह न जग्मुः)
लड.कायाम्
एको विभीषणोऽपि आसीत्।

(मृगया पृष्ठ 16)

प्रस्तुत उदाहरण रामायण की पूर्वधारणा के साथ ही पठनीय है इसमें विभीषण सत्य एवं न्याय का प्रतीक है और वर्तमान परिवेश उससे रहित होने के कारण मानो रावण राज्य से भी विकृत हो रहा है।

3. शब्दों के विभिन्न अर्थ होते हैं उनमें से कुछ अर्थों के जुड़ने से नवीन भाव बोध को जन्म देते हैं। शब्द एवं वाक्यखण्ड में एक अथवा दूसरी वस्तु संकेतित होने पर एक ही विधान के कई अर्थ हो जाते हैं इससे संदिग्धता को अवकाश मिलता है। नाद तत्वों के साथ जुड़े हुये शब्द के लाक्षणिक अर्थ होते हैं जो कि कविता के मूल अर्थ को परिपोषित करते हैं। परन्तु कभी कभी अलग अलग तरह के काव्य वाचन से भी संदिग्धता जन्म लेती है।

इसके साथ ही बहुअर्थी शब्दों का अर्थ जब वाचक के द्वारा एक ही अभिप्राय में स्वीकृत किया जाता है तब भी 'संदिग्धता' आ जाती है। यथा –

भूमौ
निमग्नेष्टकायाश्चीत्कारं
भित्तेरिष्टकाऽपि न शृणोति
हे पुत्रवधु! **(पुरायत्र स्त्रोत पृ0 88)**

यहाँ ईंट शब्द का सन्दर्भ बदल जाता है। गृह के कार्यभार में एक कुटुम्ब के द्वारा दमन को सहन करती हुई गृहिणी की आवाज या चीख दब जाती है। ऐसा कवि का कथितव्य 'पुत्रवधु' शब्द समझे बिना 'संदिग्ध' रह जाएगा। दीवार की ईंट पति, सास, ननद हैं और नींव में दबी ईंट वह स्वंय है। परन्तु एक अन्य उदाहरण में 'इष्टका' शब्द किस प्रकार रूप बदल लेता है यह अन्यत्र दृष्टव्य है –

प्रतिदिनं
एकाम् इष्टकां चोरियत्वा
कथं नु
निर्माणं करिष्यथ भविष्यस्य
हे भारतभाग्यविधातारः

(पुरा यत्र स्त्रोतः पृष्ठ 91)

राष्ट्रगीत में 'भारतभाग्यविधाता' शब्द एक वचन में प्रयोग करके 'नेताओं' की ओर संकेत किया गया है। 'इष्टकां चोरयित्वा' से भ्रष्टाचार की गन्ध आती है। परन्तु केवल शब्दों का परिवर्तन संदिग्धता की अनुभूति कराता है।

4. दो विचार एक ही शब्द के द्वारा व्यक्त हों तब संदिग्धता उत्पन्न होती है –

दिल्ली/निष्प्राणाः
समाधयः/सौधामृताः/
निर्जीवा चितिः (ऋषेः क्षुब्धे चेतसि पृष्ठ 35)

5. कभी कभी दो अर्थों का आपस में मेल नहीं होता परन्तु दोनों अर्थ एक होकर लेखक की मनोदशा को स्पष्ट करते हैं। यह दो मनःस्थितियों की क्रिया प्रतिक्रिया तीसरे भाव को जन्म देती है –

कोलेज कन्याः

ग्रन्थालये / दुग्धोत्सुकाः, सुश्री मार्जार्यः।

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि पृष्ठ 54)

'सुश्री मार्जार्यः' जो दुग्ध हेतु लालायित हैं उसे ग्रन्थालय में बैठी कॉलेज कन्या से साम्यता दिखाना ऐसी ही संदिग्धता है इसके बहुअर्थी अभिप्राय पाठक की मनोवृत्ति पर निर्भर है। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में 'कॉलेज कन्या' और 'मार्जार्यः' का कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ उपमान उपमेय का साम्य भी दृष्टिगत नहीं होता है परन्तु इसमें कन्या का अवस्थाजन्य प्रेम, उसकी लक्ष्य दृष्टि, उद्देश्यपरक शिक्षा और एकाग्रता आदि अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं। जो 'संदिग्धता' के अवकाश में ग्राह्य नहीं हो सकते हैं।

6. कभी कभी विचारों को एक साथ अनुभव नहीं किया जा सकता उसकी उपमा दो वस्तुओं के बीच में आ जाती है। इसमें वह वस्तु की तुलना अस्पष्ट भाव अथवा संवेग से करने लगता है –

अराला केशेषु प्रकृति सरलामन्दहसितेशिरीषाभा
गात्रे हर्षदिव कठोरा कुचतहे।
भ्रंशतन्वी मध्ये पृथुरुरसि वरारोहविषये जगत् त्रातुं
शम्भोर्जयति करुणा काचिदरूणा।।

(सौन्दर्यलहरी–92)

अर्थात केशपाश में वक्र, मन्दहास्य में प्रकृति से सरल गात्रों में शिरीषपुष्प के समान कोमल, कुचतह में पत्थर जैसी कठोर, मध्यभाग में सूक्ष्म, जघन में विपुल, शिव की लाल रंग की करूणा (रूप त्रिपुर सुन्दरी) जगत की रक्षा के लिये जय प्राप्त करें।

केशों में वक्र
हास्यों में सरल
शिव की करुणा **गात्र में शिरीष पुष्प तुल्य**
कुच में पत्थर जैसी कठोर

मध्यभाग में सूक्ष्म
जघन में विपुल

यहाँ करुणा का लाल होना एवं उसके विशेषण संदिग्ध हैं, सम्पूर्ण विशेषताएँ कवि प्रतिभाजन्य हैं।

7. कवि पुनरुक्ति द्वारा, विरोधमूलक तर्क द्वारा, असंबध्य विधानों के द्वारा वक्तव्य प्रस्तुत करता है तब भी 'संदिग्धता' बनती है। ब्याजस्तुति संदिग्ध प्रशंसा आदि का समावेश इसमें होता है। विपरीत लक्षणा भी इसे प्रभावित करती है। प्रियतमा के उदाहरण –

श्रुतमासीत् पूर्वं मया नारी क्षमामयी,
ममत्वास्याधारशिला काचित् स्नेहमयी।
अद्य वत! नाहं प्रत्यवैमि
कोमल–मंजूषा–मध्ये
यतोऽस्त्येकं हृदयं कठोरं
अतः प्रिये! अविश्वासस्त्वयि

(प्रियतमा 36 / 32)

अन्यत्र अपि –

मञ्जीवन–रणभूमौ
शृण्वन्नस्मि दुन्दुभिनिःस्वनम्
अभिभूतं तेन तव
प्रियतमे नुपूरक्वणवनम्

(प्रियतमा 85 / 116)

इसमें विरोधमूलक स्वर दिखाई देता है। परन्तु इसके लिये यह अनिवार्य है कि संदिग्धता उचित एवं सहज रूप में आनी चाहिये। केवल अन्धानुकरण के लिए इसका प्रयोग हानिकारक है।

कवि विरुद्धार्थक विधानों के द्वारा अपने वक्तव्य को नया परिमाण देता है तब वह काव्य 'विशेष अर्थवत्ता से युक्त काव्य' कहलाता है।

डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी ने दृक पत्रिका के प्रथम अंक में केशवचन्द्रदाश की कविता की चर्चा की है वह भी संदिग्धता का अच्छा उदाहरण है। हर्षदेव माधव की प्रेयसी यह अलकनन्दा संदिग्धता का भाव लेकर

अवतरित है।

हास्य शुष्कतां गच्छेत्
तदा वर्षा आगच्छेयुः
कोकिलो नीडं परित्यज्य प्रणश्येत्
तदा शुष्कवृक्षे वसन्ता विकारः स्यात्
सिकतासु मीनः पञ्चत्वं गच्छत्
तदा नदीषु जलमागच्छेत्।
चित्रपतड.ग शिलातले निद्रां लभेत
तदा कोरके सुगन्धः प्रविशेत्
अलकनन्दे!
एडमण्ड स्पेन्सरस्य एमोरेटी सोनेटमालायाः
हताशो लुब्धकः
मृगविप्रलब्धः श्रान्त कुक्कुरद्वितीयो निःश्वसन्
निषिदेत् छायाद्रुमतले
तदा प्रभ्रष्टं हरिणकं तत्रैव आगच्छेत्।
अधुना हरिणकं न पलायते
व्याधोऽपि साश्चर्यं पश्यति।
अधुना प्रतीक्षाभीरुणा मया द्वारं पिनद्धम्
तदा किमर्थं
तव द्वार शब्दः?

(अलकनन्दा, पृष्ठ–28)

यहाँ पंक्तियों के बिम्बों में परस्पर सम्बन्ध नहीं है। कवि की प्रियतमा विलम्ब से आयी है अतः कल्पना का प्रत्येक उपमान वेदना को प्रगाढ़ बनाता है यहाँ 'एडमण्ड स्पेन्सर' के शिकारी का सन्दर्भ सूचित करता है कि प्रियतमा के प्रेम में प्रेमी को फाँसने का इरादा है। हिरण की सशंकता इस बात का प्रमाण है कि कवि की प्रणय में श्रद्धा नहीं रही। वस्तुतः इस उदाहरण में प्रेम की विफलता, हताशा, आक्रोश, तिरस्कार, संताप आदि मनोभावों को संदिग्धता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

शिल्पकला एवं चित्रकाव्य

संस्कृत काव्य में शिल्प कला को शब्दों में उतारने का नव प्रयोग अर्वाचीन साहित्य की ही देन है। अनेक संस्कृत कवियों ने चित्रालंकारों की दुर्लभ परम्परा को इस शती में भी जीवित रखने का प्रयास किया है। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने अपने 'जयपुर वैभवम्' नामक काव्य प्रबन्ध में एक चित्रचत्वर भी सम्मिलित किया है। मैसूर के पण्डित सी. एन. राय शास्त्री ने 1905 में 'सीतारावण संवादझरी' नामक काव्य प्रस्तुत किया जिसमें जिस छन्द में रावण का कथन है उसी का एक अक्षर कम कर देने पर सीता का उत्तर बन जाता है। इसी प्रकार के काव्य बीसवीं सदी के प्रारम्भ में तंजौर के श्रीनिवासाचार्य तथा मद्रास के श्रीनिवासदेशिकाचार्य ने भी लिखे। पण्डित रामस्वरूप पाठक ने अपने 'चित्रकाव्यकौतुकम' और इन्दौर के पं0 गजानन करमरकर शास्त्री ने अपनी बहुसंख्य काव्य रचनाओं के द्वारा चित्रकाव्य की परम्परा में अपना योगदान दिया है। श्री जीवन्यायतीर्थ का सारस्वतशतक, स्वस्तिबन्ध, खड्गबन्ध, मुरजबन्ध, मयूरबन्ध आदि चित्रकाव्य छन्दों का संकलन है। प्रभुल्ल कुमार मिश्र का 'कोणार्के' काव्य संकलन भी इसका अनुपम उदाहरण है चन्द्रभागा के समीप में स्थित यह कोर्णाक मंदिर स्थापत्य कला की उत्कृष्ट वीथी कही जा सकती है। स्त्री पुरुषों के शृंगार की विविध भावभंगिमाएँ, नृत्य की अद्भुत शैलियाँ और राजसी परिदृश्य के सजीव चित्र यहाँ बिखरे हुए हैं। मिश्र जी ने उन चित्रों को अपने काव्य में एक कुशल शिल्पी की भाँति उकेरा है। एक बाला किवाड़ के ऊपर बाँये हाथ को अपने मुख पर रखे हुए प्रतीक्षारत है –

अपराह्णे प्रलम्बिते
विद्यालयं बालेषु गतेषु
भजनं भोजनं सम्पादिते,
द्वारिच्छन्दपद्भ्यां
मध्ये लग्नैकहस्ता
वामहस्तलग्नमुखं
कपाटोपरि
प्रलम्बते। (कोणार्के–पृ0 2,3)

इसी प्रकार अनेकों चित्रों को यथावत शब्दों में रूपायित करके उनका वर्णन करते हुए कवि ने इस नव प्रयोग को विविध आयाम दिये हैं। कहीं त्रिभंङ्गी कृष्ण बांसुरी बजा रहे हैं[1] कहीं नृत्यांगनाएँ नृत्य में लीन हैं[2] कहीं द्वार पर प्रतीक्षारत माता एवं पत्नी वार्तालाप में लीन हैं[3] और कहीं पर स्तनपान करता पुत्र माता की गोद में क्रीड़ा कर रहा है[4]।

नाट्य प्रगीत कविता

हिन्दी में 'लिरिक' के लिये गीतकाव्य शब्द प्रचलित है। प्रो0 राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'राग काव्य' के रूप में 'गीतधीवरम् की रचना की। वे संगीतिका को भी रागकाव्य से मिलती हुई विधा स्वीकार करते हैं। रागकाव्य की ही भाँति 'संगीतिका' भी वस्तुतः अभिनेय काव्य है परन्तु गेयता के कारण श्रव्यकाव्य के रूप में इसे 'ऑपेरा' कहते हैं। इसमें विभिन्न पात्रों के संवाद गीतों में ही आद्यन्त चलते हैं 'शिवराज्योदयमहाकाव्य' के प्रणेता श्रीधरभास्कर वर्णेकर ने 'श्रीरामसङ्गीतिका' एवं 'श्रीकृष्णसङ्गीतिका' नामक दो ग्रन्थों की रचना की। श्रीमती वनमाला भवालकर ने 'पार्वतीपरमेश्वरीयम्' तथा 'रामवनगमनम् नामक दो संगीतिकाओं का प्रणयन किया। परन्तु हर्ष देव माधव संङ्गीतिका को नाट्य प्रगीत कविता का पर्यायवाची नहीं मानते। वे गुजराती विवेचकों के समर्थन में खड़े दिखाई पड़ते हैं। उनके अनुसार नाट्य प्रगीत कविता के निम्नलिखित सोपान होते हैं

1. नाट्य प्रगीत कविता का प्रसंग वर्णन बहुत लम्बा नहीं होता।
2. बाह्य वर्णन गौण होकर आन्तरिक भाव की प्रधानता होती है।
3. पात्र की मानसिक स्थिति, उसका आत्म मंथन, नैतिक आदर्श आन्तरिक रीति से प्रकट होते हैं।
4. इन काव्यों में कवि प्रत्यक्ष नहीं होता, वह नेपथ्य में रहता है।
5. कवि आत्मसम्भाषण जैसी उक्ति में स्वयं बोलता है। अर्थात पात्र के परिवेश में कवि अपने भावों को व्यक्त करता है।
6. नाट्य प्रगीत कविता में संवाद प्रधान काव्य समाविष्ट है। कभी कभी सम्पूर्ण कथा संवाद के द्वारा ही आकार लेती है।

1. कोर्णाके पृष्ठ–17 2. कोर्णाके पृष्ठ–23
3. कोर्णाके पृष्ठ–11 4. कोर्णाके पृष्ठ–05

हर्षदेव माधव का बृहन्नला महाकाव्य खण्ड अर्जुन की बृहन्नला के रूप में स्वगतोक्ति के रूप में लिखा गया है।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र के काव्य में नाट्य प्रगीत कविता का अद्भुत संयोजन है। उनकी गीतियाँ इस प्रकार की कविता के साथ पूर्ण न्याय करती हैं। वे अपनी कविता का मनोविज्ञान पाठकों एवं श्रोताओं तक पहुँचाने में पूर्ण सफल हुये हैं। कभी मरघट बन जाना[1] और कभी निर्मल आकाश[2] कभी शारदात्मज बनकर समस्त सृष्टि के रहस्यों को ढूंढ़ने निकल पड़ते हैं ऐसे में अभिराज की नाट्य प्रगीत कविता में विचारों की अनेक ऊर्मियाँ विद्यमान हैं। कतिपय उदाहरण निस्संदेह स्पृहणीय हैं –

मृतघट्टोऽहं मृतघट्टोऽहं
जीवितां जनानां घृणास्पदं
प्रेतानां वंशीवाटोऽहम्
मृतघट्टोऽहं (मधुपर्णी –92)

अन्यत्रापि –

आकाशोऽहम्
शृणुत शृणुत बन्धवो वाचिकम्
आकाशोऽहम्
अपरिमितोऽनन्तो निस्सीमः
दिक्परिवृतोऽहमालक्ष्ये यदि
परं न सत्यं
नेदं सत्यं
बहुविवर्तोऽयं सन्द्रष्टुः
अशक्तेन्द्रियस्य मानवस्य।
नाऽहं परिवृतः, नाऽहमवसितः, नाऽपि समाप्तः
आकाशोऽहं निरवधिविपुलः
कूटस्थश्चाद्यन्त–विरहितः, आकाशोऽहम्

(मधुपर्णी पृ0 137)

1. मधुपर्णी पृष्ठ 92
2. मधुपर्णी पृष्ठ 137

इसके अतिरिक्त उनके गीतों में भी नाट्य प्रगीत काव्य की विविध छटाएं बहुत ही मनोरम हैं। उन्होंने अपने गीतों में अपने जीवन के अनुभवों को पिरोया है –

दृष्टिरेव तावकी मे रराज नेत्रयोः
यतः प्रदर्शितं त्वया तद् विनिर्मितम्मया।।

(मृद्वीका पृ0 16)

त्वया समं प्रचलति सुन्दरता धृतकूलपरिधाना –पृ0 13
तव कीदृशं हृदयं शुभे! नहि यत्र हार्दमहं लभे –पृ0 15
चन्दनं वन्दनं नोऽधिकं रोचते/
तापितं शापितं मे मनः क्षोभते –पृ0 37
तादृशं नहि जीवनं मे यादृशं परिकल्पतम् –पृ0 49

जगन्नाथ पाठक जी की 'कापिशायिनी' में स्वगतोक्ति एवं अन्य संबोधन मिलकर एक मनोहर संवादकाव्य को जन्म देते हैं। यथा–

अधुना तमुपालभे जनं त्वयियोमय्यपि भेदमिच्छति –पृ0 17
तव मृण्मयहृदगतोऽथवा प्रणयो
बन्धनकारणं मम् –पृ0 07
अवगुण्ठनविह्वले क्वचित्प्रणयोऽपि क्रियतेऽवगुण्ठितः–पृ0 12

राधावल्लभ जी की नाट्य शैली जितनी रमणीय है उतनी ही उनके काव्य की कमनीयता भी। कवि ने प्रथम, मध्यम एवं उत्तम पुरुष के माध्यम से धीवरगीत प्रस्तुत किया है। यह 'गीतधीवरम्' काव्य नाट्य प्रगीत कविता का अनुकरणीय उदाहरण है –

न परावर्तने विरमणे विकले धीवरोऽहं जीवनं मदीयं जले–पृ025
याहि मा मां त्यक्त्वा, तटीति समाह्वयति त्वां –पृ0 53
नौकामिहं सारं सारम्, गन्तास्मि कदाचित् पारम् –पृ0 61

रमाकान्त शुक्ल के प्रगीत काव्य देश के गौरव से समावेष्टित हैं जिसमें भारत की जनता का स्वरूप वज्र से भी कठोर और पुष्प से भी कोमल है –

कुलिशादपि कठिना, कुसमादपि सुकुमारा भारतजनताऽहम्

(देववाणी–सुवासः 3/112)

बनमाली बिश्वाल की कविताओं में भी नाट्यात्मक भावों की अभिव्यक्ति, प्रयोगधर्मिता के मानदण्ड स्थापित करती है। अग्नि कविता में अग्नि की ही उक्ति दृष्टव्य है –

अहमस्मि जठरस्य क्षुधा,
अहमस्मि आग्नेयास्त्रग्निमयी वर्षाः........
बद्धश्चास्मि गान्धारीनेत्रयोः .... (व्यथा पृ0 1)

हर्ष देव माधव की रचनाओं में नाट्य प्रगीत काव्यात्मकता सर्वाधिक स्पष्ट एवं सुलभ है। निष्क्रान्ताः सर्वे एवं भावस्थिराणि जनान्तर सौहृदानि के मिथक और बृहन्नला का समस्त परिवेश नाट्यगीत की चमत्कृति से युक्त हैं। कहीं उनकी अलकनन्दा बातें करने लगती है तो कहीं यक्ष और शकुन्तला अपने में खोये हुये स्वयं से ही प्रश्न करने लगते हैं। नदी और समुद्र का दूरभाष वार्तालाप भी नाट्य प्रगीत कविता का अनुपम उदाहरण कहा जा सकता है –

हल्लो सागर। का त्वं? तटिनी,
कुत्र? पर्वते स्वामिन्।
मनस्वनि! कुशला त्वं? अथ किम्
कुत्र नाथ? गर्तेऽस्मिन
किं कथयसि? वार्ता श्रवणीयां
बहु मोदसे श्रुत्वा
कथय कथय सखि! झटिति स्थितोऽहं
श्रोतं कर्णं दत्वा,
आगच्छामि श्वश्रूगृहेऽहं
समुत्सुका, अनुरागिन्

(निष्क्रान्ताःसर्वे पृ0 187)

इस प्रकार कुछ गीतियाँ संवादों में विभक्त है। जिसमें नाटक के साथ काव्य की अनुभूति होती है। यद्यपि अर्वाचीन काव्य में नाट्य प्रगीति के अनेक उद्धरण यत्र तत्र दिखाई देते हैं प्रायः अधिकांशतः कवियों की दृष्टि इस चमत्कार पर केन्द्रित रही है। परन्तु प्राचीन कवियों में 'अमरुक' विरचित 'अमरुकशतक' में इस प्रकार की कविता की प्रस्तुति निश्चित रूप से चमत्कृत करती है।

नायक नायिका का पारस्परिक संवाद ध्वनि व्यंग्य को स्वयं समाहित किये हुए है। मंच पर कविता के साथ नाट्य की अनुभूति कराता एक छन्द प्रस्तुत है –

कान्ते कत्यपि वासराणि गमय त्वं मीलयित्वा दृशौ
स्वस्ति स्वस्ति निमीलयामि नयने यावन्न शून्या दिशः।
आयाता वयमागमिष्यति सुहृदवर्गस्य भाग्योदयैः
सन्देशो वद कस्तवाभिलषितस्तीर्थेषु तोयाञ्जलिः।

(संस्कृत सुकवि समीक्षा पृ0 344)

प्राचीन सूक्तिपरक वाक्यों के नव प्रयोग

आधुनिक कविता अपनी नवीनता के सफल प्रयोगों के कारण नव्य कलेवर लिये हुये है। यद्यपि उसमें प्राचीन साहित्य की सुगन्ध व्याप्त है परन्तु उसको नये कैनवस पर प्रस्तुत करने के कारण वह हृदयाकृष्ट तारुण्य लिये हुये है। हमारे प्राचीन काव्य में अनेकों वाक्यांश एवं सूक्तियाँ संगृहीत हैं और फिर केवल काव्य ही नहीं अपितु सम्पूर्ण साहित्य इस सूक्ति वाक्यों से ओत प्रोत है। परन्तु अर्वाचीन कवि ने इनमें कहीं तो व्यञ्जना की भावभूमि प्रस्तुत की है और कहीं उसे अन्य अर्थों से सजा दिया है। सर्वाधिक प्रचलित सूक्ति "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" को डॉ0 राधाबल्लभ त्रिपाठी ने इस प्रकार रूप दिया है –

"यत्र नार्यस्तु दह्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः, अन्नं, जलं, बलं, राष्ट्रे सती दाहेन जायते" (सन्धानम् पृ0 59)

इसमें सती प्रथा पर कटु व्यंग्य किया गया है। वास्तव में नारीदाह ही सतीप्रथा है जिसमें धर्माचार्यों द्वारा प्रशस्तिपत्र दिये जाते हैं। यह तथाकथित धर्म के ठेकेदार मृत्यु के सौदागर बन जाते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त को शीलरक्षा की चेतावनी देती हुई शकुन्तला कहती है कि **पौरव रक्ष विनयम्** । परन्तु भास्कराचार्य त्रिपाठी आधुनिक प्रेमियों का प्रेमालाप और क्रियाकलाप देखकर यही कहते हैं –

आगतः खलु कालः कोऽयम्
पौरवो रक्षति नहि विनयम् (प्रख्या 1, पृ0 14)

इस कविता में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की सम्पूर्ण परिस्थितियाँ आधुनिकता के चश्मे में देखी जाती हैं। डॉ0 प्रशस्यमित्र शास्त्री की हास्यव्यंग्य बहुला 'नर्मदा' इस प्रकार की अनेकों तरंगों से तरंगायित है। यथा –

उत्कोच ग्रहणे कश्चिन्निगृहीतो यदा भवेत्
उत्कोचमेव दत्त्वाऽसौ अभियोगाद् विमुच्यते
उत्कोचस्याऽभियोगस्य कुर्यात्तेनैव नाशनम्
पण्डितैः सत्यम् उक्तं यद् "विषस्य विषमौषधम्"

(नर्मदा पृ0 50)

शास्त्री जी ने कुछ सूक्तियों को प्रसंगवश इस प्रकार तोड़ा मरोड़ा है कि वह सहज हास को उत्पन्न करती है। जैसे – मूर्ख एवं अशिक्षित व्यक्ति को शिक्षामन्त्री पद प्राप्त होने पर यह उक्ति कहकर इस प्रसंग को सिद्ध करना – "भाग्य फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्[1]" हास्य उत्पन्न करता है।

अन्यत्र भी –

विद्वत्वं राजनेतृत्वं नैव तुल्यं कदाचन
गृहेऽपि नाऽर्च्यते विद्वान नेता सर्वत्रपूज्यते[2]

नारी पूजन, श्रद्धा एवं सम्मान को जब डॉ0 प्रशस्यमित्र अपनी भाषा में कहते हैं तो उनकी व्यञ्जना कुछ इस प्रकार उतर आती है –

भार्यायाः पादसंवाहं वस्त्रप्रक्षालनं तथा
प्रत्यहं वीक्ष्यं कुर्वन्तं देवदत्तं मनस्विनम्
देवान प्रीणयन्तुं कांक्षे शास्त्रेषु कथितं यथा
"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता"[3]

1. नर्मदा पृष्ठ–42
2. नर्मदा पृष्ठ–42
3. नर्मदा पृष्ठ–29

हर्षदेव माधव सामान्य को विशिष्ट बनाकर कह देने वाले सिद्ध कवि हैं। उनकी कविताएँ सदैव क्रान्ति की सूत्रधार रही हैं एक सामान्य सूक्ति वाक्य ''पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते'' संस्कृतवेत्ताओं के लिये एक बहुप्रचलित 'लक्षणा' है। इसे कवि ने सामाजिक विद्रूपताओं से कितने चमत्कारिक ढंग से जोड़ा है वह निस्संदेह प्रशंसनीय है –

देवदत्तो जले वसन्नपि
करोति वैरं मकरेण।
काचगृहे स्थित्वा पाषाणगुटिकां अन्यत्र।
पुष्पेषु विकसन्नपि, कण्टकै प्रीतिं करोति।
अस्मत्–टोपीं धृत्वा, उच्छालयति ताम् कदापि।
आपणं गत्वा, स विक्रीणीत आत्मानम्।
स्नानगृहं गत्वा, शिश्नदेवो भवति चित्रपटं स्मारं स्मारम्।
मन्दिरे समभ्यर्च्य मस्जिदे निगूढ़ो भवति।
शान्तिमन्त्रणां कृत्वा, स्थ्यासु प्रसारयत्यातङ्क.म्।
स्वरोटिकां पाचयितुम्।
इदमेव कारणमस्ति
पीनो यत् देवदत्तोः दिवा न भुङ्क्ते

(भावस्थिराणि ... पृ0 109)

गाणितिक संज्ञाओं का प्रयोग

गाणितिक संज्ञाओं द्वारा भी माधव ने कई काव्य प्रयोग किये हैं, इसमें कहीं ग्राफ के द्वारा के आवेग को काव्य में चित्रित किया है[1] रेखाओं के विचित्र प्रयोग बॉम्ब विस्फोट को अभिव्यञ्जित करते हैं[2] एक स्थान पर संज्ञाओं का विचित्र प्रयोग देखकर पाठक हतप्रभ रह जाता है। इन गाणितिक चिह्नों द्वारा जीवन की घुटन, दर्द और पीड़ा को कुछ इस प्रकार कहा गया है –

ऑफिस–चिन्ता/गृहणी+उपनेत्रं÷क्षय/=जीवितम्[3]

इसके अतिरिक्त वर्णों की गिरती आकृति में पतन[4] 'पर्वतः' को व्यक्त करते आकृति मूलक शब्द की स्थापना[5] पिञ्जर में आबद्ध विहग की

1. निष्क्रान्ताः सर्वे पृष्ठ – 37
2. निष्क्रान्ताः सर्वे पृष्ठ – 32
3.. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि पृष्ठ – 27
4. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ –13
5. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ –38

पीड़ा[1] पिंजरे की आकृति में व्यक्त की गई है। ये काव्य के ऐसे नवप्रयोग हैं जो काव्य की नयी पगडण्डी की ओर संकेत करते हैं।

संवादकला

अर्वाचीन काव्य में, कविता में, संवाद कला भी दृष्टिगोचर होती है। इसमें कवि स्वयं ही संवाद और प्रतिसंवाद का वक्ता होता है। चेतन अथवा अचेतन प्रकृति का कोई भी रूप उसके वार्तालाप में शामिल हो जाता है। यहाँ यह आवश्यक नहीं होता कि एक कविता किसी एक ही वक्ता का वक्तव्य हो अपितु सम्पूर्ण कविता में गद्य जैसा संवाद पंक्ति दर पंक्ति चलता रहता है। यथा केशवचन्द्र दाश के अलका संग्रह में –

मेघ कथां न पृच्छ माम्
अहं हि स्वयं दूतो मम नगरस्य
अहं च स्वयं प्रभुः न कस्य किङ्करः[2]

इसमें कवि स्वयं ही अलका तक पहुँचने वाला दूत है और स्वयं ही संदेश देने वाला है। अतः आत्मा से आत्मा का यह आत्मालाप ही संवादकला को कविता तक ले जाता है।

हर्षदेव माधव की कविताओं में सवांदकला अपने उत्कृष्ट पायदान का स्पर्श करती हैं। वह विश्व की प्रत्येक घटना एवं प्रकृति से वार्तालाप करना प्रारम्भ कर देते हैं भले ही उन्हें प्रत्युत्तर मिले अथवा नहीं –

हे अलकनन्दे!
अहं त्वदाषाढ़मनुभवामि–शैलस्य स्थैर्येण/वृक्षस्य धैर्येण/मयूरस्य प्रतीक्षया चातकस्याधीरतया.....[3]**।**
रोहिणि हे! रोहिणि!
त्वदृते तैरुत्सवैः किम्।
पद्मिनि हे! पद्मिनी हे!/ त्वदृते तैर्वैभवैः किम[4]**।**

परन्तु कहीं कहीं माधव के काव्य में संवादकला का सम्पूर्ण दर्शन भी होता है 'तव स्पर्शे स्पर्शे' में इस प्रकार की स्पष्ट रचना दृष्टिगोचर होती है यथा –

1. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ –39
2. अलका, पृष्ठ–46
3. मनसोनैमिषारण्यम, पृष्ठ –21
4. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ –188

प्रियः— अयि शब्दमयि।
प्रिया— अर्थः शब्दयुक्तोऽसि
प्रियः— गीतिके।
प्रिया— रसत्वं मधुरः काव्ये गीतेन केवलेन किम्?
प्रियः— अलं प्रिये विवादेन!
प्रिया— कोकिलो मत्त एवं त्वम्[1]

इस प्रकार का दीर्घ संलाप प्रिय और प्रिया के मध्य यहाँ काव्य में एक नवीन वातावरण का सृजन करता है। अर्वाचीन कविता में इस प्रकार का बाह्य परिवर्तन उसकी प्रगतिशीलता का प्रमाण है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण हमें इसमें अन्यत्र भी दिखाई देते हैं[2]। परन्तु उनका बाह्य कलेवर ही नहीं अपितु विषयवस्तु भी युगानुरूप है। जैसे 'आख्यायिका'[3] में कलयुगी राम से जब कलयुगी सीता स्वर्णमृग लाने को कहती है तो राम प्रत्युत्तर में उन्हें फटकारते हुये कहते हैं कि मै क्या तुम्हारा नौकर हूँ, ज्यादा कुछ कहोगी तो बाल पकड़कर बाहर निकाल दुँगा और दूसरी ले आउँगा। दस मिनट रोकर सीता चुप हो जाती है इस प्रकार लेखक द्वारा अभिनव रामायण की अवधारणा ही समाप्त हो गई। वस्तुत कविता के बहिरंग परिवर्तनों में जो चमत्कार दिखाई देता है वह बदलते हुये सामाजिक मूल्यों की ही देन है। काव्य की सरणि में आकर यह मनोहारी तरंगें नव जिज्ञासुओं को बाँध रही हैं। हम नई उड़ान के लिये तैयार हैं।

अन्तरङ्ग परिवर्तन

नये स्वरूप वाली कविताओं में कुछ ऐसे आन्तरिक परिवर्तन भी हुये हैं जिनसे उनके अभिप्रायः में क्रान्तिकारी बदलाव आया है। हमारी सोच, हमारे प्रतीक, उपमान, रसानुभूति एवं जीवन के प्रति हमारी दृष्टि सब बदल गये हैं। अतः आज का काव्य अपने वर्तमान को भी साथ लेकर चल रहा है। इस परिदृश्य में कविता की आत्मा में सामाजिक मूल्य समाविष्ट हो गये हैं। आन्तरिक परिवर्तनों को बिम्ब, प्रतीक, मिथ, रूपक तरंग आदि के आइने में इस प्रकार देखा जा सकता है।

1. तव स्पर्शे स्पर्शे, पृष्ठ –11
2. तव स्पर्शे स्पर्शे, पृष्ठ –13
3. तव स्पर्शे स्पर्शे, पृष्ठ –125

बिम्ब

अर्वाचीन काव्य बिम्ब की परिकल्पना के बिना अपूर्ण है। बिम्ब किसी बाह्य वस्तु की मानसी उपज है उसका चाक्षुष होना अनिवार्य नहीं है वह व्यक्ति की कल्पना स्मृति एवं चेतन में उपस्थित होता है। साहित्य सृष्टा शब्दों के माध्यम से बिम्बांकन करता है जो पाठक के चेतन मन में अचेतन स्तर पर सोई हुई संवेदनाओं को मूर्तित करता है। पूर्व अनुभूतियों से संचित ये मूर्त रूप या मानस प्रतिभाएँ ही बिम्ब कही जाती हैं तथा इन्हीं के कारण हमारे मस्तिष्क की अनेक शक्तियाँ मुख्यतः स्मृति और कल्पना अपना कार्य सम्पादित करती हैं। चिन्तन के साथ–साथ बिम्बों की संख्या में परिवर्तन होता रहता है। ज्यों–ज्यों चिन्तन बाह्य जगत की ओर बढ़ता जाता है बिम्बों की संख्या घटती जाती है इसके विपरीत अन्तर्मुखी चिन्तन बिम्बों की संख्या में वृद्धि करता है। काव्य बिम्ब का प्रमुख कार्य सम्प्रेषणीयता है। वस्तुतः बिम्ब वह मध्य सूत्र है जो कलाकार की अनूभूति को सहृदय के साथ जोड़ता है। यह शब्दों का ऐसा ऐन्द्रिय चित्र है जो मानवीय भाव एवं संवेगों से अनुप्राणित होता है। परन्तु यह शाब्दिक चित्र सामान्य जनता के मध्य से उठाने चाहिये। जिससे सामान्य पाठक उसकी अनुभूति कर सके। यदि वह बिम्ब केवल कवि द्वारा ही उपभुक्त है तो वह उतने प्रभावशाली नहीं हो सकते जैसे – हर्षदेव माधव ने मसूरी, हरिद्वार की बात करते–करते अनायास ही 'उत्तर ध्रुवप्रदेशः' एवं 'कोलोरडोप्रदेशे प्रस्तरमयाः शैलाः' जैसी रचनाओं में जिन बिम्बों का विधान किया है वह साधारण पाठक के लिये दुर्बोधनीय है[1]।

इसके साथ ही एक बात यह भी है कि बिम्ब विषयानुकूल होने चाहिये। यदि बिम्ब और विषय में संगति नहीं होगी तो वह उतने प्रभावी नहीं हो पायेंगे जो बिम्ब केवल अलंकरण के लिये प्रयोग किये जाते हैं वह काव्य को निष्प्राण और नीरस बना देते हैं।

वस्तुतः बिम्ब कवि के अन्तःस्थल का वह काव्य पुष्प है जिसकी पंखुरियों में कल्पना के रंग हैं, प्रतिभा की ओस और अर्थ की सुगन्ध है। अंग्रेजी में कल्पना के लिये Image शब्द आया है,

1. भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि, पृष्ठ – 116,117

यही इमेज 'बिम्ब' की प्रतीति कराती है। इस प्रकार की कविता का वैशिष्टय इन सोपानों से जाना जाता है।

(क) वस्तु का प्रत्यक्ष निरूपण

(ख) लयबद्ध शब्दक्रम

(ग) लाघवता

(घ) सर्वग्राही भाषा

(ड़) रुढ़िग्राही छन्दों से दूर

(च) इन्द्रियग्राह्य बिम्ब

ये बिम्ब कहीं दृश्यकल्पन के रूप में और कहीं स्पर्श्यकल्पन के रूप को अभिव्यञ्जित करते हैं। गीतिविधा में बिम्बविधान और शिल्प की नवीनता का समायोजन माताप्रसाद त्रिपाठी की रचनाओं में देखा जा सकता है उन्होंने नवीन भाव के साथ अपनी कविता में बिम्ब प्रस्तुत किये हैं।

केशवचन्द्र दाश ने मुक्त छन्द में कविताएँ लिखीं है जिनमें आधुनिक जीवन की विसंगति, परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द, ग्राम की निष्कलुष समृतियाँ, जटिल प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से कविता में व्यक्त हुई हैं – यथा

निधिभवनस्य / अलिन्दे यथा / श्रूयतेभौतिकता स्वरः / विक्षिप्तदीनतासु च / चीत्करोति / शैलकल्पक्षुधा / कमहं श्रावयिष्यामि / प्रसूतिकाव्यथां मम?

(ईशा पृ0 04)

नाहं निक्षिप्तकन्दुकः / प्रत्यागमिष्यामि / भूतलंसंस्पृश्य / परमेकोमिमिलिषु / आषाढ़स्य बिन्दुः[1]।

महाराजदीन पाण्डेय ने बिना किसी बाह्य सौन्दर्य के बोध का आवरण डाले हुये कटु यथार्थ को अपनी कविता का विषय बनाया है। उनके काव्यगत बिम्ब की पूर्व नियोजित योजना नहीं है अपितु वे अनायास ही उनके विषय का भाग बन गये हैं। एक ओर निरस्त्रीकरण सम्मेलन में फूँस और आग का खेल हो रहा है वहीं दूसरी ओर सभ्यता अपने सिर पर आण्विक अस्त्रों की पोटली लेकर नाच रही है[2]। इसी

1. ईशा, पृष्ठ–1

2. मौनवेधम्, पृष्ठ–34

प्रकार समाजवाद की जो दुर्गति आज के समाज द्वारा ही की जा रही है वह बहुत ही हास्यापद है –

दुर्गतस्य जाया यथा समाजवादो भाति
इतो याति यः कोऽपि स हि गालि दत्वा याति[1]।

बिम्बात्मक रचनाओं में वैविध्यता यदि स्पष्ट रूप में कहीं दिखाई देती है तो वह है डॉ. बिश्वाल की 'प्रियतमा' संग्रह। यहाँ कवि की भावना, विचाराभिव्यक्ति एवं शब्द, रूप, रस, गन्ध की इन्द्रियग्राह्यता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

बिम्ब के विभिन्न उदाहरणों को इस परिप्रेक्ष्य में दृश्यबिम्ब, शब्दबिम्ब, रस बिम्ब आदि उदाहरणों से अनुभव किया जा सकता है।

यथा –

भविष्यिति काचित् प्रेमतरी (दृश्य बिम्ब)
(प्रियतमा पृ0 14)

त्वनमुन्खमण्डले
कोऽप्युदेति अमावस्या चन्द्रः (प्रियतमा पृ015)

यहाँ 'अमावस्या चन्द्रः' द्वारा कवि विरह तीव्रता को व्यक्त करता है। (शब्द बिम्ब) को प्रियतमा के पायल की झंकार में, गन्धानुभूति के लिये केशपुष्पों की सुगन्ध बिम्बों का निर्माण करती हैं –

शृणोम्यहं झङ्.ार तं विरहमेदुरम् (शब्द बिम्ब)
(प्रियतमा पृ0 22)

गन्धं घ्रात्वा कबरी पुष्पस्य (गन्धानुभूति पृ0 26)

'त्वत्सान्निध्ये मृत्यौ भवेदमृतसन्धानम्'[2] में कवि को प्रेयसी की समीपता में मृत्यु भी अमृत की अनुभूति कराती है। अतः यहाँ रसेन्द्रियग्राह्य बिम्ब है। परन्तु कहीं कहीं पर रस्यस्पृश्य बिम्ब भी दिखाई देते हैं।

त्वद्यौवनगङ्.ाजले प्रवक्ष्यामि पत्रं भूत्वा प्रिये[3]

यहाँ यौवन की अमूर्तता को गङ्गा.जल की मूर्तता, स्पर्श एवं आस्वाद रस्य–स्पर्श बिम्ब की उपस्थिति का अहसास कराते हैं। इस प्रकार

1. आधुनिक संस्कृत साहित्य की उपलब्धियाँ, पृष्ठ–17

2. प्रियतमा, पृष्ठ–35 3. प्रियतमा, पृष्ठ–95

बिश्वाल की 'प्रियतमा' में एक ही बिम्ब के विविध रूप हैं जो पञ्चेन्द्रिय ग्राह्य होने के साथ बहुत ही सरल और सहज है। ऐसा लगता है जैसे दर्पण के बिखरे टुकड़ों में एक ही प्रियतमा के विविध रूप अनेक कोणों से प्रतिबिम्बित हो रहे हैं।

डॉ0 माधव बिम्ब विधा के उत्कृष्ट सर्जक हैं उनकी कविताओं में दोषरहित, चमत्कारपूर्ण अनेकों बिम्ब दिखाई देते हैं। उनका विचार है कि "मोनोइमेज एक पहिये की साईकिल चलाने जैसा खतरों से भरा हुआ प्रयोग है। बिम्ब में रूढ़ता नहीं आनी चाहिये। केवल अभिधा बिम्ब की बाधक है"[1]। एतादृश उदाहरण दृष्टव्य है –

कृषीवलः स्वभाग्यं वपति, किन्तु दुर्भाग्यं प्ररोहति[2]।

बुद्धस्य भिक्षापात्रे निमज्जतमस्ति, अणुबॉम्बदग्ध नगरं[3]

निष्क्रान्तासर्वे का एक सम्पूर्ण खण्ड ही माधव ने बिम्ब केन्द्रित लिखा है। लेकिन जगत के अनेकों बिम्ब उनकी छोटी–छोटी कविताओं के प्राणबिन्दु बन गये हैं। इनकी वेदना भी निर्वस्त्र होकर क्षुब्धमन के जल में कूद जाती है –

पश्य
मां क्षुब्धजलं कर्तुं
मां प्रति कूर्दति
निर्वस्त्रा वेदना ?[4]

वेदना के कोई शब्द नहीं होते वह तो मौन के रिक्त चैक पर हस्ताक्षर कर देती है।

वेदनायाः समीपे
शब्दाः न सन्ति
अतः मौनमय रिक्त धनादेश पत्रे वेदना हस्ताक्षरं करोति[5]

माधव के कुछ बिम्ब नितान्त अकल्पनीय हैं। पाठक उस विषय में किसी भी परिकल्पना एवं संकल्पना कर ही नहीं पाता तब तक कवि उसके समक्ष बिम्ब का अकल्पनीय रूप प्रस्तुत कर देते हैं।

1. दृक पृष्ठ–3/52
2. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–131
3. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–127
4. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–133
5. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–133

उद्यानकक्षे!
स्पर्शलज्जा (छुई मुई) मम
शैशव सखी[1]

मेघ इन्द्रधनुष का कन्घा लेकर अपने केश सज्जित कर रहा है यह दृश्यकल्पन की अनूठी कल्पना है –

इन्द्रधनुषः
प्रसाधनी मेघः केशान्
संस्कारयति[2]

माधव की बिम्ब विविधता को देखकर डॉ0 रहस बिहारी द्विवेदी ने भी अपनी बिम्ब परिभाषा में उनके नाम का विशेष रूप से उल्लेख किया है –

लघुबिम्बात्मकंकाव्यं यत्पाउण्डैझरादिना
रचितं ह्याड़्ग्लभाषायां संस्कृते माधवादिभिः
लघुबिम्बात्मके काव्ये चित्रमुदभावितंपरम्
प्रत्यक्षीक्रियते सद्यो भाव केन्द्रियवृत्तिभिः
यत्रानुव्याहृतं वृत्तं बौद्धिकं भावनामयं
कवनान्नूतनीभूतं प्रत्यक्षमिव भासते।

(सागरिका 38/1ए पृ0 54)

कवि माधव ने एक मात्र दीपक पर ही पचास से अधिक बिम्ब प्रस्तुत किये हैं। इसके अतिरिक्त उनकी मृत्युशतकम् में शताधिक बिम्ब चित्र दिखाई देते हैं।

वस्तुतः बिम्बवाद ने अर्वाचीन काव्य को प्रभावित किया है। इसमें दृश्यात्मक चित्रों के विधान पर सर्वाधिक बल दिया है। इसमें शब्दों का चमत्कार उसके स्वरूप को भी चित्रित कर जाता हैं।

वास्तविकता यही कि समय की धारा परिवर्तित हुई। कविता बड़े रूप से हटते – हटते आकार में छोटी होने लगी। नये कवियों ने परम्परा का पूर्णरूपेण त्याग नहीं किया है अपितु उसमें कुछ परिवर्तन करके उसे समय की धारा से जोड़ दिया है। परिणामतः आधुनिक

1. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि पृष्ठ–50/39
2. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि पृष्ठ–15/161

कविता की कसौटी न तो रस अलंकारादि है और न ही चरित्र चित्रण बल्कि उसमें प्रयुक्त बिम्ब हैं। कवियों ने कविता के रूप पर विशेष ध्यान न देते हुये 'व्यक्ति सत्य' और 'व्यापक सत्य' पर दृष्टि केन्द्रित की है। आज कवि के समक्ष नया जीवन नई चुनौतियाँ तथा परिवर्तित जीवन मूल्य हैं। इसलिए वह युगबोध से परिपक्व है फलतः नई कविता प्राचीन परम्पराओं को त्यागे बिना परिवर्तित परिवेश को आत्मसात कर रही है। उसका फलक व्यापक हो रहा है।

प्राचीन कविता एवं परम्परा → (अर्वाचीन कविता) ← बदलते मूल्य

प्रतीक

प्रतीक का सामान्य अर्थ चिह्न संकेत आदि के लिये होता है परन्तु साहित्य में उसका प्रयोग विशिष्ट भाव को व्यञ्जित करने के लिए होता है। प्रतीक का प्रयोग करते ही तत्सम्बन्धी भाव विचार, आकार प्रकार और उस तथ्य की आत्मा पाठकों के मनोविकारों एवं भावनाओं को जाग्रत कर देती हैं। जैसे कमल से कोमल सौन्दर्य कुमुदिनी से शुभ्रहास, चन्द्र से मृदुल आभा समुद्र से विस्तार एवं गम्भीरता, आकाश से व्यापकता, सर्प से कुटिलता, अग्नि से तेज और चातक से निःस्वार्थ प्रेम व्यञ्जित होता है। वस्तुतः इस प्रकार अपने रूप गुण कार्य अथवा विशेषताओं के सादृश्य एवं प्रत्यक्षता के कारण जब कोई वस्तु भाव विचार, क्रिया कलाप, देश, जाति, संस्कृति आदि का प्रतिनिधित्व करती है तब वह प्रतीक कहलाता है। प्रतीक कविता के लिए एक ऐसा उपादान है जिसके प्रयोग से सामान्य बात में भी एक गौरव आ जाता है और गूढ़ातिगूढ़ भावों की अभिव्यक्ति सहज हो जाती है। मनुष्य अपने आरम्भिक काल से ही भावों की प्रस्तुति के लिये प्रतीकों का प्रयोग करता रहा है और आज भाषा के विकसित हो जाने पर भी इनका महत्व यथावत है यदि लाक्षणिक भाषा काव्य का प्राणतत्व हैं तो प्रतीक लाक्षणिक भाषा का। प्रतीक के बिना विशिष्ट अनुभूतियाँ आधी अधूरी हैं। महाभारत में कर्ण, दुर्योधन, युधिष्ठिर, अर्जुन, कृष्ण, शकुनि, धृतराष्ट्र आदि, रामायण में राम, भरत, सीता,

लक्ष्मण, रावण आदि प्रमुख पात्र व्यक्ति अथवा देव नहीं अपितु एक विशिष्ट वर्ग एवं विचारों के प्रतीक हैं। प्रतीक को आचार्य रहस बिहारी द्विवेदी ने इस प्रकार परिभाषित किया है।

सम्बन्धात्साहचर्याद्विऽऽपाततो या समानता
प्रतीयते वा प्रत्येति भिन्नयोर्हि पदार्थयोः
व्यनक्त्यप्रस्तुतं यत्र पदार्थः प्रस्तुतो यदा
प्रस्तुतोऽयं च सङ्केतः प्रतीकः काव्यगो भवेत

(सागरिका 38, पृ0 05)

प्रतीक का एक अभिप्राय 'Symbol' से भी है। जो प्रतीकवाद अर्थात तिर्यक कविता से जुड़ा हुआ है। इस कविता में अत्यन्त बौद्धिक संवेदनशीलता के द्वारा मिथ और प्रतीकों का उपादान वर्णन न होकर उसका प्रत्यायन किया जाता है। इसमें विशिष्ट शब्द भंग, संक्षेप, निःशब्दता आदि के द्वारा अभिधा से अलग जो सत्य प्रस्तुत किया जाता है वही प्रतीकवाद का उपहार है –

'Symbolism can threrefore be defined as the art of expressing ideas not by describing them directly, not by defining them through over comparisons with concrete images, but by suggesting what thsese ideas and emotions are, by recreating them in the mind of reader through the use of unexplained Symbols.'

(Symbolism P. P. 2-3)

प्रतीक में संदिग्ध कल्पन के भावनिष्ठ संकेत होते हैं जिन्हें पाठक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में अर्थनिष्ठ कर लेता है। जैसे –

बुद्धस्य भिक्षापात्रे
निमज्जतमस्ति
अणुबम्बदग्ध नगरं[1]

यहाँ 'भिक्षापात्र' शान्ति, करुणा, दीनता का प्रतीक है। 'दग्धनगर' युद्ध से ग्रस्त मानव जाति का और विश्व का प्रतीक है। 'दिशः' कविता के चारों खण्ड चार दिशाओं के प्रतीक हैं जो चार मनोभावों को आश्रय देते हैं[2]। 'रावणराज्यम' की अन्तिम पंक्तियाँ 'लंङ्कायाम् एकोविभीषणोऽपि

1. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–127
2. मृगया पृष्ठ–12

आसीत्'[1] में विभीषण सदाचारी होने का प्रतीक है। 'पुरा यत्र स्त्रोतः' में स्त्रोतः प्रेम का प्रतीक है और 'आख्यायिका' में निरक्षर प्रेत भोली प्रजा का प्रतीक है।

अर्वाचीन काव्य सर्जक का क्षितिज अत्यन्त विस्तृत है। उसमें केवल देव चरित, राजाओं की प्रशस्ति अथवा उपजीव्य काव्य की पुनः चर्वणा मात्र नहीं है अपितु सम्पूर्ण विश्व काव्यबोध में विश्राम पाता है।

दरअसल प्रयोगवादी कविता में प्रयोग सम्बन्धी जो परिवर्तन आये हैं वह प्रतीकवाद का ही प्रभाव है। क्योंकि समाज में कुण्ठाग्रस्त जीवन और सामाजिक वर्जनाएँ मानव पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाल रही हैं। ऐसे में अनुभूतियों की विकृति पर सौन्दर्य का आवरण डालने के लिए नूतन प्रतीकों की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। पुराने प्रतीक अत्यन्त रूढ़ होने के कारण सामयिक भी नहीं है, अतः वे वर्तमान भावों की अभिव्यक्ति में अब उतने सक्षम नहीं दिखाई देते। अतः काव्य का नादमय सौन्दर्य बनाये रखने के लिये प्रतीक सम्बन्धी नवप्रयोग काव्य की अनिवार्य आवश्यकता बन गयी है।

प्रतीकवादी कवि व्याकरण से अलग वाक्य विन्यास का अनुकरण करता है। प्रतिदिन उपयोग में आने वाले शब्दों को वह नवीन संदर्भों में प्रयोग करता है। जिससे स्वर, व्यञ्जन, संकल्पना एवं संवादिता के द्वारा एक सूक्ष्म संगीत उत्पन्न होता है। विशिष्ट संदर्भों में प्रयुक्त किये गये शब्द, वाक्यांश अथवा बिम्ब भी कभी–कभी प्रतीक ही होते हैं। केवल एक प्रतीक के द्वारा कवि एक पूरे वातावरण एवं युग को साकार कर देता है। जैसे 'मृगत्वम्' में मृग का भय व्यक्ति की दीनता एवं मृत्यु का भय है, जिसमें 'शाकुन्तलम्' के मृग के प्रतीक द्वारा आधुनिक समाज की अस्थिरता एवं सद्यमृत्यु को चित्रित किया गया है। परन्तु जब प्रतीक साधन न होकर साध्य बन जाते हैं तब वह अपना महत्व खोकर काव्य के लिये उपकारी न होकर अपकारी हो जाते हैं।

1. मृगया पृष्ठ–16

मिथ

पुराण, रामायण और महाभारत मिथकीय ग्रन्थ के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। पुराणों में प्रयुक्त 'मिथक' हमारी साहित्यिक और सांस्कृतिक धरोहर हैं। मिथ (Myth) मूल रूप में ग्रीक शब्द है जो पौराणिक कल्पनाओं एवं कथाओं का बोधक है। संस्कृत में 'क' लगाकर उसे 'मिथक' का रूप दिया गया। 'मिथक' साहित्य का एक ऐसा माध्यम है जो किसी संस्कृति के मूल, गहनतम, आस्था, विश्वास और अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है। इसका प्रभाव पाठक के हृदय पर तत्काल ही होता है। जिससे वह जीवन के उस सत्य को शीघ्र ही आत्मसात कर लेता है। यही कारण है कि आज का कवि अपनी आस्थाओं और विश्वासों को व्यक्त करने के लिए मिथक का उपयोग करता है। साहित्य में संस्कृति के स्रोत को प्रवाहमान करने के लिये मिथकों का प्रयोग अनिवार्य होता है। जैसे–जैसे जीवन की जटिलताएँ बढ़ती जा रही हैं वैसे–वैसे पुराने मिथकों का पुनराख्यान करने के साथ–साथ नवीन मिथकों का प्रयोग भी किया जा रहा है। मिथकों की सबसे बड़ी उपादेयता यही है कि मिथक की कथा उसके पात्र एवं घटनाएँ अपने प्रतीक के रूप में आकर उस सत्य का साक्षात्कार कराते हैं जिसके लिए कवि ने मिथक का प्रयोग किया है। इस प्रकार 'मिथक' केवल कल्पना नहीं अपितु यथार्थ रूप में समग्र मानवता का प्रतीकात्मक उद्‌गार है। वस्तुतः मिथकों के द्वारा केवल बिम्ब विधानों की प्रस्तुति ही नहीं होती अपितु किसी भी संस्कृति की अन्तर्दृष्टि भी व्यक्त होती है।

मिथ के लिये 'पुराकल्पन', 'पुराणकल्पना', 'पुरावृत', 'पुराणकथा', 'पौराणिक कथा', 'प्राचीन लोककथा', 'आदिम कथा', 'पुराकथा प्रतीक' संज्ञाएं प्रयुक्त होती हैं। 'मिथ' में कथा चित्र, मनोचित्ररीति, इतिहास, भूगोल, तत्वज्ञान, रीतिरिवाज, व्रत आदि अनेक तथ्यों का समावेश होता है। वह बाहरी सतही अर्थ को दूर रख के मनोविश्व में छलांग लगाता है। अतः इसमें मर्म, चमत्कार, विस्मय, रहस्य, लीलामयता आदि प्रकट होते हैं। डॉ0 प्रवीण दरजी इस इस विषय में अपने मत को निम्न तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं –

1. पुराकल्पन का रूप कथात्मक होता है।
2. यहाँ कथा वार्ता सत्य अथवा कल्पित दोनों पर आधृत हो सकती है।
3. इसमें मानव अथवा अतिमानव के अस्तित्व को स्पर्श करने वाले प्रश्नों की अभिव्यक्ति होती है।
4. देव, अर्धदेव, मानव, अतिमानव आदि के द्वारा संकलित कर्मकाण्ड, धार्मिक अंश, सामाजिक ऐतिहासिक तत्व, सामूहिक चेतन, अचेतन ये सभी किसी न किसी प्रकार से अभिव्यक्त होता है।
5. मिथ का सम्बन्ध किसी व्यक्ति के साथ नहीं अपितु सामाजिक चेतना के साथ है।
6. उसका सम्बन्ध अचेतन मन के साथ होता है।

निष्क्रान्तासर्वे में बिलखती हुई अयोध्या को देखकर राम का वनगमन ही याद नहीं आता अपितु वर्तमान समय में हो रहा रामजन्म भूमि विवाद भी सजीव हो उठता है।

अधुना
अयोध्यायां मनुष्या न वसन्ति
वसन्त्यत्र विषादखण्डाः
महालयेषु अश्रुदीपाः प्रज्ज्वलन्ति
भित्तिषु व्यथा श्वसन्ति
क्रौञ्चमिथुनचीत्कारः सरयुजलायते
हृदयं सुमंत्र—रिक्तरथायते,
मनोऽहल्यायते। (पृ0—70)

यहाँ पर अयोध्या का मनुष्यहीन होना, घरों में आंसुओं के दीए जलना, दीवारों की व्यथा, सुमंत्र का खाली रथ क्रोञ्च मिथुन की चीत्कार और मन का अहिल्या बन जाना एक मौन क्रन्दन को व्यक्त करता है। इसे पुराकल्पन अथवा मिथ का सफल प्रयोग कहा जा सकता है। क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष तथ्यों की 'मिथ' के आवरण से स्पष्ट व्यञ्जना हो रही है। इसी प्रकार के अन्य अनेको प्रयोग माधव की कविता का प्राणतत्त्व बने हुए हैं। 'निष्क्रान्ता सर्वे' के प्रथम खण्ड की समस्त रचनाएं पुराकल्पन काव्य का अनुपम उदाहरण है।

डॉ0 राधाबल्लभ त्रिपाठी ने 'सन्धानम्' मे जीवन के व्याकरण को ऐसे 'मिथ' प्रदान किये हैं कि पुराकल्पन काव्य की एक सरणि प्रवाहित होने लगती है।

न गुणं प्रापिताः केचिन्नवा वृद्धिमुपागतः
इतो लोप इव च्छिन्ना मनस्येव मनोरथाः[1]

उनकी चौरपञ्चाशिका परिशिष्टम्[2] में भी 'मिथ' का प्रयोग किया गया हैं। डॉ0 जगन्नाथ पाठक की 'आर्यासहस्त्ररामम्' की अनेको आर्याओं में 'मिथ' का प्रयोग दर्शनीय हैं। यथा—

त्वं प्रांशुलभ्यमीप्सुः फलमसि न हि वामनः सखे यदपि
त्वामिह तथापि गोष्ठयां कविरयमित्युपहसन्त्येके[3]**।**

बनमाली विश्वाल की अग्नि दीपः, मार्ग, पुष्पम्[4] आदि अनेको रचनाएँ 'मिथ' के अनुपम उदाहरण हैं। डॉ0 प्रशस्य मित्र शास्त्री ने यद्यपि व्यंग्य और हास्य को अपनी लेखन का विषय बनाया है फिर भी उसके नर्मदा काव्य संग्रह में 'मिथ' के प्रयोग की अनेकों सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। अनेकों प्राचीन उक्तियॉ एवं प्रसंग वर्तमान के साथ जुड़कर नया आकार ले लेते हैं।[5]

डॉ0 रवीन्द्र कुमार पण्डा की 'केवलमाकाशः[6], चपला, काकः[7] आदि रचनाओं में भी 'मिथ' का प्रयोग किया गया हैं।

अन्तरात्मा कथयति
त्वमेका चपला
कदा मेघस्य नीड़े
कदा चाकाशस्य क्रोड़े
विचित्रा ते चरणस्यलीला (नीरवझरः पृ0 13)

अभिनवपरिकल्पना और युगबोध की दृष्टि से दीपक घोष की 'मेघविलापम्' एक प्रभावशाली रचना है। कालिदास ने मेघदूत में यक्ष के महल का जो वैभव और सौन्दर्य चित्रित किया है

---

1. सन्धानम् पृ0 12
2. सन्धानम् पृ0 28
3. आर्यासहस्त्ररामम् पृ0 40
4. व्यथा पृ0 1,13,18,21
5. नर्मदा पृ0 30,42,55
6. नीरवझरः पृ0 11
7. नीरवझरः पृ0 12

कवि ने उसके समानान्तर आधुनिक भारत के एक दरिद्र के घर का दैन्य और अभाव चित्रित किया है। 'मेघविलापम्' के नायक की स्थितियॉ इसके ठीक विपरीत है। स्थितियों का यही विपर्यय 'मिथ' के प्रयोग से कालजयी हो गया हैं–

हासोऽज्ञातो मधुमयमुखादश्रुधौते गृहे मे
दन्तैर्घटट्: कुटिलवदने साश्रुवर्णे बसन्ते
मेघालोके प्रथयति कविः काव्यमालां सुगन्धिं
मेघालोके मम तु ह्रदयं सर्वथा भीतभीतम् (मेघविलापम्–5)

भास्कराचार्य त्रिपाठी की रचनाओं में बिम्ब प्रतीक, मिथकों का दुर्लभ विन्यास मिलता है। इन्होंने वक्रोक्ति की विच्छित्ति से सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के संन्दर्भों पर तीखे प्रहार किये हैं। समकालिक जीवन पर कवि की इस मार्मिक टिप्पणी में 'मिथक' का अद्‌भुत प्रयोग है– **आगतः खलुकालः कोऽयम्**
पोरवो रक्षति नहि विनयम्।
अपि वृद्धा गौतमी न सम्प्रति निर्भय सञ्चारा,
शारद्वतशिष्येण हन्यते वत्सल सम्भारा[1]

इस प्रकार संस्कृत की समकालिक कविताओं में मिथको के माध्यम से आधुनिक व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द, संशय और जटिल मनोविज्ञान को सूक्ष्म रुप में व्यञ्जित किया हैं। डॉ0 कमलेश दत्त त्रिपाठी की 'सुतनुके' शीर्षक कविता में रामगढ़ के तीसरी शती ई0 पू0 के शिलालेख में उल्लिखित सुतनुका तथा देवदत्त इन दो प्रेमियो की विस्तृत कथा के सन्दर्भ में आधुनिक व्यक्ति की द्विधाग्रस्त मनः स्थिति का वर्णन किया गया हैं।[1] दयानन्द भार्गव की कविता ''द्विधा विभक्तं पुरुराज चित्तं'' भी इसी प्रकार का अभिनव प्रयोग कही जा सकती हैं। डॉ0 रेवाप्रसाद द्विवेदी की शकटार काव्यम्[2] में नन्दों के कुचक्र और मन्त्री शकटार की कारागार से मुक्ति के सन्दर्भ में की गयी इस रचना में शकटार और नेल्सन मंडेला को चिरन्तन जिजीविषा के साधक के रुप में निरुपित किया गया है। शकटार एक ऐसा 'मिथक' है जो नेल्सन मंडेला के रुप में अपनी प्रवृत्ति को समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है।

1. प्रख्या भाग–1 पृ0 14–16 (अभिज्ञानम्) कविता से। 2. दूर्वा प्रवेशाङ्क .पृ0 23
3. दूर्वा अङ्क. 19. पृ0 45–60

रुपक ग्रन्थि

रुपक ग्रन्थि से अभिप्राय काव्य में चमत्कार जन्य रुपक अलंकार के प्रयोग से है।अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने इसके भव्य प्रयोग अपने काव्य में किये हैं।

यथा – **मेनकां त्वां निजाश्रमे लब्ध्वा**
कौशिकीभूय मे मनोलग्नम्
पार्वणं प्रेक्ष्य हन्त वक्त्रेन्दुम्
सागरीभूय मे मनोलग्नम् (मधुपर्णी पृ0 18)

हर्षदेव माधव नें 'मृगया' में इसका प्रयोग किया है संज्ञा सूर्य की पत्नी है सूर्य के तेज के न सहन करती हुयी वह अश्वा के रुप को धारण कर लेती है इस कथा का उल्लेख करके उन्होने प्रेम को नवीन अभिव्यक्ति प्रदान की है।

हे सप्तसप्ते/मयि धमनीषु/अश्वानामावेगः समुत्पन्नोऽस्ति
तं चूर्णी कुरु
तव सप्ताश्वैः
हे सूर्य।
मद्‌गर्भाशयान्धकारे
प्ररोहमयीं द्युतिरेखामालिख!
तव तीक्ष्णकरैः
मम स्तनयोः तृणलिपिं लिख। (मृगया 46)

इसी प्रकार अन्यत्र भी अलकनन्दा के रुप में माधव के काव्य में रुपकग्रन्थि का प्रयोग दृष्टव्य है–

चाणक्येन वैरोचकाय?
प्रेषिता विषकन्या?
वैशालीगणतन्त्रस्य आम्रपाली?
आनातोलफांसस्य थायस?
डेल्फिनः देवदर्शिनी?
खज्जूराहोशिल्पस्य कामिनी?
का त्वं अलकनन्दे?
वेदानां गायत्री?/तुलसीदासस्य चौपाई?
फिराकगोरखपुरीगजलपंक्ति? (रथ्यासुः..पृष्ठ 1)

इसके अतिरिक्त 'आसीच्च मे मनसि' की 'रथ' कविता मृत्युशतकम् की अधिकांश रचनाएँ इसी रुपक ग्रन्थि को प्रस्तुत करती है। निष्क्रान्ता सर्वे की उज्जयिनी शिप्रा के शैवाल से भरी हुई हैं वहाँ कालिदास की पंक्तियो का लावण्य विलुप्त है और अतीत की स्मृति से वह व्यथा को ढो रही है। इसके साथ साथ माधव की प्रसिद्ध कविता अयोध्या उपमान और उपमेय के व्यापकत्व के साथ अलौकिक आनन्द की सृष्टि करती है–

अधुना अयोध्यायां मनुष्या न वसन्ति
वसन्त्यत्र विषादखण्डाः
महालयेषु अश्रुदीपाः प्रज्ज्वलन्ति
भित्तिषु व्यथा श्वसन्ति
अपि च
क्रौञ्चमिथुनचीत्कार सरयुजलायते
हृदयं सुमंत्र रिक्तरथायते
मनोऽल्यायते
महालय–पर्यङ्के
घनीभूतः शोकः छिन्नवृक्षायते
अधुनारामः प्रतिनिवर्तेत चेत्
तदापि
प्रत्यभिज्ञानरहितो रामः
स्मृतेर्ध्वशावशेषातां गतां विषादजडाम्
अयोध्यां / कथं समाश्वासयेत्?
कथम्? कथम्? (निष्क्रान्ताःसर्वे पृ0 70)

यहाँ पर अयोध्या के राम से प्रारम्भ हुई कथा तत्कालीन समाज को रूपायित करती हुई अद्यतन स्थितियों पर विराम लेती हैं। इस प्रकार रूपक ग्रन्थि के प्रयोग से कवि ने एक कविता में युगों की संस्कृति को व्यक्त किया है। यहाँ सरयू के जल की हलचल, व्यथा और क्रोञ्च पक्षी का चीत्कार सुमंत्र द्वारा लौटाए गये खाली रथ में विद्यमान है। मन का अहिल्या हो जाना दुःख एवं व्यथा की पराकाष्ठा को व्यञ्जित करता है।

बनमाली बिश्वाल की 'हसत्यपि कश्चित दुर्योधनः' भी इसी प्रकार की रचना है, जिसमें दुर्योधन के माध्यम से आधुनिक संस्कृति को रूपायित किया गया है –

स्वसंस्कृतिः गगनतिन्तिडी
शिरा प्रशिरासु
प्रवहति विदेशि संस्कृतिः
स्थाने स्थाने कुरुसभा
भिन्नं प्रकरणं
परिवेशः भिन्नः
न प्रतिवदति द्रोणः
पितामहः भीष्मः
असंख्यकैर्दुष्टदुःशासनैः
विवसनाः भवन्त्यद्य
ग्रामे ग्रामे असंख्यपाञ्चाल्यः
विवसनाः भवन्त्यद्य
पाण्डवानां न कश्चिदाक्रोशः
न प्रतिज्ञाऽपि वृकोदरस्य
कस्य वा किं करिष्यति
विवशायाः द्रौपद्या स शापः?
कलियुगे योऽस्ति निष्प्रभावः।
रोदति सा ग्रामभूमिः
गगनं सम्भिद्यायाति
दुःस्थ–सर्वहाराणां क्रन्दनं
सम्भिद्य तत् करुण क्रन्दनं
हस्त्यपि कश्चिद् दुर्योधनः

(ऋतुपर्णा पृ0–20)

इसमें महाभारतीय परिवेश की विशेषताएँ आज भी श्वाँस ले रही हैं इसको नवीन उपमान एवं उपमेय के प्रयोग द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। निस्संदेह यह प्रयोग नवीन आलंकारिक सौन्दर्यबोध को विकसित करने में सहायक है।

इसके अतिरिक्त रवीन्द्र पण्डा, जनार्दन मणि, रमाकान्त शुक्ल, प्रणव पण्ड्या आदि अनेकों कवियों ने अपने काव्य में इस सौन्दर्य का प्रतिपादन किया है। रूपक ग्रन्थि के प्रयोग से काव्य उस अचिन्तनीय आनन्द की अनुभूति कराता है जिसके विषय में पाठक एवं श्रोता की कल्पना अकल्पनीय बन जाती है।

यदि संक्षेप में कहा जाए तो जहाँ सम्पूर्ण काव्य रूपकमय हो जाता है उसे रूपक ग्रन्थि कहते हैं। अर्वाचीन समस्त संस्कृत कवियों ने प्रायः स्पष्टता से इसके प्रयोग को तो स्वीकार नहीं किया है परन्तु यत्र तत्र छिटका हुआ उनका तद्‌गत सौन्दर्य अस्फुट रूप में कहीं दिखाई दे जाता है।

'प्रकाशोपनिषद' में प्रकाश की बहुरंगी छटा और उसके विविध रूप उसे नई कविता से जोड़ते हैं। जहाँ प्राचीनता और अर्वाचीनता का अद्‌भुत संगम नवीन परिदृश्य और उपमानों के साथ किया जाता है वहाँ रूपक ग्रन्थि का प्रयोग स्वीकार करना चाहिये।

तरंग

तरंग का अभिप्राय एक ऐसी अनुभूति से है जो अप्रत्यक्ष रूप में मन को तरंगित करती है। अर्थात परिपक्वता के अभाव में की गई कल्पना को तरंग कहा जा सकता है। इसमें व्यंग्य की अमूर्त कल्पना होती है जो कटाक्ष के रूप में पाठक के अन्तर्मन का स्पर्श करती है। इस कटाक्ष में पीड़ा के स्थान पर रसानुभूति होती है। माधव द्वारा मृत्यु के विषय में की गई यह व्यञ्जना कितनी मार्मिक है –

वर्तमानपत्रस्य रिक्तस्थानपूर्त्यै
मृत्युर्यथाऽऽगच्छति,
तदैव
गृहस्य सर्वपूर्णकक्षेषु
कक्षमेकं रिक्तं कर्तुमपि

(मृत्युशतकम् (10))

इसी प्रकार के कटाक्ष राधावल्लभ त्रिपाठी के 'सन्धानम्' काव्य में भी मिलते हैं जिसमें जनता की समस्याओं को 'महापौर' द्वारा सुख सुविधाओं के बीच रहकर सुना जाता है। ऐसे में भला कष्ट के वास्तविक अनुभव को वे कैसे समझ सकते हैं –

अवस्थानेषु हट्टेषु पिपासापीड़िता नराः
बम्भ्रामति जलं पातुमन्विष्यन्तः प्रणालकम्
सद्यो जलव्यवस्था स्यादित्याश्वासयति प्रजाम्
'मारुतिं' च समारुह्य महापौरः समागतः

('सन्धानम्' 77/16–18)

यद्यपि अधिकांश कवियों ने इस प्रकार की रचनाएँ की हैं परन्तु उन्होंने उसे व्यञ्जना अथवा व्यंग्य माना है। परन्तु यह तरंग क्योंकि व्यंग्य से ही उत्पन्न होती है अतः इसे व्यंग्य का अगला सोपान माना जा सकता है। रवीन्द्र कुमार पण्डा भी युग चित्रण में अपनी अनुभूति को कुछ इस प्रकार कहते हैं –

अयं कलिकालः
बकायते यदा सरलो मरालः।
सर्वे काकाः किन्तुगरुड़ायमाना
बका विमुग्धाश्च विवेकहीनाः,
युधिष्ठिराः कुर्वन्ति द्रोणहत्याम्
आधुनिकीयं सुन्दरी सभ्यता
आचरन्ति सर्वं कलिकाल कृष्णाः
शिखण्डीभयात् पलायन्ते भीष्माः

पृ0–04(बलाका)

डॉ0 जगन्नाथ पाठक समाज, साहित्य एवं कला के कुशल चितेरे हैं। अपनी छोटी छोटी आर्याओं में उन्होंने भावना का सागर भर दिया है। समाज की ऐसी कोई विद्रूपता नहीं जो उनके काव्य में न उभरी हो। उनकी आर्याएँ सहज एवं सम्प्रेषणीय है। युगीन परिवेश अपने अर्थबोध से पाठको को आनन्दित करता है। उनके काव्य में अलंकारों, समासों और चमत्कार प्रस्तुति का घटाटोप नहीं है अपितु सरल शैली में कही गई बात पाठक एवं श्रोता के समक्ष एक प्रश्न

छोड़ जाती है। सम्भवतः काव्य की सफलता भी यही होती है जिसमें पढ़ने के बाद रोमाञ्च की सिहरन हो, सम्भ्वतः यही तरंग है जो 'आर्यासहस्रारामम्' की अनेकों आर्याओं में मौजूद है –

सम्पूर्ण एव गेहे स्नेहेन प्रज्ज्वलन् पुरा योऽभूत्
निःस्नेहादिव दीपात् तस्माद् गेहोऽधुना ज्वलति

(पृ0 2/12)

श्रुतिवानस्मि जनेभ्यो नगरक्षेत्रादुपागतेभ्य इदम्
विक्रेतुं स्वां कवितां विपणिं गतवान् जगन्नाथः

18/136

यहाँ स्वयं कवि की पीड़ा है जिसमें यदि उसे अपनी कविता बेचने बाजार जाना पड़े तो इससे अधिक दुर्भाग्य की क्या बात हो सकती है जबकि वह स्वयं मानते हैं कि मेरा काव्य मेरे अन्तर्मन में गूंज रहे संङ्गीत का ही प्रस्फुटीकरण है। जो तरंगायित होकर बाहर आ रहा है –

साहित्यं यत्किञ्चनमामकमभिलक्ष्यते बर्हिभूतम्
अन्तःस्थस्यममैतत् संङ्गीतस्यैव परिणामः।

9/63

अभिराज राजेन्द्र मिश्र की तूलिका भी विद्रोहिणी ही रही है। वे समाज की कुरीतियों, उसके दोहरे मानदण्डों पर अपने आवेश को नहीं रोक पाते। अतः उनके 'मत्तवारणी' में 'तरंग' का यह रूप दृष्टिगोचर होता है –

परितोऽपि पामराणां तृणशालिकाइमाः
होलाऽनलं समिन्धय बन्धो! शनैः शनैः

रेवा प्रसाद द्विवेदी की 'प्रमथ' में इसी प्रकार की कविताएँ संकलित हैं। इसमें स्वाभाविक पैनापन है जिसे पढ़ने पर व्यञ्जना और वक्रोक्ति सम्मिलित रूप से आह्लादित करती है आज व्यक्ति अपने सुख से सुखी नहीं है अपितु दूसरे दुःख में ही संतुष्टि पाता है और उसकी समृद्धि से खिन्न हो उठता है –

अहमस्मि न हन्त हन्त तुष्ट–
श्चरितार्थ परिलक्ष्य मां स्वगेहे।
परितुष्यति चेतना मदीया
प्रतिवेशे यदि वहनिमुत्सृजामि
मम धेनुरतीव पुष्टगात्री–
त्येलमेतन्मम नास्ति तोषणाय।
प्रतिवेशिविडालकप्रपोष–
परिदग्धाम्बक शूल पीडितस्य।। (प्रमथः पृ0 56)

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी अपनी उर्वर कल्पना के धनी हैं। वे कविता को हृदय की भाषा कहते हैं जो नववधू की भाँति मौन में भी मुखर हैं।

प्रतिबद्धता

जब साहित्यकार दलित समाज के साथ जुड़कर अपना लेखन कार्य करता है तब उसके काव्य में प्रतिबद्धता दिखाई देती है। वैसे तो प्राचीन से अर्वाचीन काल तक समस्त साहित्य समाज से प्रेरित होकर ही लिखा जाता रहा है। परन्तु जब कवि का काव्य समाज की कुरीतियों पर आक्रमण हेतु उसके दबे कुचले वर्ग के आँसुओं से भीगने लगता है शोषक और शोषित का टकराव होता है एवं जीवन के मूल्य बदलने लगते हैं वहीं पर कविता में प्रतिबद्धता का जन्म होता है। यह प्रतिबद्धता कवि की समाज एवं साहित्य के प्रति दायित्वबोध कही जा सकती है। प्रायः अर्वाचीन काव्य में रूढ़ियों को तोड़ने का आह्वान सुनाई देता है। इसमें न केवल भूखे की जठराग्नि प्रदीप्त होती दिखाई देती है अपितु समाज के पिछड़े वर्ग की वेदना भी व्यञ्जित होती है कवि राधावल्लभ त्रिपाठी जनता लहरी में कृषक, श्रमिक, लुहार और बुनकर सभी के आंसू शब्दों में पिरो देते हैं –

ये भूमिं निखनन्ति खर्वपरुषां कुद्दालमुत्तोल्य ये,
साम्बाकृत्य कृषन्ति शस्यजननीं, कर्षन्ति ये वा हलम्।
ये स्कन्धेषु च रोपयन्ति विपुलं फालं तथा लाड.गलं,
धाराभिः परशोरुदग्रपरुषाश्छिन्दन्ति काष्ठानि ये।

ये लौहं द्रवयन्ति यन्त्रनिवहैः सीव्यन्ति वस्त्राणि ये,
दर्वीर्वा त्वरितं नुदन्ति विपुलाभोगे कटाहे च ये
उन्मातुं पृथिवीं दिशो विमथितुं संस्प्रष्टुमाहो नभः
सत्येते किणचिह्निता व्रणयुतास्ते ते करा उत्थिताः

(जनता लहरी 45–46)

केवल भोजन के लिये श्वानों की भाँति घात प्रतिघात करते भूखे श्रमिकों एवं निरीह प्रणियों की वेदना व्यञ्जित करना ही प्रतिबद्धता नहीं है अपितु साहित्यिक शोषण की पीड़ा से भी अर्वाचीन कवि की पीड़ा मुखरित होती है।

फूत्करोति डुण्डुभः/प्रलम्बशैवल प्रभः
कपोत कुर्बरं च/कृन्ततीव सान्ध्यनभः
मेघमालिकासु चित्रदुर्लिपिं पठामि
प्रकाशकीटकेषु, चाटुगीतकं रटामि
नवीन–शक्रवीथिका/विभाति नक्र–वीथिका
कथन्नु तर्जयन्ति/तन्तुजाल–भङ्ग.कथा
स्वप्न लालितोऽपि/दंशवेदनं वहामि
ननु शोणितव्ययेन, भूर्जकं लिखामि।

(प्रख्या 1, पृष्ठ–12)

कामता प्रसाद त्रिपाठी की 'विकृति' नामक कविता समाज के विकारों पर किया गया उद्घोष है वे आज अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों को देखकर व्यथित हैं –

दलिताखिलनीतिपद्धतिः प्रकृतिस्था विकृतिः समेधते
पुरुषार्थचतुष्टयेऽधुना धनकामद्वयमेव शिष्यते।

(प्रख्या 1, पृष्ठ–20)

पुष्पा दीक्षित की मनोवेदना भी कम नहीं है परन्तु अभिराज राजेन्द्र मिश्र की 'अन्योक्ति विलास' उनकी समाज के प्रति प्रतिबद्धता की अनुपम गौरव मणि है। उसके अनेकों उदाहरणों में सामाजिक दुराग्रह के स्वर फूटे हैं। अभिराज सामाजिक विकृतियों को इतने करीब से स्पर्श कर लेते हैं कि पाठक स्तब्ध रह जाता है चाहे वह उत्कोच हो अथवा नेताओं का दोहरा चरित्र हो उनके व्यंग्य दोनों ही दृष्टि में

बेजोड़ हैं।

किं मां कशाभिघातैर्जर्जरदेहं ताडयसि रक्षिन्
मद्दत्तापि धनश्रीर्भविता त्वद्दुरितघटनायै[1]

(आर्यान्योक्तिशतकम् 20/8)

अग्निं सन्दीप्य नेतारः स्वयं तिष्ठन्ति दूरतः
ज्वलन्ति केवलं मुग्धा अनाथं जायते कुलम्।

(अभिराजसहस्रकम् पृ0 50/103)

समाज में होने वाले परिवर्तन यद्यपि सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही दृष्टि से निरन्तर हो रहे हैं परन्तु कवि की दृष्टि उसके नकारात्मक पक्ष पर अधिक केन्द्रित है। वह भारत की उन्नति से प्रसन्न है परन्तु उस मार्ग से व्यथित है जिस पर चलकर हम अपने आर्य होने का गौरव खो रहे हैं। हमारा दोहरा चरित्र यदि हमारे विकास का सेतु है तो हमें एक बार अपना मूल्यांकन अवश्य कर लेना चाहिये। जनार्दन प्रसाद मणि की अत्यन्त लोकप्रिय 'का कथा' नामक कविता समाज के प्रति कवि की सामयिक प्रतिबद्धता को व्यञ्जित करती है –

साफल्यदा यदि जातिराधुनिके त्वदीये भारते
हे सर्वकार विचिन्त्यतां ननु योग्यतानां का कथा।
काकैर्बकैर्नुनु पेचकैर्महिते सभाया मण्डिपे
रे शारदे तव विज्ञहंससुभाषितानां का कथा।

(निष्यन्दिनी 53/6,9)

इच्छाराम द्विवेदी ने समाज में पल्लवित पुष्पित होते 'आरक्षण' जैसे विषय पर अपनी वेदना व्यक्त की है –

सद्वंशे जनिरेव पापमतुलं, शास्त्रे श्रमोऽयोग्यता
वैदुष्यं विपदां पदं प्रतिदिनं देवप्रियाणां गणे।
दुर्भिक्षं मरणं भयं नु भविता मे भारते निश्चितं
नेदं रक्षणमस्ति केवलमिदं हाऽऽरक्षणं भक्षणम्।

(प्रणवरचनावली 478/16)

इस आरक्षण को रक्षण के स्थान पर भक्षण बताने वाला कवि समाज के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर करता है। परन्तु रमाकान्त शुक्ल की कविताओं में भारतवर्ष के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण

दिखाई देता है उन्हें विश्वास है कि हम प्रत्येक स्थिति में अन्य देशों से आज भी सुसंस्कृत एवं कर्मठ हैं —

विश्वस्मिन् जगति गताहमस्मि
विश्वस्मिन् जगति सदा दृश्ये
विश्वस्मिन् जगति करोमि कर्म
कर्मण्या भारतजनताहम्

(सर्वशुक्ला 144 / 10)

अन्ततः कहा जा सकता है कि अर्वाचीन काव्य की बयार बहुरंगी होकर बह रही है। उसमें न केवल बाह्य परिवर्तन आये हैं अपितु अन्तरङ्ग. परिवर्तन पर भी कवि की सिद्ध दृष्टि रही है। आधुनिक कवि यद्यपि स्व आनन्द के लिये कालिदास और बाणभट्ट को भी छोड़ना नहीं चाहता परन्तु समाज से जुड़ने और समाज को जोड़ने के लिये उसने अपनी कविता में कुछ नये रंग भरे हैं। यद्यपि पुराने मानकों पर खरी न उतरने वाली उसकी यह कविता काव्यशास्त्र की भृकुटि पर सिलवटें डाल रही हैं। परन्तु सहृदयी नवजिज्ञासु उसे स्वीकार कर रहे हैं।

यदि सूक्ष्म रूप से अवलोकन किया जाये तो कविता का अन्तर्मन वही है बस नयी साज सज्जा किये वह पुरातन होकर भी चिरयौवना नायिका बन गई है। समाज ने जो समस्याएँ दी उससे उसकी विषयवस्तु, भाव एवं काव्य प्रस्तुति में अन्तर आया, इसके साथ ही पाश्चात्य दृष्टि के साथ जुड़ते ही समस्त विश्व एक हो गया। कवि को जहाँ भी आकर्षक नवप्रयोग दिखाई दिये उसने उन्हें उपनी कविता का विषय बना लिया। इस प्रकार आज अनेकों नवीन बिम्ब, प्रतीक, मिथ, रूपक, तरंग, प्रतिबद्धता, अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के आन्तरिक सौन्दर्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं।

चतुर्थ अध्याय

बदलते हुये सामाजिक मूल्य और आधुनिक काव्य की दिशा

बदलते हुये सामाजिक परिवेश से संस्कृत साहित्य भी अछूता नहीं है। मूल्यों की परिवर्तनशीलता से जिस युगबोध का बिगुल बजा है उसमें संस्कृत काव्य ने अनेकों परम्पराओं को तोड़ते हुये अपने नवीन प्रतिमान स्थापित किये हैं। इस कविता में ओज, ऊर्जा, करुणा, देश प्रेम, निषेधात्मक अभिव्यक्तियाँ, विश्व दृष्टि, राजनीति, नगरीकरण एवं रूढियों के विरोध का साहस है। इससे यह सम्यक रूप से स्पष्ट होता है कि आधुनिक संस्कृत काव्य ने परम्परात्मक एवं अभिजात्यीय बिन्दुओं से ऊपर उठकर अपनी सोच में परिवर्तन किया है, उसे समीचीन बनाया है। आज काव्य का स्वरूप एवं दिशा मानव मनोविज्ञान की परिधि में सिमट रही है। हम पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता से प्रभावित हैं, सम्पूर्ण विश्व पर दृष्टि केन्द्रित करके ही अपनी कलम को विषय सूत्र पकड़ा रहे हैं। प्राचीन काव्यशास्त्र यद्यपि आज उपेक्षित तो नहीं है परन्तु काव्य सृजन की दृष्टि से आज के कवि में लचीलापन आ रहा है। वह कविता का ताना बाना कुछ इस प्रकार बुनना चाहता है जहाँ उसके अर्वाचीन होने की गुंजाइश बनी रही। आधुनिक काव्य में विषय की विविधता बदलते हुये सामाजिक मूल्यों की देन है। आज का कवि अपनी मौलिकता को संजोना चाहता है परन्तु कालजयी रचना के सृजन में स्वयं को असहाय पा रहा है। कारण यह है कि उसकी गहन एवं चिन्तनशील दृष्टि इस बात पर केन्द्रित है कि वह कितने काव्य लिख चुका। जबकि चिन्तन यह होना चाहिये कि वह कैसा काव्य लिख रहा है। बढ़ते काव्य ग्रन्थों की संख्या हमें यह सोचने पर मजबूर कर रही है कि अर्वाचीन काव्य की दिशा क्या होनी चाहिये?

1. राष्ट्रीय चेतना

संस्कृत भाषा की आधुनिक कविता राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व को अपने लेखन से व्यक्त कर रही है। आज का कवि देश के भौगोलिक परिवेश का खाका खींचकर एक ओर तो उसके बाह्य

स्वरूप को कैनवस पर उतार रहा है दूसरी ओर उसकी आत्मा में अन्तर्भूत उसके प्रति त्याग एवं बलिदान के ओजस्वी तत्वों पर भी केन्द्रीभूत हैं। परन्तु राधावल्लभ त्रिपाठी राष्ट्रीय चेतना युक्त संस्कृत रचनाओं से संतुष्ट नहीं है क्योंकि वे मानते हैं कि संस्कृत में भारतीयता को आधार बनाकर यद्यपि प्रभूत साहित्य लिखा गया है फिर भी आज तक नेहरू जी की 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' जैसी पुस्तकें क्यों नहीं लिखी गयीं। 'दृक' में डॉ0 त्रिपाठी कहते हैं कि "उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पूर्व के साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति राष्ट्रीयता रही है। उस समय जो राष्ट्रीय भावधारा संस्कृत रचनाओं में प्रवाहित हुई, वह संस्कृतसाहित्य की पूरी परम्परा में ही नया मोड़ है। आजादी की लड़ाई का शंखनाद और क्रान्ति का तेजस्वी स्वर तथा भाषा और अभिव्यक्ति की प्रखरता उसी काव्योत्कर्ष के साथ उसमें गूँजी है। योगी अरविन्द की भवानीभारती हो अथवा हरिदत्त पालीवाल निर्भय के क्रान्ति का अमरगान करने वाले गीत, रामनाथ पाठक 'प्रणयी' आदि की रचनाएँ – वे राष्ट्रीय भावधारा को जीवन्त अनुभव के रूप में सम्प्रेषित करते हैं। आजादी के बाद भारत की स्तुति करने वाली रचनाओं में यह स्वर कई बार निरर्थक राग का अलाप मात्र रह जाता है।"

(दृक 15–16, पृष्ठ 8)

वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना का अभिप्रायः केवल राष्ट्र का इतिहास, भूगोल, सामाजिक मूल्यों और सांस्कृतिक चेतना का ही गुणगान करना नहीं है अपितु इसमें एक ऐसी साधना निहित है जिसके द्वारा कवि अपनी राष्ट्रभूमि पर खड़े होकर सम्पूर्ण विश्व को निहार सके। इसके साथ ही उन संस्कृतियों को भी आत्मसात करके भारतीय बना दे जो दूर छिटकी हुई खड़ी है। इसके लिये कवि का सहृदयी एवं विश्वदृष्टा होना आवश्यक है। रेवा प्रसाद द्विवेदी का 'शकटारः' खण्डकाव्य राष्ट्रीय चेतना का अनुपम उदाहरण है। इसमें नेल्सन मंडेला के द्वारा भोगे गये कारागार के कष्टों को शकटार के ऊपर आरोपित करके उस विश्व प्रसिद्ध घटना को वर्णित कर दिया। अभिराज राजेन्द्र मिश्र के व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में ही उनकी

बेबाक छवि का निदर्शन है। वे स्पष्टवादी होने के कारण कहीं कहीं बहुत कड़वी बात भी कह जाते हैं। उन्हें भारतीय चेतना एवं राष्ट्रीयता के नाम पर व्यक्तिस्तुतिपरक रचनाएँ स्वीकार नहीं। अतः चाटुकारिता का लबादा ओढ़े हुए ऐसे तथाकथित राष्ट्रकवियों की रचनाओं से वे संतुष्ट नहीं हैं। उनके काव्य की आत्मा तो खेतिहर मजदूरों की कुटियों में विश्राम पाती है और यही भारत की राष्ट्रीय चेतना है –

प्राणतन्त्रीस्फुरत्काकलीकौतुकैः
पामराणां कुटीरे स्थितं मन्मनः

(शालभञ्जिका–72 / 3)

उनका तो स्वप्न भी यही है कि सौ बार भी जन्म हो तो इसी भारतीय वसुन्धरा पर हो जिसकी मिट्टी पर लोटकर जीवन सार्थक हो जाये–

विराजन्तामनन्ताः शालयो नतमञ्जरी पुञ्जा
सुशोभन्तां वनान्ता दुष्प्रवेशल सन्निचुल कुञ्जा
भवेदिह मृत्तिकायां विलुण्ठनं भूयोऽपि शतवारम्
परं स्याद् भारते।

(मधुपर्णी, पृष्ठ–43)

इसके साथ ही उन्हें अपने भारतीय होने पर गर्व है क्योंकि वे मानते हैं कि हम फूल से कोमल और वज्र से कठोर हैं। श्रेष्ठ मार्ग पर चलने वाले हैं, देवभाषा संस्कृत के उपासक हैं और आज भी विश्वगुरू होने के योग्य हैं[1]। इसके अतिरिक्त अभिराज के साहित्य में अन्य अनेकों उदाहरण उनके राष्ट्रीय सेवक होने के प्रमाण हैं। उनकी राष्ट्रीय चेतना सतही नहीं है अपितु वह उसमें आकण्ठ डूबे हुये हैं। कमलेश दत्त त्रिपाठी की "धन्या ममेयं धरा" में जिस व्यञ्जना के द्वारा देश को सही दृष्टि दी गई है वह निस्संदेह सराहनीय है। उन्होंने शोषणतन्त्र पर सोत्प्रास प्रहार किये हैं –

पूँजीस्वामि–हितैकसाधनरताः कुम्भोदरा नायका
राजन्ते खलु राजनीतिभुजगा धन्याममेयं धरा[2]

सन्धानम् में लिखे गये 'ध्रुवगीत' राधावल्लभ त्रिपाठी की राष्ट्रभावना

1. मधुपर्णी, पृष्ठ–45
2. कवि भारती–कुसुमाञ्जली भाग 6, पृष्ठ–75

को व्यञ्जित करते हैं। उन्हें इस राष्ट्र से अपेक्षाएँ है परन्तु जब वह पूरी नहीं होतीं तो उनकी पीड़ा इस प्रकार मुखरित होती है –

तस्करास्ते प्रभवन्ति यथा–यथा
जायते जनजीवनमययथातथा
अनुदिनं तु वर्धते जनताव्यथा
सूर्योदयस्य सा दूरेऽस्ति कथा
चलितव्यं तमसा ग्लपितेन पथा
इयं हि चिरन्तनी प्रथा

(सन्धानम्/गीतवल्लरी, पृष्ठ–100)

श्रीनिवास रथ की कविता 'प्रणम्याः कालगील वीराः' बहुत ही हृदयस्पर्शी रचना है। बनमाली बिश्वाल की कविता 'कारगलि संघर्ष' में हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान के युद्ध में शहीद सिपाहियों की लाश पर मंडराते हुये गिद्ध मन को विचलित कर देते हैं(कारगिल विशेषांक दूर्वा)। पद्मशास्त्री कृत स्वराज्यम् एक ऐतिहासिक खण्डकाव्य है जिसमें सम्पूर्ण स्वतन्त्रता संग्राम का भावपूर्ण वर्णन है। रवीन्द्रकुमार पण्डा ने शतदलम् में भारतभूमि पर एक सौ उन्तीस श्लोक लिखकर राष्ट्रीय चेतना के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है। परन्तु इसमें एक ऐसी व्यथा दृष्टिगोचर होती है जो राष्ट्र के गिरते हुये मूल्यों से उत्पन्न हो रही है। यद्यपि संस्कृत में एक नवीन परम्परा का उदय भी हुआ है जिसमें कवियों ने विदेशों में जाकर वहाँ के सौन्दर्य और व्यवस्था को बहुत सराहा है परन्तु फिर भी उनको अपना भारत बहुत याद आता है।

भास्कराचार्य त्रिपाठी के काव्य में राजनीतिक सन्दर्भों पर विडम्बना और व्यंग्य का तीखा प्रहार दिखाई देता है।[1] रमाकान्त शुक्ल का 'भाति मे भारतम्' अत्यन्त लोकप्रिय काव्य है। उन्होंने इसमें राष्ट्र के प्रति सकारात्मक दृष्टि के संकेत दिये हैं।[2] इसके अतिरिक्त नलिनी शुक्ला, इच्छाराम द्विवेदी, जनार्दन प्रसाद पाण्डे, मणि, पुष्पा दीक्षित, दीपक घोष, हर्षदेव माधव आदि अनेकों कवियों ने अपनी कविताओं में कहीं प्रत्यक्ष एवं कहीं अप्रत्यक्ष रूप में राष्ट्रगौरव का गान

1. प्राख्या भाग 1, पृष्ठ 14–16
2. सर्वशुक्ला प्रथम खण्ड, पृष्ठ 1–58

किया है। कहीं देश की बदहाली देखकर पीड़ित हुआ हृदय रोता है तो कहीं हमारी समृद्ध ऐतिहासिक विरासत आश्वस्त करती है। फिर भी हमें विश्वास है कि हम आज भी विश्व के समक्ष श्रेष्ठता का परचम लहरा सकते हैं।

अर्वाचीन कवियों में रमाकान्त शुक्ल राष्ट्रवादी धारा के बहुत प्रशंसनीय कवि हैं। भारतवर्ष की प्रत्येक स्थिति से उन्हें प्रेम है। वह उसके अतुलनीय प्राकृतिक सौन्दर्य पर रीझे हुये हैं। भारत की परम्परा, उसकी संस्कृति ही उन्हें अभिप्रेत है। उनका विश्वास है कि ऋषियों की इस भूमि ने विश्व का मार्गदर्शन किया है। डॉ0 शुक्ल ने भारतवर्ष के कोने कोने से जुड़कर अपना काव्य 'भाति मे भारतम्' लिखा है। उनकी कविता में भारतभूमि के प्रति प्रतिबद्धता दिखाई देती है। उनका यह विश्वास है कि भारत के पास उसका स्वर्णिम अतीत है, परम्पराएँ हैं और संस्कारों की विरासत है अतः दुविधा कहीं नहीं है बाधाएँ कितनी ही आयें भारत की जनता में सब कुछ सहने की सामर्थ्य है उसकी यही सहिष्णुता विश्व का मस्तक उसके चरणों में झुका देती है। हमारी हस्ती न मिटी है न मिटेगी क्योंकि हम अहिंसा के बल पर एक सत्ता पलट सकते हैं, भूखे और बेघर होकर मृत्युञ्जयी हैं। भारत के हवा और पानी में चरित्र बदल देने की शक्ति है। हमारा विज्ञान निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर है। वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना का बिगुल फूँकने वाले राष्ट्रीय सपूत डॉ0 रमाकान्त शुक्ल का सम्पूर्ण काव्य भारतवर्ष का समग्र परिशीलन कहा जा सकता है।

इस प्रकार बीसवीं शती में लिखी जाने वाली संस्कृत कविता देश और समस्त विश्व में सामाजिक, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिस्थितियों के साक्ष्य प्रस्तुत कर रही है। अर्वाचीन संस्कृत कवियों ने पारम्परिक विषयों के साथ साथ नये विषयों पर भी कविता में अपनी प्रतिक्रिया दी है। राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ भी स्वतन्त्रता से पहले और स्वतन्त्रता के बाद इन दो रूपों में हमें दिखाई देते है। स्वतन्त्रता के पूर्व काव्य में मुक्ति के लिये उद्वेलन दिखाई देता है तो बाद के काव्य में राष्ट्रीय दुर्गति पर क्षोभ और असन्तोष का स्वर निःसृत हो रहा है। हमारी स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता बन गई है अपने मूल्यों की गिरावट से

हम बेखबर हो रहे हैं अतः आवश्कता है उस चेतना की जो हमारी इस स्वतन्त्रता को संपोषित और संवर्धित रख सके।

2. संस्कृत भाषा की उपेक्षा पर आक्रोश

संस्कृत भाषा की उपेक्षा पर संस्कृत कवि मौन नहीं हैं उसे जब भी अवसर मिलता है वह इसे रेखांकित करने में पीछे नहीं रहता। कितने दुर्भाग्य की बात है कि देववाणी आज असहाय होकर याचना कर रही है। जिस देवभाषा ने एक समृद्ध, पुष्कल साहित्य से भारतीयों की गोद भर दी, अनेकों वैज्ञानिक चमत्कारों के लिये पृष्ठभूमि तैयार की और भटकते हुये विचलित मानव को शान्ति का पाठ पढ़ाया। आज वही संस्कृत भाषा अपने अस्तित्व के प्रति आखिर सशंकित क्यों है? यह प्रश्न लगभग समस्त कवियों के मानसपटल पर कौंधा अवश्य है। इसलिये अभिराज राजेन्द्र मिश्र भारतीयों से यह प्रश्न पूछने को विवश हैं –

क्वास्ति पाण्डितीविकासो देवभाषया विना?
क्वास्ति संस्कृति प्रकाशो देवभाषया बिना?

(मधुपर्णी, पृष्ठ–76)

बच्चू लाल अवस्थीजी तो इस देववाणी को अज्ञानान्धकार को दूर करने वाली चन्द्रिका मानते हैं। उनका मत है कि इसी से स्वाभिमान जाग्रत होता है, राष्ट्र की उन्नति होती है और राजनीति के विभिन्न पक्षों को जाना जा सकता है। इसके बिना यह जीवन व्यर्थ है।

न दुर्दशा दूरमियान्न दीनता, दरिद्रतां नाऽपि भवेदनादृता
नचादृता वाड्मयता पुरस्कृता धृतं मुखे यावदिदं न संस्कृतम्

(प्रतानिनी, पृष्ठ–260 / 4)

अन्यत्र इसकी उपेक्षा पर रोष भी व्यक्त करते हैं –

पुरातनी चापि नवां सनातनी मृतां ब्रुवाणैरपि संस्कृतां गिरम्
न लज्ज्यते यैरधमैर्नरब्रुवैः कदर्थ्यते तैः किल भारतीयता

(प्रतानिनी, पृष्ठ–260 / 6)

रमाकान्त शुक्ल इसे सुरभारती कहकर इसकी विजय का उद्घोष अपनी 'सर्वशुक्ला' के प्रारम्भ में ही करते हैं क्योंकि उन्हें विश्वास है

कि इसकी वन्दना किये बिना भावों का संकीर्तन अपूर्ण है।[1] बनमाली बिश्वाल यद्यपि इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि आज के वैज्ञानिक युग में इस संस्कृत गंगा को कम्प्यूटर पर अवतरित होना ही होगा तब ही यह विश्वफलक पर स्थापित हो सकेगी। वे इसके भगीरथ होकर इस भागीरथी को जन–जन तक पहुँचाना चाहते हैं। अतः भगवान विश्वनाथ की शरण में बैठकर यही प्रार्थना करते हैं कि –

वागेव सा संस्कृत संस्कृता या, सुधीरसौ संस्कृतपूतजिह्वः
तस्मात् सखे! प्रार्थय विश्वनाथं, प्रवर्ततां संस्कृतजाह्ववीयम्

(सङ्गमेनाभिरामा, पृष्ठ–32)

प्रायः अधिकांश कवियों ने अपनी सदाशयता का परिचय देते हुये संस्कृत को अखिल भाषाओं की जननी और सर्वज्ञान प्रदायिनी कहा है। उसकी उपेक्षा पर उन्हें रोष तो है परन्तु आशा अवश्य है कि संस्कृत के प्रति किये जाने वाले यह सृजनात्मक कार्य सफल होंगे। जनार्दन प्रसाद पाण्डे संस्कृत भाषा के विपुल साहित्य की ओर संकेत देते हुये कहते हैं कि इस भाषा से ही संसार का कल्याण सम्भव है–

अस्मिन् कलिकुलषितेऽन्धकारे कामाऽदिभिर्जिते संसारे
विमलैषा संस्कृतभाषा सदा लपनीया रचनीया सखे

(निस्यन्दिनी, पृष्ठ–35)

रवीन्द्रकुमार पण्डा ने संस्कृत प्रशस्ति पर 'शतक' लिखकर अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। वह आक्रोशित होकर कहते हैं कि जिस भाषा में हमारी वैदिक चेतना निहित है वह मृत भाषा कैसे हो सकती है और इसको कठिन भाषा के रूप में भी व्याख्यायित नहीं किया जा सकता क्योंकि इसे पढ़ने में किसी विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं होती–

वैदिकी चेतना यस्यां भाषायां खलु गुम्फिता
कथं म्रियेत सा भाषा वृथेयं निरसा कथा
संस्कृतं कठिना भाषेत्यपि च भ्रान्त धारणा
संस्कृतं सरला भाषाऽध्ययने नैव वेदना

(शतदलम्, पृष्ठ–71 / 12,13)

वे संस्कृत को मृत भाषा कहने वालों से मानो पूछना चाहते हैं कि

1. सर्वशुक्ला, पृष्ठ–02

जिस भाषा से हमारी संस्कृति जीवित है, जो अन्य भाषाओं की जननी है वह स्वयं प्राणहीन कैसे हो सकती है?

सुरभारती प्रशस्ति काव्य के रूप में वाणी पुत्र अभिराज ने भी संस्कृत शतकम् लिखकर माँ सरस्वती को अपनी भावाञ्जलि दी है। मिश्र जी संस्कृत को जीवनप्रदायिनी मानते हैं। वे कहते हैं कि अकारण विद्वेष और मन में बैठी हीनभावना, भ्रान्ति, मोह, भय एवं पराई भाषा की झूठी आसक्ति छोड़कर यदि एक बार संस्कृत के अमृतरस का पान कर लिया जाये तो कुछ भी दुर्ग्राह्य नहीं है। क्योंकि देववाणी का आस्वाद कर लेने वाला व्यक्ति ही इसका आनन्द जानता है अन्य नहीं । परन्तु बारम्बार दुर्बोधता का तर्क प्रस्तुत करना बेमानी है क्योंकि भाषा कोई भी दुर्बोध नहीं होती केवल हमारी इच्छा शक्ति होनी चाहिये–

कापि भाषा न दुर्बोधा भूतले जटिला न वा
कातराणां कदर्याणां कृते सर्व भयास्पदम्

(संस्कृतशतकम् –26 / 54)

वस्तुतः संस्कृत भाषा को न सीखकर उसके विरुद्ध किलिष्टता का प्रचार करने वाले निश्चित रूप से कायर हैं। उनकी रक्षा तो केवल माँ सरस्वती ही कर सकती हैं –

संस्कृता कठिना भाषा जटिला चापि दुर्गमा
एवं विवदमानानां रक्षित्री शारदा स्वयम्

(संस्कृतशतकम् –26 / 50)

इसलिये हे अल्पज्ञो! अमृत से द्रोह और सुरा से प्रीति करने वालो सत्य को समझो और संस्कृत का वरण करो –

अमृतद्रोहिणोऽल्पज्ञा अये मैरेयशंसिनः
भ्रमत्तारकनेत्राणि सकृदुन्मील्य पश्यत

(संस्कृतशतकम् –27 / 59)

अतः संस्कृत की उपेक्षा करना अपनी माता का अपमान करने जैसा है। प्रायः संस्कृत के रचनाकारों ने इस विषय पर रोष व्यक्त किया है। उनका कहना है कि संस्कृत को किसी की दया की आवश्यकता नहीं है यदि इसके सामने बाधाएँ न लगाई जायें तो वह कलकलनिनादिनी

गंगा है भला कौन रोक सकता है उसके प्रवाह को, गति को और उसकी पवित्रता के मानदण्डों को।

निषेधात्मक अभिव्यक्तियाँ

काव्यसंरचना के लिये जब कवि का अन्तर्मन शब्दों का आकार लेता है तब उससे निकलने वाली ऊर्जा काव्य की अनुभूति का निर्माण करती है। आक्रोशित दीन, हीन, शोषित रचनाकार की पीड़ा उसके साहित्य में सहज रूप से मुखरित हो जाती है। यदि साहित्य स्वाभाविक वेदनाओं और संतुष्टियों का वाहक होता है तब ही वह अपने छद्म आवरण से बच पाता है अन्यथा काव्य की आत्मा में पारदर्शिता दिखाई नहीं देती।

आज समाज में पनपने वाली निषेधात्मक भावनाएँ जब काव्य में अभिव्यक्त हो रही हैं तो एक इतर साहित्यिक चेतना के साथ अपने नव्य संस्करण में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। यह निषेधात्मक अभिव्यक्तियाँ प्रत्येक काल में भिन्न–भिन्न प्रश्नों पर केन्द्रित रही हैं इनमें न केवल कवि का आक्रोश होता है अपितु सम्पूर्ण समाज की कुंठाएँ निहित होती है। स्वतन्त्रता से पूर्व के साहित्य का अध्ययन करने पर विदित होता है कि उस समय अंग्रेजों से मुक्ति की छटपटाहट थी। भारतीय जाग्रत हो चुके थे परन्तु बिगुल बजाने वाला कोई दिखाई नहीं दे रहा था। ऐसे में जन–जन की पीड़ा घुटन और विवशता को कवियों ने अपनी कविता का विषय बनाया। अनेक कवियों ने परतन्त्रता के उस दंश को शब्दों में उतारकर अनेक कालजयी रचनाओं का सृजन किया उसके बाद अर्वाचीन काव्य के रचनाकाल के समय भारत स्वतन्त्र हो चुका था। हमारा राजनैतिक अस्तित्व समर्थ था। परन्तु सामाजिक विषमताओं और रूढ़ियों ने हमारी नींव को जर्जर कर दिया था। ऐसे में आधुनिक कवियों ने काव्य को ऐसा मंच प्रदान किया जहाँ से यह निषेधात्मक अभिवृत्तियाँ व्यक्त होकर अपनी रुढ़िता से मुक्त हो सके।

आधुनिक काव्य की दिशा समाज के नकारात्मक दृष्टिकोण को व्यक्त करने के साथ–साथ उनका समाधान भी प्रस्तुत करती है।

हर्षदेव माधव की रचनाओं में इस प्रकार की सशक्त अभिव्यक्ति दिखाई देती है।

बुद्धस्य भिक्षापात्रे
निमज्जितमस्ति
अणुबोम्बदग्धनगरं

इस कविता में मोनोइमेज के साथ ही अणुबम की त्रासदी पर बुद्ध की शान्ति की विजय है। इसके अतिरिक्त दिल्ली की निष्ठुरता क्या इतने कम शब्दों में बयाँ की जा सकती है –

दिल्ली/निष्प्राणः/समाधयः/सौधा मृताः/निर्जीवा चितिः/ (ऋषेः क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ–35)

आज समय के इस अन्तर्विरोध को अर्वाचीन कवि ने अपनी कविता का प्रमुख विषय बनाया है। वह जो भी कार्य कर रहा है उसमें उसका हित नहीं है यह जानते हुये भी वह निरन्तर तीव्र गति से उस ओर बढ़ता चला जा रहा है। श्रीनिवास रथ कहते हैं कि –

विज्ञाननौका समानीयते।
ज्ञानगङ्गा विलुप्तेति नो ज्ञायते
संस्कृतोद्यानदूर्वा दरिद्रीकृता।
निष्कुटेषु स्वयं कण्टकिन्याहिता।
पुष्पितानां लतानां न रक्षा कृता।
विस्तृता वाटिकायोजना निर्मिता।

संस्कृत में प्रयोगशील शैली के प्रतिपादन स्परूप ही निषेधात्मक अभिव्यक्तियों का जन्म हुआ। इसमें न केवल प्राचीन काव्य शास्त्रीय प्रतिमानों को तोड़ने का चलन प्रारम्भ हुआ अपितु भावबोध की दृष्टि से भी निषिद्ध विचारों पर कलम चलायी गई। आधुनिक युग की विसंगतियों और विडम्बनाओं पर खुलकर प्रहार करते हुये जगन्नाथ पाठक ने देश की वर्तमान दुर्दशा का प्रदर्शन अचेतन में चेतन के आरोपण द्वारा किया है –

राज्ञो घट्टं विलपति, शान्तिवनं वर्तते विषीददिव
शक्तिस्थलमनुताम्यति दर्श दर्श निजं देशम्।

इच्छाराम द्विवेदी ने मेघदूत के अनुकरण पर आधुनिक युग की

दुरावस्था पर व्यंग्य किया है। जिसमें यक्षिणी अब वैसी नहीं है जो रात दिन यक्ष के लिये आँसू बहाये अपितु वह आधुनिक हो गई है –

तन्वी श्यामा शिखरिदशना यक्षिणी या त्वदीया
टी0 वी0 मध्ये चपलनयना तारिका दृश्यते सा.......
(प्रणवरचनावली 25/9)

पुष्पा दीक्षित अग्निशिखा की भाँति प्रदीप्त होकर अपने भाव को व्यञ्जित करती हैं। वेदकुमारी घई ने गाँधीजी के स्वप्नों को पूरा करने की साधना में स्वयं को समर्पित कर देने स्वप्न देखा तो लगा कि यह भारतवर्ष आज कहाँ जा रहा है? धर्म के नाम पर पाखण्ड और मन्दिर, मस्जिद के नाम पर खून की नदियाँ बहायी जा रही हैं –

धर्मस्थानेषु हिंसाग्नि दर्हयते शस्य श्यामला रक्तरंजिताः
(संस्कृतमञ्जरी, अक्टूबर से मार्च 1993–94)

इन निषेधात्मक अभिव्यक्तियों का एक दृष्टिकोण आध्यात्मिक है जिसमें अपनी पहचान के लिये कवि की छटपटाहट है। अभिराज स्वयं को मरघट की पीड़ा से जोड़ देते हैं जिसे जीवित व्यक्ति घृणापूर्ण दृष्टि से देखते हैं –

मृतघट्टोऽहं, मृतघट्टोऽहं
जीवितां जनानां घृणास्पदं
प्रेतानां वंशीवाटोऽहम् (मधुपर्णी, पृष्ठ–92)

राधावल्लभ त्रिपाठी समाज की नकारात्मक सोच को कुछ इस प्रकार व्यञ्जित करते हैं कि धर्माचार्यों का समूह एक ओर धर्म का पाखण्ड करता है और दूसरी ओर अपनी कुदृष्टि को संतुलित नहीं रख पाता–

तस्या पीनस्तनौ दृष्ट्वा शिरः कम्पयते स्म स
तयोरन्तरसंलग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव।
(सन्धानम्, पृष्ठ–56)

बनमाली बिश्वाल भी समाज में व्याप्त निषेधात्मक अभिवृत्तियों से स्वयं को मुक्त नहीं कर सके हैं। जब भी वैचारिक संघर्ष प्रखर होता है तो सर्वप्रथम कवि के मन एवं कल्पना के संसार में सामाजिक परिवेश भावभूमि के रूप में आ खड़ा होता है और इसी भावभूमि पर उसकी लेखनी चलती है। परन्तु मनुष्य का स्वभाव सदैव उन प्रवृत्तियों

की ओर प्रथम अग्रसरित होता है जहाँ पर नकारात्मक दृष्टि होती है इस दृष्टि में व्यञ्जना होने के कारण विचारों का अधिक सशक्तता से प्रतिफलन होता है। भले ही वह समाज में व्याप्त अनेकों कुरीतियाँ हो अथवा उसकी प्रशस्ति। प्रभावी वही होता है जिन पर पैनी कलम चलती है। बिश्वाल 'चन्दा व्यवसाय' को यद्यपि निन्दनीय मानते हैं परन्तु "जयतु जयतु लोके चिरकालं चन्दा व्यवसायः" कहकर पाठक को निर्णय के लिये छोड़ देते हैं।

(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–77)

निषेधात्मक अभिव्यक्तियाँ हर्षदेव माधव के काव्य में बहुलता से प्राप्त होती है। उनकी प्रसिद्ध कविता 'पीनोदेवदत्त दिवा न भुड्क्ते'[1] कविता इस कसौटी पर खरी उतरती है। जिसमें देवदत्त के हाव भाव वर्तमान समाज की देन है और ऐसे व्यक्ति ही आज उसमें फिट बैठ रहे हैं, ऐसा कवि का विचार है। माधव न केवल 'संज्ञा' पर अपना काव्य लिखने का साहस कर पाते हैं अपितु वे तो विशेषण क्रिया सब को संज्ञा बना देने में पारंगत हैं। हत्या के विरोध में 'भारतबन्द' करने वालों से पूछते हैं कि हत्या के विरोध में हत्या कब बन्द होगी? उनका यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है और फिर अहिंसा की हत्या हो जाती है –

केनापि हट्टसंहति प्रज्वालिता
केनापि बसयानं भस्मसात् कृतम्
केनापि दुग्धकेन्द्रं नाशितम्
केनापि वर्तमानपत्रवितरकः पातितः
तदा पुनः
अहिंसाया हत्या जाताः[2]

वस्तुतः प्रत्येक कवि की प्रवृत्ति अपने दृष्टिकोण से प्रभावित होती है। कोई राजनीति में, कोई सामाजिक परिदृश्य में और कोई आध्यात्मिक मूल्यों के पतन में निषेधात्मक प्रवृत्तियों को व्यक्त करता है। इसके फलस्वरूप यह प्रवृत्ति बहुआयामी हो जाती है। जिसकी दृष्टि जहाँ

1. भावस्थिराणि, पृष्ठ–109
2. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–102

केन्द्रित होती है वैसी ही भावगुम्फित कविता का जन्म होता है। रवीन्द्र पण्डा, दूरदर्शन के विकृत प्रयोग से आहत हैं और स्वीकार करते हैं कि यह प्रयोग बालकों में मानसिक विकलांगता को जन्म दे रहा है –

बाल्यतः कोमलो बालः पश्यति दूरदर्शनम्
जागर्ति महती श्रद्धा नग्नचित्रस्य दर्शने[1]

प्रवीण पण्ड्या के अनुसार मनुष्य के अन्तर्मन में निहित निषेधात्मक अभिवृत्तियाँ केवल व्यक्तिगत कुंठा से ही नहीं होती अपितु सामाजिक परिवेश की विकृति भी इसमें दोषी होती है। राष्ट्र का निस्तेज भाल हमारा मस्तिष्क भी झुका देता है –

मदीये राष्ट्रे
पथभ्रष्टो जायते
दानस्य पात्रम्
किं भारतमिति संज्ञामात्रम्?
नैवाऽऽभा
देशस्य कायायाम्
कथं स्वच्छन्दाश्छात्राः
नैव गुरोश्छत्रच्छायायाम्

(ज्योतिर्ज्वालनम्, पृष्ठ–27)

इस प्रकार जीवन की छलना कैसे छलती है मनुष्य को। वह समाज राष्ट्र और व्यक्ति दोहरे मापदण्डों में पिसता रहता है। जब यह पीड़ा असह्य हो जाती है तो कभी तो आक्रोश बनकर फूटती है तो कभी शब्दों के ज्वालामुखी बन जाती है। कवि की अभिव्यक्ति जब निषेधात्मक वृत्तियों के संहार के लिये मुखरित होती है तब वहाँ एक सच्चे काव्य का सृजन होता है उसमें आनन्द, पिपासा, आक्रोश, घुटन और परिवर्तन का विश्वास सब निहित होता है। यही सच्ची संवेदना उत्तम काव्य में परिणित हो जाती है। और कवि की निषेधात्मक अभिवृत्तियों का प्रतिफलन सृजन में समा जाता है।

1. शतदलम्, पृष्ठ–100

सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन

जब भी साहित्य की नवीन दिशाएँ तय की जाती हैं परम्पराओं के प्रति विरोधी स्वर मुखर होने लगते हैं। कविता अपने पारम्परिक रूप को छोड़कर अपने नये ताने बाने में रूपायित होने लगती है। अभिराज अपनी विखण्डित होती भारतीय परम्परा के लिये चिन्तित दिखाई देते हैं –

मन्दिराणि दनुजा अध्यासते
कस्मै खलु हविषा विधेम?[1]

अन्यत्र भी –

साम्प्रतिके भारते हन्त किं कि न सम्भवति चित्रम्
अमरनाथयात्रिणो म्रियन्ते हा कियदिदं विचित्रम्
किन्तेऽधुना जगत्यवशेक्ष्यति प्रमथाधिप प्रमाणम्
कीदृशमिदं विधानं शम्भो! कीदृशमिदं विधानम्[2]

बनमाली बिश्वाल द्वारा रचित कविता 'हसत्यपि कश्चिद् दुर्योधनः' प्राचीन संस्कारों के धूल धूसरित होने की ओर संकेत करती है जिसमें बेरोजगार युवकों द्वारा चन्दा लेकर मद्यपान किया जाता है। नववर्ष की पूर्व संध्या पर होता हुआ धमाल, वेलेण्टाइन डे का आयोजन, हैप्पी बर्थ डे एवं विवाह की वर्षगाँठ जैसे आयोजनों की भीड़ में हमारे संस्कार, हमारी मर्यादाएँ, परम्पराएँ सब विस्मृत हो रही हैं। हम उनको पुरातनपंथी कहकर ढोंग बता रहे हैं। कुतर्क करके अपने पूर्वजों हेतु किये जाने वाले श्राद्ध पर भी प्रश्नसूचक चिह्न लगा रहे हैं। हमारे गुरू द्रोण, पितामह भीष्म मौन हैं। अनेकों पाञ्चाली निर्वस्त्र की जा रही हैं परन्तु पाण्डवों में कोई आक्रोश नहीं है। हमारी ग्रामीण संस्कृति और पवित्र वसुन्धरा रो रही है और दुर्योधन अट्टाहास कर रहा है –

चन्दां नीत्वा मद्यपानम्
प्रहसनं भारतीय पर्वणां पालनम्
सोत्साहं पालयतेऽद्यत्वे
नववर्षपूर्व रात्रिः

1. मधुपर्णी, पृष्ठ–53
2. मधुपर्णी, पृष्ठ–33

एकसमास–'वेलेण्टाइन डे'
पितृश्राद्धः सुविस्मृतः
सम्पालयते विवाहवार्षिकोत्सवः
प्रतिवर्ष 'हापी वर्थ डे' ....

(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–19)

आदि बातें इस कविता में बनमाली ने विस्तार से कही हैं। यदि सत्य कहा जाये तो उनकी यह प्रस्तुति कलयुग की सजीव झाँकी प्रस्तुत करती है।

इसी प्रकार प्रफुल्ल कुमार मिश्र की 'कोऽसौ रामः' आधुनिक युग के परिवर्तन का उद्घोष है –

सीता गता त्यागं दत्त्वा पातालरेल्ये
रामो रमते शूपर्णखायाः बाहुबन्धने
को वा गणयेत लवकुशयोः यद्दुर्दशाम्

(तव निलये, पृष्ठ–35)

हर्षदेव माधव तो परिवर्तनशील युग के भागीरथ हैं उन्हें संस्कृत काव्य धारा को एक ऐसे शिखर पर पहुँचाने का श्रेय दिया जा सकता है जहाँ से नवीन युग का सूत्रपात होता है। उन्होंने विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से परम्पराओं के परिवर्तन को स्वीकार किया है। 'न्यायालय' के न्याय पर प्रश्न चिह्न लगाती यह कविता आधुनिक युग का दर्पण कही जा सकती है –

श्यामवर्णानां काकानां कलकलेषु/निमग्नाःश्वेतभित्तयः,
मलिनवस्त्रबद्धायां/असंख्यालिकशपथकलुषितायां
भगवद्गीतायां/दूषितं सत्यम्

(पुरा यत्र स्रोतः, पृष्ठ–20)

अन्यत्र भी –

पादत्राणेऽपि पणीकृते
हरिश्चन्द्रः
कारागार लोहशलाकाः गणयति
एकवस्त्रा द्रौपदी
काष्ठासने प्रतीक्षते

रावणो सहर्षं बहिरायाति,
दुर्योधनो विजयं प्राप्य
साभिमानं भ्रमति

(पुरा यत्र स्रोतः, पृष्ठ–21)

आधुनिक न्याय व्यवस्था से बनमाली बिश्वाल भी क्षुब्ध नज़र आते हैं अनेकों सामाजिक रूढ़ियों और सामाजिक व्यवस्था पर कटाक्ष करने वाले इस कवि ने स्वीकार किया है कि हम जीवित होते हुये भी शव के समान हैं। जिसके अस्तित्व का कोई औचित्य नहीं होता –

संसार विपण्यां कश्चित्
प्रचलित न्यायव्यवसायः
क्रीयतेऽत्र विक्रीयते न्यायः
राजत्वं स्वं तनुते अन्यायः.............
वयमद्य जीवन्तोऽपि शवाः

(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–39)

केवल आधुनिक युग के नकारात्मक पक्ष को उभारना ही हमारे कवियों का उद्देश्य नहीं था अपितु उन्होंने अनेकों रुढ़ियों एवं परम्पराओं को भी तोड़ने का साहस किया। यही कारण है कि इसे पुनर्जागरणकाल भी कहा जाता है। अनेकों विभूतियों ने न केवल भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष किया अपितु भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों, विषमताओं, पाखण्ड और शोषण दूर करने के लिये एक अभियान चलाया। कहीं बाल विवाह का निषेध और कहीं सती प्रथा के विरुद्ध आह्वान संस्कृत कवियों की लेखनी का विषय रहा। इच्छाराम द्विवेदी 'किं समायातम्?' कविता में जाति व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाकर अपनी बात अत्यन्त सरलता से कह जाते हैं –

सिखोऽयं, हिन्दुकोऽयं, मुस्लिमोऽयं, क्रैस्तको वायं,
परं नो भारतीयो मित्र! चित्ते किं समायातम्?

(प्रणव रचनावली, पृष्ठ–429)

यही भाव बनमाली बिश्वाल की रचनाओं में भी व्यक्त हुआ है।[1] उन्होंने इस तथ्य को भी स्वीकार किया है कि आज हमारी सामाजिक दृष्टि

1. ऋतुपर्णा, पृष्ठ–21

बदल जानी चाहिये। क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या जो विस्फोटक रूप में पहुँच रही है उसे केवल ईश्वर का उपहार मानकर नियन्त्रणहीन करना उचित नहीं। इसका दुष्परिणाम अनेकों अन्य समस्याओं को जन्म दे रहा है। अतः अपनी कविता 'जन्म नियन्त्रणम्' के अन्त में 'किञ्चित समाधानम्??' कहकर सहृदयों से समाधान की अपील करते हैं –

जन्मनियन्त्रणयुत
जनविस्फोरणसमस्यायाः
सुचिन्तितं
किञ्चित समाधानम्

(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–98)

राजेन्द्र मिश्र धार्मिक आस्था के ह्रास से विचलित हैं अतः समाज के परिवर्तित होते धार्मिक मूल्य उन्हें भी सोचने को बाध्य कर रहे हैं –

मन्दिराणि दनुजा अध्यासते
कस्मै खलु हविषा विधेम्

(मधुपर्णी, पृष्ठ–53)

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्वाचीन काल के कवियों ने अपने समय के समाज और उसकी प्रवृत्तियों को पहचाना और उन पर अपनी काव्यात्मक प्रतिक्रिया दी। इससे पूर्व की रचनाओं में कवि की अपने समाज के प्रति प्रवृत्ति इतनी उग्र नहीं थी। नवीन शिक्षा पद्धति, पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव, वेशभूषा और नित्यप्रति के परिवर्तनों को परिलक्षित करके कविताएँ लिखी गयीं।

'कलिपरदेवनशतकम्' में कवि श्रीनिवास शास्त्री कहते हैं –

सूर्योदये क्वथितबीजकषायपानं
धौतं च सार्वदिककञ्चुकमेकवासः।
शौचं च सान्ध्यमपि नो शिवकर्म तेषां,
म्लेच्छैः सहाटनमथानियमा च जग्धिः।

(संस्कृत चन्द्रिका 7–1 / 900)

कहने का अभिप्रायः यह है कि आज की पीढ़ी अपने शौच, संन्ध्यावन्दनादि कार्यों से अनभिज्ञ है पाश्चात्य देशों के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति ने उसे

मलिन बना दिया है अतः हम देखते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति ने जहाँ अनेको सामाजिक सुधारों को जन्म दिया, संकुचित भारतीय दृष्टि को व्यापक फलक प्रदान किया एवं अनेकों रुढ़ियों से मुक्त होने का मार्ग दिखाया वहीं सांस्कृतिक जागरण की आड़ में उसकी संस्कृति का गला घोंटने का प्रयास किया। भारतीय धर्मों में पारस्परिक वैमनस्य को जन्म दिया। अतः समाज को आदर्श रूप में विभाजित करने वाली वर्ण व्यवस्था अपना रूप बदलकर जाति व्यवस्था के रूप में परिणित हो गई। इस विषय में अभिराज इसका पुरजोर विरोध करते हैं–

काफिरा एव चेत्तुर्कभिन्ना जनास्तर्हि रक्तं समेषां कथं शोणिम्

(शालभञ्जिका, 36 / 1)

वास्तविकता यह है कि हमारे जीवन मूल्य व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परिवेश में भिन्न भिन्न उपादानों को प्रस्तुत करते हैं। परिवर्तित होती मूल्यदृष्टि हमारी धारणा में भी परिवर्तन लाती है। व्यक्तिगत मूल्यों में यम, नियम, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि नियम मानवमात्र के लिये अपरिहार्य हैं क्योंकि इससे न केवल एक स्वस्थ दृष्टिकोण विकसित होता है अपितु संवेदना के आधार बिन्दु भी निर्धारित होते हैं। सामाजिक मूल्यों की अवधारणा विश्वबन्धुत्व, पारस्परिक सौहार्द, नारी विषयक दृष्टि और वर्ण व्यवस्था की ओर संकेत करती है। आधुनिक काव्य में इन मूल्यों का मंथन करते हुये अनेक विचारों को नव्य चिंतन के साथ प्रस्तुत किया है। कवि जड़ वर्ण व्यवस्था का विरोधी है वह तुच्छ पामरों को भी हृदय से लगाकर दीपों के प्रकाश का सहभागी बना रहा है –

पारितोऽपि पामराणां तृणशालिका इमाः
होलानलं समिन्धय बन्धो! शनैः शनैः

(मत्तवारणी, 38 / 3)

सांस्कृतिक मूल्यों में प्रेम की स्वस्थ अवधारणा मानव मात्र के लिये करुणा, अपनी परम्पराओं की विशुद्ध प्रस्तुति ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार से विराग, व्यष्टि में समष्टि आदि निहित है। कवि की चिन्ता इस बात को लेकर है कि कहीं मानवता नष्ट न हो जाये –

अन्धं तमो जड़ीकृत आत्मा
प्रसृत दानवता!
मानवतां हि गवेषयामि हा
क्व गता मानवता

(लसल्लतिका, पृष्ठ–47)

आध्यात्मिक मूल्य हमारी निष्ठा और आस्था से जुड़े हुये हैं इसमें परमतत्व, जीव, माया, जगत, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, योग, भक्ति आदि शामिल हैं। काव्य की आध्यात्मिक दृष्टि में जो परिवर्तन आया है उससे हमारा दार्शनिक चिन्तन भी प्रभावित हुआ है हम धर्म के स्वरूप को केवल पूजा पाठ अथवा मत मतान्तर से न जोड़कर कर्म से जोड़ रहे हैं यद्यपि प्राचीन साहित्य का कुछ अंश इसी कर्म पर आधारित था परन्तु आज कर्म के मूल में हमारी स्वार्थपरता भी जुड़ रही है हम वहीं समर्पित हैं जहाँ से प्रतिफल की उम्मीद है –

यथापालितोऽहं त्वया वारिसेकैः
तथा तोषयेऽहं भवन्तं फलौधैः

(शालभञ्जिका – 94 / 1)

वस्तुतः बदलते हुये जीवन मूल्यों से हमें यह आशा है कि यह मूल्य हमारी सकारात्मक दृष्टि को विकसित करने में सहायक होंगे।

आध्यात्मिक दृष्टि

आज मानव की भौतिक प्रगति अपने उच्चतम शिखर पर है। नक्षत्रों पर कदम रखकर मनुष्य अपनी विजय पताका लहरा रहा है। उन्नति के शिखर उसके स्वागत में उन्नतवदन है। परन्तु भौतिकता की क्रोड में बैठे हुये उसे अभी कुछ ही वर्ष हुये हैं और जीवन के प्रति उसकी दृष्टि बेगानी हो गई है। समस्त पुरुषार्थ धर्मविहीन होकर उसमें मानसिक विकृति उत्पन्न कर रहे हैं। इन्द्रियाँ व्यक्ति को विषयोन्मुख बना रही हैं। ऐसे में उसकी आध्यात्मिक दृष्टि पर मानो ग्रहण लग गया है। उसकी नैतिकता विलुप्त हो रही है। इच्छाराम द्विवेदी उसी प्रश्न को अपनी 'समुज्ज्वला' में प्रस्तुत करते हैं –

दानवतायाः पक्षपातिनी, मानवतायाः नाशकारिणी
सैषा भौतिकता,
लोकचेतनाया विमोहिनी, स्वार्थसाधने धर्मदोहिनी
कैषा नैतिकता

('समुज्ज्वला' प्रणवरचनावली संकलन, पृष्ठ–387)

इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि का अभिप्रायः हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की प्रयोगशीलता से है, हमारे सत्कर्मों एवं अकुलषित भावनाओं से है। केवल प्रभु में लीन होना अथवा उसका संकीर्तन करते रहना ही आध्यात्मिकता नहीं है अपितु आध्यात्मिकता उन सदगुणों के विकास की परिणिति है जो मानव को देवत्व की ओर ले जाती है। मानव स्वयं की पहचान ढूंढ़ता हुआ स्वयं को खोजता है –

समाकर्षितो भोगी
मदान्धो रोगी वा
दार्शनिकशब्दावल्याम्
पाञ्चभौतिकदेहे बद्ध आत्मा?
कस्यचन पुत्रः कस्यचन बन्धुर्वा
सोऽबोधो यस्य
नास्ति ज्ञानमेतावदपि
यत्कोऽहम्?

(ज्योतिर्ज्वालनम्, पृष्ठ–15)

अभिराज का आध्यात्मिक चिन्तन बहुत ही गूढ़ एवं व्यापक है। मरघट की क्षणिक चेतना कुछ इस प्रकार है –

मृतोघट्टोऽहं, मृतोघट्टोऽहं
जीवतां जनानां घृणास्पदं
प्रेतानां वंशीवाटोऽहम्
मृतोघट्टोऽहम् (मधुपर्णी, पृष्ठ–92)

एक ही वस्तु किसी के लिये घृणास्पद है और किसी के लिये वही आनन्दपरायण है। यही है आध्यात्मिक दृष्टि। जिसमें अनुभूति के अलग–अलग मायने होते हैं। बनमाली बिश्वाल संसार के समस्त द्वन्दों को भौतिकता की पीड़ा मानते हैं जिसमें व्यक्ति तिल तिल

जलता है और मृत्यु से अकारण भयभीत रहता है जबकि ऐसे संसार में जहाँ न्याय खरीदा और बेचा जाता है, अन्याय रक्तपात मचाता है फिर भी अकारण मृत्यु से भयभीत है मानव –

संसारविपण्यां कश्चित्
प्रचलित न्यायव्यवसायः
क्रीयतेऽत्र विक्रीयते न्यायः
राजत्वं स्वं तनुते अन्यायः........
..... अकारणं मृत्योः विभेमहि
ज्वलितुं नेच्छामः
असमये श्मशान चितायाम्।
....
बलवती काचित जिजीविषा,
न शक्नुमोऽनुभवितुं
वयमद्य जीवन्तोऽपि शवाः

(ऋतुपर्णा–39)

हर्षदेव माधव सदैव ही अपना अलग मंच रूपायित करते है उनकी दृष्टि सर्वमान्य से भिन्न होती है। ईश्वर के प्रति नवीन व्याख्या करके आध्यात्मिक चेतना को उन्होंने कुछ इस प्रकार जोड़ा है –

ईश्वरः
सूरदासस्य नेत्रयोः तारकरहितयोः
सूर्यरूपेण प्रतीयते

(स्पर्शलज्जाकोमला स्मृतिः, पृष्ठ–154)

अन्यत्र हाइकू में बिम्बयोजना के माध्यम से कवि मानो एक ब्रह्म को सृष्टि में बंटा हुआ देखता है परन्तु मूल में वह एक ही है टूटना तो भ्रम मात्र है –

जले चन्द्रमाः
त्रुटन् त्रुटन्नपि
अखण्डित एव (स्पर्शलज्जाकोमला स्मृतिः, पृष्ठ–39)

जीवन के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण भी उसके आध्यात्मिक चिन्तन को

प्रभावित करता है। प्रायः मनुष्य इस संसार में अपने जन्म के उद्देश्य को तलाशता रहता है। कभी उसे वह गहन अन्धकार लगता है तो कभी प्रकाश पुञ्ज। रवीन्द्र पण्डा का यह दर्शन श्रीमद्भगवद्गीता से प्रभावित है उनकी चेतना जीव और आत्मा को पृथक–पृथक देखती है–

जीवन क्षणिकं सत्यं चित्रमिव मनोहरम्
अन्धकार इव कृष्णमालोक इव शोभनम्[1]
न मोहो यस्य देहाय न लोभो मूढ़बन्धने[2]
तस्य किं मरणे भीतिर्न रुचिस्तस्य क्रन्दने
न लाभः क्रन्दने कस्य वरं सत्यावबोधने
जीवनं जीर्णवस्त्रवद् विदीर्यते दिने दिने[2]

केवल जीवन मृत्यु के प्रश्न ही हमारी आध्यात्मिक सोच को व्यक्त नहीं करते अपितु इस सृष्टि की उत्पत्ति, उसके विकास और विनाश के प्रश्न भी मन में एक हलचल मचा देते हैं। प्राणी जीवन भर इनके उत्तर खोजता रहता है और उसका यही चिन्तन उसका दर्शन बन जाता है। जब यह दृष्टि समाज से सम्बद्ध समस्याओं से जुड़ती है तब सामाजिक, जब 'अर्थ' में उत्तर ढूंढ़ती है तब आर्थिक और जब धर्म और विज्ञान के समिश्रित रूप का आँकलन करने लगती है तब वह आध्यात्मिक बन जाती है। केवल धर्म से आध्यात्म को जोड़ना उसके क्षेत्र को एकांगी बनाना है। जब प्राणी की जिज्ञासा धर्मपरायण होने पर भी तार्किक होती है तब वह परिनिष्ठित दृष्टि होती है। संसार की उत्पत्ति क्यों होती है, किससे होती है और इसके मूल में कौन सा तत्व विद्यमान है? इसी प्रकार अनेक प्रश्न साधकों को मनन के लिये बाध्य करते हैं। परन्तु प्रत्येक की दृष्टि की भिन्नता के कारण उसका आध्यात्मिक चिन्तन भी भिन्न–भिन्न होता है। रवीन्द्र पण्डा ब्रह्म को कुछ इस दृष्टि से देखते हैं –

एकमेवाद्वितीयम्बै ब्रह्म संसारकारणम्
तस्मादुत्पद्यते जीवस्तस्मिन्नेव च वै लीनः[3]

1. शतदलम् – 81/8
2. शतदलम् – 83/25,26
3. शतदलम् – 96/42

ब्रह्मास्मि चाहमेवात्र स्थितोऽस्मि सकले स्थले।
अहमाद्यन्तहीनश्च शिवोऽहं जगतो मूले। (शतदलम् 116/111)

इसके अतिरिक्त मृत्यु के विषय में सौ से अधिक बिम्ब प्रस्तुत करते हुये माधव ने आध्यात्मिक मूल्यों का प्रतिफलन नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। जन्म–मृत्यु, आदि–अन्त, सुख–दुःख, गृहस्थ–तपस्वी, दिन–रात, आदि अनेक विषयों को इस चेतना से जोड़कर कवि ने अपनी वैविध्यपूर्ण आध्यात्मिकता को काव्य में निबद्ध किया है।

प्राणी के आवागमन के विषय में दार्शनिक दृष्टिकोण रखने वाले हरिदत्त शर्मा इस जीवन को कभी तो नौका के सदृश देखते हैं जो सुख–दुःख रूपी जल प्रहार से डगमगाती रहती है कभी गहन पारावार में डूबती दिखाई देती है, कभी तरंगों के आघातों से भग्नप्रायः। परन्तु गतिशीलता जब तक है तब तक व्यक्ति उससे चलायमान रहता है।[1] जब यह शरीर रूपी घट टूटता है तो प्राणी उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है –

जायन्ते जीवन्ति म्रियन्ते
जगति जीवसङ्घा
अविरतजन्म–मरण–परम्परा
घटवपुषां भङ्गा
सकल जगन्नर्तक लीलानां
भवति भूरिभानम्
कुतः आगतः क्व गन्ता जीवो
देहवरणशीलः
सृष्टि–प्रलय–परिधिं कोदृष्टुं
शक्तः कृतलीलः[2]

वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि की भिन्नता ही काव्य का परिवर्तित रूप प्रस्तुत करती है। कहीं धूप कहीं छाँव। कहीं प्रकृति में आध्यात्मिक सत्ता के दर्शन तो कहीं प्राणी के चेतन शरीर में परमात्मा का अदृश्य रूप। यही काव्य का दार्शनिक पक्ष कहलाता है। जीव और आत्मा जब

1. लसल्लतिका, पृष्ठ–21
2. लसल्लतिका, पृष्ठ–129

तक अपने अस्तित्व को पृथक–पृथक रखते हैं तब तक भौतिक जगत की अनुभूति होती है परन्तु जब ये दोनों पारस्परिक विलीन हो जाते हैं तब परमानन्द की प्राप्ति होती जाती है। कवियों ने अपनी सर्जना में इस भाव को भिन्न–भिन्न रूपों में व्यक्त किया है।

विश्वयुद्ध और संहार

कवियों ने संस्कृत काव्यधारा में विश्वयुद्ध और संहार के अनेकों चित्र अपनी तूलिका से खींचे हैं। केवल स्वाधीनता संग्राम की स्मृतियों को पाठक तक पहुँचाना आज के कवि का उद्देश्य नहीं है अपितु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद चीन के आक्रमण का वर्णन भी कवि प्रतिभा प्रसूत है। श्री सुरेशचन्द्र त्रिपाठी ने अपनी 'वीरोत्साहवर्धनम्' रचना में संग्रामरत सैनिकों के उत्साहवर्धन हेतु ओजस्वी वाणी प्रस्फुटित की है। इसके अतिरिक्त श्री शशिधर शर्मा की 'वीरतरङ्गिणी' (1967) काव्य भी चीनी आक्रमण के दृश्यों को प्रस्तुत करने वाली एक परिपक्व रचना है। अन्तिम श्वाँस तक युद्धरत रहने वाले एक सैनिक का वर्णन करते हुये कवि कहता है –

गोलकगलितोऽगोलः क्षितितलगोलेरमित्रसङ्घातान्।
स जहार सप्तहोराः स्वरूपसिंहः स्वरूपतः सिंहः।

(उत्तरखण्ड–60)

इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बहुसंख्य काव्य युद्ध की विभीषिका पर लिखे गये और चीनी आक्रमण के बाद तो जैसे वीरता पूर्ण भावों को व्यक्त करने वाली कविताओं, युद्धविषयीभूता काव्य अनेकों पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे। रेवाप्रसाद द्विवेदी, कमलेश दत्त त्रिपाठी, शिवदत्त शर्मा, चतुर्वेदी आदि कवियों की ओजस्वी शैली बांग्लादेश युद्ध पर लिखी गई कविताओं में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इनकी कविताओं में जहाँ एक ओर उन्माद हैं वहीं दूसरी ओर आक्रोश भी। रामकरण शर्मा की 'तैलावलिः प्लवमाना' रचना खाड़ी युद्ध के समय समुद्र में फैले तेल के माध्यम से आज की वीभत्स राजनीति को संकेतित करती है। हर्षदेव माधव की नवीन रचना 'भूकम्पोत्तरम्' में भूकम्प के बाद संहार के विक्षिप्त स्वरूप पर पीड़ा व्यक्त करती है।

इसके अतिरिक्त माधव की 'आतंकवाद' कविता भी जघन्य दानवीय वृत्ति के विरुद्ध कवि का प्रतिरोध व्यक्त करती है[1]। मुम्बई में होने वाले बॉम्बविस्फोट[2] में मानवता कराह उठती है नगर मृत हो जाता है और समुद्र रुदन कर उठता है। किसी भी संहार की पृष्ठभूमि को यदि यथार्थ की दृष्टि से देखते हैं तो लगता है कि वहाँ जीवित, अर्द्धजीवितों का अस्तित्व समाप्त प्रायः होता है वहाँ तो शवों की बोली लगाई जाती है। मृत्यु के व्यापार में भी धन अर्जन की कामना होती है[3]। 'कारगिल युद्ध'[4] पर भी अनेकों कवियों की लेखनी ने अभिव्यक्ति दी है परन्तु माधव की दृष्टि प्रायः सम्राट अशोक की भाँति युद्धोपरान्त की पीड़ा पर केन्द्रित रही है। आज तक युद्ध से किसी का भला हुआ है? अन्त में मौत तो निरपराधियों की ही होती है। विजय के साथ भी मिलता है रुदन, विकलता और शवों का भार। –

हस्ते भवेद् विजयः
किन्तु
स्कन्ध आपतति
कति कति शवानां भारोबत

(भावस्थिराणि... पृष्ठ–101)

हम शवों को कन्धों पर ढोकर विजय का उत्सव मना रहे हैं यह कितने दुर्भाग्य की बात है। रक्त की नदी जब युद्ध भूमि पर बहती है तो कवि का हृदय व्याकुल हो जाता है। शस्त्रों की पिपासा, मृत्यु का नग्न नृत्य उसे सोचने को विवश करता है कि आखिर इस नरसंहार का उद्देश्य क्या है? हम परस्पर अपने ही बन्धुओं को मारकर कहाँ जा रहे हैं? मृत्यु और जीवन की सायुज्यता उसे साक्षात दिखाई देती है –

शस्त्राशस्त्रि प्रवृत्ते युद्धे रणे देहपाताः
क्षणे गिरिक्रोडेषु वहन्ति हि रक्तनदीव्राताः
परितो मृत्योर्नग्ननर्तनम्

---

1. अलकनन्दा, पृष्ठ–64
2. भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि, पृष्ठ–39
3. भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि, पृष्ठ–41
4. ऋतुपर्णा, पृष्ठ–74

जीवानां कालेन कर्तनम्
जीवन–मरणो–सायुज्यं साक्षाद् भजमानाः

(लसल्लतिका, पृष्ठ–106)

जब भी नरसंहार का तांडव समाज में दिखाई दिया संस्कृत कवि ने उसे कविता में उतारा है। भले ही वह चीनी पाकिस्तानी आक्रमण हो, कारगिल का युद्ध हो अथवा गोधरा काण्ड हो कवि का व्यथित होना स्वाभाविक है और यही उसकी समसामयिकता है।[1]

अभिराज राजेन्द्र मिश्र युद्ध के संहार से विरत हो विश्वकल्याण में रति रखने वाले हैं क्योंकि वे स्वीकार करते हैं कि भारतवर्ष ही विश्व को बन्धुत्व का पाठ पढ़ाने में समर्थ है। अतः भारत की रक्षा करने के साथ–साथ वह शान्ति के श्रेष्ठ मार्ग का वरण करने के पक्षधर हैं।[2] केवल मानव के द्वारा मानव का संहार वर्णन ही कवियों का लक्ष्य नहीं है अपितु प्राकृतिक आपदा में होने वाला नरसंहार भी उन्हें पीड़ा देता है। कहीं भूकम्प है, कहीं चक्रवात, कहीं बाढ़ तो कहीं सूखा आखिर प्राणी इन समस्त दैवी आपदाओं में भी अपने जीवन के निर्मम कष्ट ही भोगता है।[3] कारगिल से अन्तिम पत्र लिखने वाले सैनिक की विदाई से डॉ0 बिश्वाल ने न जाने कितने पाठकों को अश्रुपूरित किया है –

प्रियतमे!
लिखाम्यहं पत्रं कारगिलतः ....
न लेखनी/न कर्गजो/ मसी अतोऽङ्गुली लेखनी मे,
मसी मम रक्तं
पत्र कर्गजके प्रिये!
लिखाम्यहं पत्रम्
नात्र पत्रपेटिकाऽस्ति
न वा पत्रालयः
न स्मरामि त्वत्पत्रसंकेतं
शोच्यः पत्रप्रेषणस्योपायः

1. ज्योतिर्ज्वालनम् पृष्ठ–33; लसल्लतिका पृष्ठ–15; ऋतुपर्णा पृष्ठ–147
2. मधुपर्णी, पृष्ठ 45–47
3. ऋतुपर्णा, पृष्ठ–155

अन्त में कवि ने सैनिक की वीरता को मानो अभिवादन किया है –

न कदापि रोदिष्यसि प्रिये!
सौभाग्याद् वा/दौर्भाग्याद् वा
एतद्यदि भवेत्क्वचित्
तव नाम्ना अन्तिमं मे पत्रम्

(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–154)

परन्तु हर्षदेव माधव का सैनिक अन्तिम श्वाँस तक देश के लिये समर्पित है जीवन के अन्तिम पलों में भी देश की स्वाधीनता का प्रश्न उसके समक्ष रहता है केवल चार पंक्तियों में सम्पूर्ण देश की आन, बान, शान साकार हो उठती है।

यावत् पर्यन्तम्
एकः सैनिको जीवति
तावत् पर्यन्तं
देशो न म्रियते

(पुरा यत्र स्रोतः पृष्ठ–80)

देश वास्तव में नहीं मर सकता, कभी गुलाम नहीं हो सकता जब तक कतरा कतरा खून मौजूद है तब तक मातृभूमि का ऋण चुकाने को हमारे जवान संघर्षरत रहेंगे। यह विश्वास एक कवि का नहीं अपितु उस भारतीय का है जो भारत के संस्कारों में पला बढ़ा है और स्वयं को आर्य कहने का अधिकारी है।

राजनीति पर कटाक्ष

आज साहित्य की कोई भी विधा ऐसी नहीं है जिसमें राजनीति को दर्पण नहीं दिखाया जा रहा हो। व्यंग्य का सबसे सुदृढ़ विषय राजनीति ही है अतः प्रायः प्रत्येक सर्जक की दृष्टि उस पर केन्द्रित रही है। हास्य की विशुद्ध परिकल्पना के लिये भी राजनीति को ही आधार बनाया गया है। यह विषय सुगम होने के साथ–साथ अधिकांश पाठकों के मर्म को सहजता से स्पर्श करता है। आधुनिक सस्कृत काव्य में यदि सर्वाधिक रूप से आक्षेप की बात आती है तो वह

राजनीति पर कटाक्ष के प्रसंग हैं। प्रायः समस्त कवियों ने राजनेताओं के दोगलेपन पर प्रहार किये हैं। विष्णुकान्त शुक्ल लिखते हैं कि –

अहं नेता देशसेवी
विभीषणकुललब्धजन्मा दलानां परिवर्तनेषु
नैव लज्जामनुभवामि नापि वा ग्लानिं पतामि।
चतुष्पादानां समूहेपशुरहं सत्यं वदामि
खगकुले तरुतूलिकाऽहम
सारभूतं मतमिदं मे! स्वार्थपूर्तिर्मेऽस्ति लक्ष्यं
काऽपि शक्तिः काऽपि भक्तिः
काऽपि वा स्याद् व्यक्तिरन्या
कार्यसिद्धिर्मया दृष्टा
दृष्टिरस्ति सदैव धन्या सदाऽनन्या
अहं स्वार्थी स्वार्थसेवी, अहं नेता देशसेवी

(विंशशताब्दी.... पृष्ठ–635)

हमारे राजनेताओं के क्रियाकलाप, उनकी गतिविधियाँ, दोहरे मानदण्ड और धन लोलुप दृष्टि उन्हें न्याय के कटघरे में बारम्बार खड़ा करती है।[1] वर्तमान समय में राजनीति उस वेश्या के समान है जिसका उपभोग कोई भी सामर्थ्यवान व्यक्ति कर सकता है। अभिराज राजेन्द्र मिश्र राजनेताओं पर कटु प्रहार करते हुए कहते हैं –

अन्धा नेतारो दृष्टिवतां
मूर्खाश्च नियन्तारो विदुषाम्
त्वत्प्रवर्तिते जनतन्त्रेऽस्मिन्
क्लीवास्त्रातारो महौजसाम्

(मधुपर्णी–56/5)

राजनीति को विषयुक्त दूर्वा बताते हुये कवि कहता है कि ऐसी दूर्वा का भक्षण करने वाला राजनेता रूपी कृष्ण मृग स्वयं ही काल का ग्रास बन जाता है –

काण्डात्काण्डं प्ररोहन्ति
राजनीति दूर्वा

1. मधुपर्णी, – 28/12, 39/4, 56/7

पश्य
हवालाकाण्डमधिरूढ़ा
तत्संस्पर्शाच्च विषाक्ता संजाता
सम्प्रति
दूर्वाभोजिनो
राजनेतृकृष्णसाराः
विषमूर्च्छिताः
प्राणव्यथां सहमानाः
स्वनियतिं प्रतीक्षन्ते (मधुपर्णी, पृष्ठ–90)

सामान्यतः तीक्ष्ण वक्तृता रखने वाले राधावल्लभ त्रिपाठी ने राजनेताओं के लिये व्यंग्य की झड़ी ही लगा दी है। उन्होंने 'स्तवमाला' के रूप में उनकी व्यञ्जनापरक स्तुति की है। सम्पूर्ण कविता नेताओं के बाह्य और आन्तरिक स्वरूप को पूर्णतः दिग्दर्शित करती है –

नमस्तुभ्यं नेतवर्य यत्कण्ठः पुष्करायते,
मदाभोगधनध्वाने राजनीतिक ताण्डवे।
निरूपादानसम्भारमभितावेव तन्वते,
चित्रमाश्वासनं चित्रं कलाश्लाध्याय ते नमः।

(सन्धानम्, पृष्ठ–53/1)

वे उन्हें मठाधीश, जटाधीश, हठाधीश कहकर उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं।[1] इसी लिये उन्हें आगे से, पीछे से, दूर से, पास से बार–बार वन्दन करते हैं। इसमें निहितार्थ है राजनेताओं का कुलषित चरित्र।

भूयो भूयश्च वन्दे तान् पुरस्तात् पृष्ठतस्तथा
सामीप्यादपि तान् वन्दे वन्दे तांश्चातिदूरतः

(सन्धानम्, पृष्ठ–54)

वीरभद्रमिश्र ने भी अपनी कुण्डलियों में राजनीति पर तीक्ष्ण कटाक्ष किये हैं एक उदाहरण दृष्टव्य है –

किं पठने किं पाठने नेता भव हे पुत्र
विना गुणैरपि लप्स्यते गुणगानं सर्वत्र।

1. सन्धानम्, पृष्ठ–53/2

गुणगानं सर्वत्र भविष्यति विपुला सेवा
भ्रष्टाचारे कृते मिलिष्यति रबड़ी मेवा
वीरः कथयति–सेविष्यन्ते गुरवोभवने
नेतुः चमसो भवेः फलं पश्यसि किं पठने

(विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम पृष्ठ– 511)

बनमाली बिश्वाल का लेखन प्रत्यक्ष लेखन कहा जा सकता है उनमें कहीं भी शब्दों की लाग लपेट दिखाई नहीं देती अपने व्यक्तित्व के अनुरूप उन्होंने राजनेताओं को सपाट बयानबाजी में पूर्णतः उतार लिया है। कोई अलंकारों का घटाटोप नहीं, कहीं चाटुकारिता की सरसता नहीं और न ही व्यंग्य के द्वारा जननेता को सोचने को बाध्य करते हैं वे बहुत ही सरलता से उसे परिभाषित कर जाते हैं –

अद्यत्वे न राजा कश्चित्
नापि सिंहासनम्
गणतन्त्रदेशेऽस्मांकं
मन्त्रिमहामन्त्रिणां शासनम्
न राज्याभिषेकं किञ्चित्
न वा राज्यमेकछत्रम्
नोत्तराधिकारी कश्चित्
नाथवाऽस्ति वंशानुचरितम्
प्रतिवर्ष निर्वाचनं/शपथग्रहणम्
सर्वे जननेतारोऽद्य
जनैर्निर्वाचिताः
निर्वाचनानन्तरं ये
विस्मरन्ति जनानां समस्याः
न मनसि येषां जनचिन्ताः

(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–148)

इच्छाराम द्विवेदी राजनीति से जुड़कर राजनेताओं पर वाक्प्रहार करते हैं। राजनीति उनका प्रिय विषय है अतः मन्दिर मस्जिद के नाम पर

जनता को गुमराह करने वाले नेताओं पर वह आक्षेप करने में नहीं चूकते –

मस्जिदानि सन्तु मन्दिराणि वा यथोचितम्
त्वन्महानसे तदिन्धनं त्वयैव नीयते।

(प्रणवरचनावली पृष्ठ–432)

वे राजनीति को 'भाषणे शूरता कर्मणि क्रूरता'[1] कहकर द्विमुखी सिद्ध करते हैं। उन्हें राजनेताओं के कथनी करनी का अन्तर बर्दाश्त नहीं है। अतः राजनेताओं का कुर्सीवन्दन एवं स्वार्थनीति से पीड़ा है। क्योंकि वे जानते हैं आज रामकृष्ण की यह पवित्र भूमि असुरों से व्याप्त हो रही है।[2] प्रवीण पण्ड्या राजनेताओं की नवीन परिभाषा देते हैं – **स्वीयमार्गोऽपि**
नास्ति स्पष्टः
पशुवद्गतिशीलेः
नीयन्ते
चेदन्धेन
अन्धानां नयनं
मन्ये सौभाग्यम्
निर्जलकूपस्य

(ज्योतिर्ज्वालनम्, पृष्ठ–53)

वस्तुतः हम भौतिक दृष्टि से भले ही उन्नतिशील कहे जायें परन्तु आध यात्मिक दृष्टि से हम जीर्ण शीर्ण हैं, हमारी भारतीय परम्परा नष्ट हो रही है।

सीमिता वयं भौतिकोन्नता
बध्यात्मदृष्टिरधुना शीर्णा
प्राप्तोऽप्राप्तो वाऽनर्थमेव
जनयत्यर्थो न रतिजीर्णा
क्व नु यातिभारती–परम्परा
चिन्त्य मुदितात्मन् नमोनमः

(मधुपर्णी – 57/9)

1. प्रणवरचनावली, पृष्ठ–386
2. प्रणवरचनावली, पृष्ठ–276

अतः राजनीति में से 'नीति' कहीं विलुप्त हो गई है। राज करने की कामना ने हमारी ओछी मानसिकता को प्रबल कर दिया है। राम राज्य की कल्पना अब काव्य का विषय है, व्याख्यान का विषय है अथवा अपना गुणगान करने का आश्वासन है। इसलिये राजनीति के विशुद्धिकरण के विषय में कवि के सकारात्मक और नकारात्मक संकेत हमें मिल रहे हैं।

नगरीकरण की प्रवृत्ति

भारत की आत्मा गाँवों में बसती है। आज यह सद्विचार धूमिल हो रहा है। विखण्डित होते संयुक्त परिवार, बँटती हुई भूमि ने हमारे समाज की अखण्डता को भी जर्जर कर दिया है। भौतिक सुविधाओं का तिलिस्म मनुष्य को बाँध रहा है। शहरी चकाचौंध ने उसे अपनी ओर आकृष्ट किया है इसी के परिणामस्वरूप हमारी नगरीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी है। हमने उसका आस्वादन किया, आनन्द लिया और फिर उस आनन्द को अपने संगी साथियों में बाँटकर उन्हें भी इस ओर प्रेरित किया फिर एक लम्बी शृँखला बनती चली गई। गाँवों की भूमि वज्रहृदया हो गयी। कटते हुये खेत कंकरीट के जंगलों में बदलने लगे। ऐसे परिवर्तित होते समाज ने साहित्य पर भी चोट की। कवि भी आम के बौर, बासन्ती हवा और पीली सरसों की अँगड़ाई भूलकर एयरकंडीशन्ड कमरों की चाहरदीवारी में कैद होकर रह गया। राधा वल्लभ त्रिपाठी ने जनता लहरी[1] के माध्यम से समाज की अनेक समस्याओं से पाठकों रूबरू कराया है। वह इन समस्याओं को नगरीकरण की ही देन मानते हैं। भ्रष्ट होती राजनीति और बढ़ती हुई भौतिक सुविधाओं ने निश्चित रूप से मनुष्य को पतन के मार्ग की ओर उन्मुख किया है।

नगर के दोषों को सरलता से व्यक्त करने वाले हर्षदेव माधव ने अपनी 'विक्रय' कविता को माध्यम बनाकर प्रत्येक दोषपूर्ण पक्ष को सरल बिम्बों के द्वारा प्रस्तुत किया है –

अत्र लभ्यते विना हट्टं
'किलो' मितेन क्रयणेन सह

1. सन्धानम्, पृष्ठ 86–94

सार्धकिलोमिता वञ्चना!
सर्वकारसेवानियुक्तया सह
कार्यचौर्यं विना मूल्यम्
अपि च
उत्कोचलाभोऽपि निःशुल्कः संयुक्तोऽस्ति
निर्वाचने
विजयेन सह
भ्रष्टाचारस्य वर्तते उपहार योजना
परीक्षाप्रमाणपत्रैः सह
सङ्गतास्ति
वृत्तिप्राप्त्यर्थं चिन्ता
भवान जानात्येव यत्
मानवताया नास्ति मूल्यम्
अतः विक्रयकाले क्षिप्ता सा मार्गे.........
यदि भवते रुचिता स्यात् ....

(स्पर्शलज्जाकोमला समृति पृष्ठ–16)

समाज में कलुषित वृत्तियाँ किस प्रकार पुष्पित एवं पल्लवित होती हैं? और मानवता कैसे मूल्यहीन हो जाती है? यही इस रचना का सौन्दर्य है। परन्तु फिर भी मनुष्य का नगरों, शहरों की ओर भागने का क्रम जारी है। वह अपनी भूमि, अपने खेत, अपनी विरासत को भूलकर उस स्वप्निल संसार में जीने की ललक पाले हुये है जबकि वह नगरों के मूल यथार्थ को नहीं जानता यहाँ सब सुविधाएँ तो हैं परन्तु जीवन की शान्ति नहीं है –

स्पृशति नभस्तुङ्गगृह शिखरैः
जानीते दिक्–प्रान्तं नगरम्
हाहाकारै*श्वीत्*कारैरथ
शुचा दृश्यतेऽशान्तं नगरम्।

(निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–238)

इस प्रकार शहरी सुख सुविधाओं के उपभोग में हमारी मुख्यधारा हमसे छूट रही है। हम उस प्रवाह में आनन्दित तो हैं परन्तु यह नहीं जानते

कि यह प्रवाह हमें कहाँ ले जायेगा। यदि इस विषय में गूढ़ चिन्तन किया जाए तो प्रतीत होता है कि यदि हम फिर से अपनी जड़ों की ओर लौटने लगें तो अनेक समस्याएँ खुद–ब–खुद धराशायी हो जायेंगी। नया जीवन फिर अंकुरित होगा। धरती पर हरी चादर फिर बिछ जायेगी। हमारे सरल जीवन का वही अध्याय फिर से प्रारम्भ होगा। हमारा अर्वाचीन संस्कृत काव्य उसी जीवन का आह्वान करता है।

सामाजिक व्यवस्था पर रोष

अर्वाचीन साहित्य में वैविध्यता की दृष्टि से सर्वाधिक प्रयोग किये गये हैं। आज का कवि, लेखक समाज के समस्त परिदृश्यों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित किये हुये है। चाहे वह पारम्परिक धर्म में अश्रद्धा की बात हो अथवा संस्कृति के बिगड़े हुए रूप की चर्चा हो उसे प्रत्येक पक्ष का प्रचलित रूप स्वीकार है। केवल श्रेष्ठताओं का बखान करना आज के साहित्य की कार्यान्विति नहीं है। रमाकान्त शुक्ल ने भले ही 'भाति मे भारतम्' में भारतवर्ष के कण–कण को चाहे वह 'स्याह' भी रहा हो उन्होंने 'श्वेत' बनाकर पूजा है। परन्तु अधिकांश कवियों ने समाज के परिदृश्य को यथार्थ रूप में ही वर्णित किया है। बल्कि ऐसे पक्ष जिस पर हमें विचार करना चाहिये उसको अनेकों बिम्बों एवं प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने शनुःशेप आख्यान की प्रतिध्वनि में समाज के व्याकुल रूप की व्यञ्जना की है –

भ्रष्टो विद्रवति गजः कुक्कुररवभीतः
हन्यते शनुश्शेपः पुत्रार्थ क्रीतः
कोऽपि नैव विश्वामित्रायते, सञ्जातं निखिलं पर्याकुलम्

(मधुपर्णी, पृष्ठ–51)

यहाँ विश्वामित्र केवल ऋषि ही नहीं अपितु विश्व के मित्र के रूप में बन्धुत्व के प्रचार में रत साधक भी हैं। आज उसके अभाव में सम्पूर्ण विश्व व्यथित है।

कवि विश्वाल सामाजिक समता की बात करने वाले विद्रोही कवि हैं। यदि समाजवाद की बात की जाये तो उनका साहित्य इसका अनुपम उदाहरण कहा जा सकता है। सामाजिक रूढ़ियों के साथ–साथ वर्ग भेद की भावना उन्हें पीड़ा देती है, अपात्र और कुपात्र को श्रेष्ठता की पंक्ति में बैठे देखकर रोष होता है –

कनकपञ्जरस्थिता वायसा दधिभक्तं भोज्यन्ते
जर्जरकण्ठाः शुकाः सारिका असकृन्निर्भर्त्स्यन्ते
धेनूः समुत्सार्य सूकर्यो नीयन्ते बहुमानम्
कीदृशमिदं विधानम्

(मधुपर्णी, पृष्ठ–33)

यह कवि के अन्तर्मन की पीड़ा है। वह समाज के इस विधान से असंतुष्ट है। राधावल्लभ त्रिपाठी भी सामाजिक रुढ़ियों से बँधकर जीने के पक्षपाती नहीं है। वे उस प्रत्येक अन्धविश्वास पर प्रहार करते हैं जिससे हमारा समाज पंगु होता है।[1] भले ही समाज में नारी के शोषण की बात हो अथवा उसे सती के नाम पर जला देने का ढोंग हो। डॉ0 त्रिपाठी इसे धर्म के कञ्चुक को पहनने वाले आततायी के रूप में देखते हैं –

एके धूसरधर्मकञ्चुकवृता आच्छन्नकूपोपमा
अन्ये शास्त्रमुदाहरन्ति च सती दाहप्रचाराय ये
येऽमी मानुषराक्षसाः स्वयमहो नारीं दहन्यत्र वा
नैतेषां परमार्थतोऽपि भवति स्वल्पं किमप्यन्तरम्

(सन्धानम्, पृष्ठ–91/29)

डॉ0 बिश्वाल यथार्थ की ऊष्मा का निर्वहन करने वाले कवि हैं। उन्होंने समाज के प्रत्येक पक्ष को बहुत करीब से अनुभव किया है अतः उनके काव्य में जीवन के प्रति सहज स्वीकृति प्रतिफलित हुई है। विश्व के विराट फलक पर उपेक्षित वस्तुओं में भी नवचिन्तन प्रस्तुत करना इस कवि की काव्यचातुरी कही जा सकती है। समाज में बालश्रम के विरोध में बड़े–बड़े दावे किये जाते हैं, संगोष्ठियाँ होती हैं

1. सन्धानम्, पृष्ठ–47,48,100

और सतही कानून भी बनाये जाते हैं पर परिणाम वही 'ढाक के तीन पात'। श्रमिक बच्चे फिर भी नंगे पैर कण्टक युक्त मार्ग पर फटेहाल स्थिति में खड़े हुये श्रम करते हैं, लात घूँसे खाकर भी अपने स्वामी की सेवा में लगे रहते हैं –

मुष्ट्याघातं, पदाघातं स्वार्थान्धस्य निर्ममस्यनिर्दयस्वामिनः
समाजेऽस्मिन् चपेटाप्रहारः/मन्ये तस्य/जन्मसिद्धः
कश्चिद्धिकारः

(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–11)

बिश्वाल की ऋतुपर्णा समाज का दर्पण कही जा सकती है। इसमें उन्होंने सामाजिक व्यवस्था के अनेकों प्रसंगों पर रोष व्यक्त किया है।[1] हमारी मान्यताएँ टूट रही हैं, हम अपनी परम्पराओं को भूलकर पाश्चात्य शैली का अन्धानुकरण कर रहे हैं। आकाश छूने की ललक में हमारे पैरों की ज़मीन हमसे दूर जा रही है। हमें पितृ श्राद्ध याद नहीं रहते, परन्तु वेलेण्टाइन डे और नववर्ष की पूर्वरात्रि हम बहुत जोर से मना रहे हैं यह है हमारे संस्कारों का पतन, मूल्यों का अवमूल्यन। देवी जागरण के नाम पर चन्दा लेकर मद्यपान करने वालों का ढोंग देखकर डॉ0 बिश्वाल ने उन्हें कड़ी फटकार लगाई है –

भगवती जागरणं/न देवी पूजनम्/चन्दा नीत्वा मद्यपानम्/प्रहसनं भारतीय–पर्वणां पालनम् सोत्साहं पालयतेऽद्यत्वे/नववर्ष पूर्वरात्रिः/एक् समास्–वेलेण्टाइन डे/पितृश्राद्धः सुविस्मृतः।

(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–19)

हरिदत्त शर्मा ने यद्यपि प्रेमगीत की सरलता, तरलता से पाठकों को भिगोया है परन्तु समाज की जटिलताओं ने उन्हें भी बाँधा है। इनकी लसल्लतिका समाज की अनेकों बिडम्बनाओं पर कटाक्ष करती हैं। कहीं वह मानवता के नष्ट हो जाने से दुःखी हैं तो कहीं पारस्परिक गलाकाट प्रतिस्पर्धा उन्हें आहत कर देती है।[2] मनुष्य के धनसञ्चय की वृत्ति से वे चिन्तित नज़र आते हैं क्योंकि व्यक्ति की यह प्रवृत्ति

1. ऋतुपर्णा, पृष्ठ–21,54,77,98,101,117,118
2. लसल्लतिका, पृष्ठ–47

उसकी पवित्रता को नष्ट कर रही है –

द्रव्ये पण्यं भवति जीवनं/द्रव्यं सर्वस्वम्/
मनुजचितायामपि धनचयनं/स्वत्वं सर्व स्वम्
पणपूजया सकलपूजानां नष्टा पावनता।

(लसल्लतिका, पृष्ठ–47,48)

इसके साथ ही पशुतापूर्ण आचरण करने वाले मनुष्य में राक्षसत्व बढ़ रहा है। अनेक प्रकार के दुर्गुण उसे पथभ्रष्ट कर रहे हैं। मर्यादाएँ भंग हो रही हैं और पापाचार विकसित हो रहा है। ऐसे में राम को फिर अवतार लेना ही पड़ेगा तब ही समाज का उद्धार हो सकेगा ऐसा कवि का विचार है।[1] परन्तु डॉ0 शर्मा इसे 'कालसङक्रमण'[2] मानते हैं। जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य में दूषित मनोवृत्तियाँ विकसित हो रही हैं।

अर्वाचीन कवियों ने प्रायः समाज के नकारात्मक स्वरूप को अपनी कविता में अवश्य कहीं न कहीं चित्रित किया है। अधिकांशतः रचनाएँ समाज से जुड़कर ही लिखी गयी हैं अतः केवल सामाजिक व्यवस्था पर उद्वेलित होने वाले कुछ कवि ही नहीं है परन्तु विस्तार के भय से सबका योगदान उल्लिखित नहीं किया जा सकता। इन कवियों की श्रृंखला में हर्षदेव माधव ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपना अधिकांश साहित्य इन्हीं विद्रूपताओं पर लिखा है। वे कभी राजनेताओं के दोहरे चरित्र पर व्यथित होते हैं तो कभी साम्प्रदायिक द्वेष उनके मस्तिष्क पर चिन्ता की लकीरें बना देता है। मन्दिर मस्जिद के नाम पर मानवता खण्डित होती है।[3] इसके साथ ही अपनी टोपी पहनकर दूसरे की टोपी उछालने का क्रम चलता रहता है। आज मनुष्य काँच के घर में रहकर भी दूसरे घर पर पत्थर फेंक रहा है सब कुछ स्वार्थवश है प्रत्येक कार्य में अपना सुख और अपनी भलाई देखने वाले धनलोलुप तथाकथित समाज सेवक इस देश को पतन की ओर ले जा रहे हैं –

1. लसल्लतिका, पृष्ठ–46
2. लसल्लतिका, पृष्ठ 59–63
3. भावस्थिराणि, पृष्ठ–37

मन्दिरे समभ्यर्च्य
मस्जिदे निगूढ़ोभवति
शान्तिमन्त्रणां कृत्वा
रथ्यासु प्रसारयत्यातंङ्क.
स्वरोटिकां पाचयितुम्

(भावस्थिराणि.., पृष्ठ–109)

जनार्दनप्रसाद मणि यद्यपि प्रेम के कवि माने जाते हैं परन्तु एक अन्तर्मन उसके पास भी उतना क्षुभित है जो ऐसे भ्रष्टाचारियों को 'गुरुघंटाल' मानकर उनके आचरण और कार्यों को कह जाता है। वे मानते हैं कि चाहे राजनीति हो, धर्मनीति हो अथवा साहित्य के सभामण्डप हों सर्वत्र गोरखधन्धे वाले ही चिरजीवी होते हैं और विज्ञजन सम्मान से वंचित रह जाते हैं –

स्वार्थन्धकैर्नवनीतलेपनलालिते दृप्ते युगे
चाटूक्ति मग्नपुरन्दरे गुण गुम्फितानां का कथा
काकैर्बकैर्नुनु पेचकैर्महिते सभाया मण्डपे
रे शारदे तव विज्ञहंससुभाषितानां का कथा

(निस्यन्दिनी–53 / 1,9)

ऐसे भ्रष्ट वातावरण में हमारे भारतवर्ष का निस्तेज रूप कवियों को व्यथित कर जाता है –

मदीये राष्ट्रे
पथभ्रष्टो जायते
दानस्य पात्रम्
किं भारतमिति
संज्ञामात्रम्

(ज्योतिर्ज्वालनम्, पृष्ठ–27)

वस्तुतः सामाजिक व्यवस्था पर रोष स्वाभाविक है। कवि उसे शब्दों का आकार दे देता है और सामान्य व्यक्ति अपनी पीड़ा आन्दोलन, दंगा, हत्या, असन्तोष, हिंसा आदि से व्यक्त करता है।

यात्रा विषयक काव्य लेखन

समकालिक कविता ने एक ओर तो अपने कलापक्ष को संवारा है उसे नया रूप दिया है नयी विधाएँ उत्पन्न की हैं वहीं दूसरी ओर विषयों की नवीनता में एक नया अध्याय जुड़ गया है। आज कवि अपनी प्रत्येक यात्रा को शब्दों के कैमरे में कैद कर लेना चाहता है इसके साथ ही समाज के प्रबुद्ध वर्ग की प्रशंसा में रचनाएँ लिख रहा है। परन्तु इस पक्ष का लेखन इतना प्रभावशली एवं निष्पक्ष नहीं कहा जा सकता है। यह स्तुतिपरक साहित्य चारण युग की याद ताजा कर देता है। यद्यपि इसमें कुछ अंश तथ्यपरक भी होता है परन्तु प्रायः इसका उद्देश्य चाटुकारिता से परिपूर्ण होता है। इसके प्रतिफलित रूप में पुरस्कार प्राप्ति की अभिलाषा भी निहित होती है।

यात्राओं के वृत्त को तूलिका में पिरोकर शब्दचित्र खींचने में प्रायः अधिकांश कवियों ने संकोच नहीं किया है। सत्यव्रत शास्त्री की 'शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति' एवं 'थाईदेशविलासम्', राजेन्द्र मिश्र कृत 'बालीप्रत्यभिज्ञानशतकम्', रमाकान्त शुक्ल कृत 'भातिमौरीशसम्', राधा वल्लभ त्रिपाठी द्वारा विरचित 'धरित्रीदर्शम्', प्रभाकरनारायण कवेठकर कृत 'भूलोकविलोकनम्', आदि रचनाएँ उल्लिखित की जा सकती हैं। उसके अतिरिक्त हर्षदेव माधव, बनमाली बिश्वाल, रवीन्द्रपण्डा, इच्छाराम द्विवेदी आदि अनेक कवियों ने प्रक्षिप्त कविताओं में अनेकों देशों एवं यात्राओं के प्रसंग समेट लिये हैं।

डॉ0 प्रभाकरनारायणकवठेकर ने अपने सम्पूर्ण यात्रा वृतान्तों को ''भूलोकविलोकनं'' संस्कृत काव्य में संगृहीत किया है। विमान की यात्रा करते समय विमान परिचारिका से लेकर विमान का छोटे से छोटा दृश्य भी उनकी सूक्ष्म दृष्टि से बच नहीं सका है। वह विमान बाला के हृदय तक पहुँचकर उसकी वेदना का अनुभव करते हैं –

विमानबाला वियति भ्रमन्ति
तथापि चित्तं स्वगृहे तदीयम्।
प्रसन्नमुद्रा स्मितमादधाना
को वा विजानाति तदीयचित्तम्

(विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम पृष्ठ–202)

इस कविता में यात्रा प्रसंग के साथ–साथ कवठेकरजी ने नारी विवशता का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। विमान के वातायन से झाँकते हुये सम्पूर्ण पृथ्वी किस प्रकार से मन को मोह लेती है –

विमानवातायनवीक्षणीयं
महीतलं मोहयति प्रसन्नम्
केदारखण्डा हरितास्तथैव
वक्रा नदीनां तनुतोयरेखा

(विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम पृष्ठ– 203)

अभिराज राजेन्द्र मिश्र जी ने 'विमानयात्राशतकम्' में 103 श्लोकों के माध्यम से अपनी 'बालीद्वीप' यात्रा का मनोरम वर्णन किया है। दिल्ली के पालम हवाई अड्डे से प्रारम्भ हुई उनकी यात्रा विमान के हर कोने में पहुँचाकर पाठकों को हवाई यात्रा का पूर्ण आनन्द देती है। उसमें न केवल हवाई जहाज के उड़ने और उतरने के बीच की गतिविधियाँ हैं अपितु मानसिक प्रवृत्तियों, भावभंगिमाओं और मनोगत अनुभूतियों को शब्दों में पिरोया है। उमाचरण झा ने अपनी वैश्नोदेवी यात्रावर्णन को छब्बीस छन्दों में उतारा है।

भास्कराचार्य त्रिपाठी की हिमाचल यात्रा भी चित्रोपम है हिमवीथी, देवदारू के वृक्ष कैसे मन में प्रविष्ट हो रहे हैं –

सरलदेवदारूणां शोभा मार्गे दृष्टा
स्वः सोपान सदृश हिमवीथी मनसि निविष्टा
हिमवसना वसुधा तपोऽन्विताऽतनु हिमालये
सघनशैलमाला विलोकितायुवहिमालये

(अर्वाचीनसंस्कृतम् द्वाविशंद्वितीयेऽङ्क., पृष्ठ–11)

हर्षदेव माधव की 'भावस्थिराणि जनान्तरसौहृदानि' नामक पुस्तक में मसूरी से प्रारम्भ हुआ वर्णन हरिद्वार, कोलोरडोप्रदेश, चेन्नई, सोमनाथ, रूमानिया, शिलाँग, नागार्जुनकोण्डा, लद्दाख, कलकत्ता, मिस्रदेश, पशुपतिनाथ, बंगाल, सिंहलद्वीप से घूमता हुआ सम्पूर्ण स्थानों के चित्र पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने में पूर्ण समर्थ हुआ है।

(पृष्ठ 114–142)

परन्तु इन प्रसंगों में स्थानों का वर्णन प्रमुखता से हुआ है। इसकी यात्रा

के विषय में कवि ने उल्लेख नहीं किया है। परन्तु बनमाली बिश्वाल का 'यात्रा' काव्य संग्रह सरल भाषा शैली में यात्रा का रोचक वर्णन प्रस्तुत करता है। इसमें यात्रा के समय यत्र तत्र आने वाले प्रसंगों को उनके चिन्तनशील मस्तिष्क ने आकार प्रदान किया है। रेलवे स्टेशन पर चूहों की चहलकदमी बिश्वाल जैसे सक्रिय कवि को ही लिखने को विवश कर सकती है –

मूषकः सः
सृष्टेः कश्चित् क्षुद्रकायो जीवः
गृहमूषिकानामिव / नास्ति तस्य स्थायी कश्चिद्वासः
सः जीवति / प्रतिक्षणं निजप्राणान् करतले धृत्वा
न जानाति खाद्यस्यान्वेषणे कदा /
हारिष्यति रेलचक्रस्याधः / स्वप्राणान् पैतृकान् ।[1]

जीवन की छलना उन्हें कभी भी छल सकती है। कभी भी वह रेल की पटरियों पर अन्तिम श्वाँस ले सकता है, वह घर के चूहों की भाँति निश्चिन्त एवं सुरक्षित नहीं है, लेकिन अपने कर्म में पटु रेलवे प्लेटफार्म पर निश्चिन्तता से जिये जा रहा है। यह है जीवन के फक्कड़पन का सबक।

राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'धरित्रीदर्शनलहरी' के पाँच उन्मेष में सम्पूर्ण पृथ्वी को समेट लिया है। वे केवल रेलयात्रा के प्रसंग में ही संतुष्ट नहीं हैं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय फलक का अनुभव करते हुये वायुयान की यात्रा का आस्वाद भी पाठकों को कराते हैं। जैसे ही आकाश में वायुयान उड़ता है उनका स्तब्ध मन त्रिशंकु बन जाता है।[2] उन्होंने अपनी इस रचना में विमान से दर्शनीय पृथ्वी का बहुआयामी चित्र प्रस्तुत किया है। कभी तो उसकी नदियाँ, कभी सूर्योदय, कभी सांयकाल की लालिमा और कभी क्षितिज का स्पर्श करता हुआ पारावार भिन्न रूप में उनके नेत्रों के समक्ष नृत्य करता है। पूर्णिमा के प्रकाश में अनायास ही सघन अन्धकार की सज्जा, तो कहीं धवलित मेघमालाओं की चित्रावली सुसज्जित होकर 'त्रयम्बक' के अट्टाहास

1. यात्रा, पृष्ठ–16
2. सन्धानम् प्रथम उन्मेष, पृष्ठ–68 / 8

की अनुभूति करा देती है।[1] पृथिवी का सौन्दर्य आकाश में दृश्यमान होकर नवीन बोध प्रदान करता है –

संसर्पन्ती सलिलतरला शुभ्रवर्णाभ्रमाला
सीम्नो रेखां विरचितवती स्वर्भुवोर्मध्यदेशे
सूर्यालोके गगनसरणौ स्यन्दमाने विमाने
तस्याधस्तात् सपदि वसुधां तूलकल्पा न्यरुन्ध।

(चतुर्थ उन्मेष, पृष्ठ–72/1)

डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी की यह रचना यात्रा वृतान्त के रूप में बहुत ही सशक्त कही जा सकती है उन्होंने विमान से पृथिवी के स्वरूप का यथावत एवं रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। केवल बाह्य स्वरूप का वर्णन ही हमें यहाँ दिखाई नहीं देता अपितु विमान के अन्दर विभिन्न देशों के नागरिकों एवं विमान परिचारिकाओं का व्यवहार, सह–यात्रियों का पारस्परिक वार्तालाप, यान में वितरित होने वाली भोज्य वस्तुएं, मदिरा, सभी कवि की दृष्टि से छूट नहीं पाये हैं।[2] पाठक पढ़ते समय स्वयं इस यात्रा में अनायास ही शामिल हो जाता है। वस्तुतः यात्रा विषयक काव्य अर्वाचीन संस्कृत साहित्य की एक सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य योजना है जिसमें अधिकांशतः कवियों ने अपने अनुभूतिजन्य चित्र पिरोए हैं। कवियों की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय यात्राएँ, काव्ययात्रा बनकर अपने पाठकों को यत्र तत्र भ्रमण कराती रही हैं।

अन्ततः समग्र अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के प्रमुख बिन्दुओं पर दृष्टिपात करने से एक तथ्य सर्वाधिक रूप से प्रकाश में आ रहा है कि हमारे कवियों ने बदलते जीवन मूल्यों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की है और उसी के आधार पर अपने काव्य की दिशा का भी निर्धारण किया है। आज वह उन्हीं पुरावृतान्त, राजसी वर्णन, प्रकृति चित्रण और यशस्प्रशस्ति में उलझा हुआ नहीं है उसमें समाज के साथ चलने की, समय के प्रवाह में बहने की और नये मूल्यों को संजोने की अभिलाषा और शक्ति दोनों ही हैं। कवि और पाठक दोनों का काव्य–रसास्वाद

1.सन्धानम् चतुर्थ उन्मेष, पृष्ठ–73/4
2.सन्धानम् तृतीय उन्मेष, पृष्ठ–71/2–8

बदल रहा है। आज वही छपता, बिकता है और प्रशंसा पाता है जो समय के अनुकूल है। अतः कवि ने इस दिशा को समझ लिया है और वह उसी का अनुशीलन करता हुआ कालजयी रचना लिखने को प्रयासरत है। कवि की चेतना प्रत्येक घटना पर केन्द्रित रहती है। आज कुछ भी कहीं भी होता है, संस्कृत का कवि उसे तुरन्त काव्य में उतार देता है यही है उसकी सामयिकता और बदलते जीवनमूल्यों के प्रति जागरुकता। अतः हमारे डैने अब नई उड़ान के लिये तैयार हैं।

पञ्चम अध्याय
आधुनिक कविता और व्यक्तित्व विश्लेषण

व्यक्ति और साहित्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। कवि की कल्पना उसके काव्य में ही विश्राम पाती है। व्यक्तित्व ही वह नियामक तत्व है जो साहित्य की धारा को एक विशेष मोड़ देता है। कवि का व्यक्तित्व देश काल, वंशानुक्रम तथा पर्यावरण से प्रभावित होता है। उसकी कविताएँ अपने परिवेश का प्रतिनिधित्व करती हैं। परन्तु साहित्य की अनुभवगम्यता बहुआयामी होती है वह किसी स्थान विशेष से प्रभावित नहीं होती क्योंकि उसका पाठक बहुक्षेत्रीयजन्य होता है। यह स्थान विशेष कवि के दर्शन को तो प्रभावित कर सकते हैं परन्तु कविता के आस्वाद में लक्ष्मणरेखा नहीं खींच पाते। साहित्यकार समाज का ही प्राणी होता है अतः युगीन समस्याओं, कुरीतियों आदि का प्रभाव उस पर भी पड़ता है। उसकी संवेदनशीलता उसे सर्वाधिक प्रभावित करती है। आधुनिक कवि का अवचेतन, युगीन सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विषमताओं से आक्रान्त है। आज उसका वर्ण्य विषय न तो राजसी वैभव है और न ही युद्ध के पारम्परिक रूप की ओजस्विता। उसके पास नारी की असहायता, विवशता, दहेज की त्रासदी, बाल विवाह, उसकी वेदना और प्रेम है। इसके अतिरिक्त स्तुतिपरक साहित्य का प्रचलन भी अर्वाचीन काव्य का एक वैशिष्ट्य है। यह स्तुति केवल देव स्तुति तक ही सीमित नहीं है अपितु कवियों ने अनेकों नेताओं, विशिष्ट व्यक्तियों एवं विद्वानों की स्तुति में विभिन्न काव्यशतकम् की पुष्पाञ्जलि अर्पित की है। यह काव्य एक विशेष रूप में ही सुसज्जित है। इसमें तत्सम्बन्धी व्यक्तित्व की सकारात्मक प्रवृत्तियाँ ही अभिव्यक्त हैं। इसमें व्यक्ति को देवता बनाने के लिये श्रम किया जाता रहा है। अतः ऐसे काव्यों का प्रचलन केवल सीमित परिवेश में ही हो सका है। हाँ इसके माध्यम से पुरस्कार प्राप्त करना भी कभी–कभी कवि के लिये सुयोग बनता रहा है। परन्तु पठन–पाठन की दृष्टि से यह व्यक्तित्व दर्शन कराने में भी पूर्णरूपेण सफल नहीं हुआ है। जब देवता भी किसी न किसी संयोग से कहीं

न कहीं कुछ त्रुटि कर जाते हैं तो त्रुटिहीन मानव की कल्पना कैसे की जा सकती है। परन्तु कवियों ने चाटुकारिता की प्रबलता में इसका भी अतिक्रमण कर दिया है। वस्तुतः आधुनिक काव्य लेखन को सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक मूल्यों के साथ–साथ स्तुतिपरक काव्य का भी एक युग कहा जा सकता है।

आधुनिक काव्य में सर्जक की भावक के प्रति उदासीनता

इस परिवर्तनशील युग में नारी चरित्र को केन्द्र में रखकर भी विपुल साहित्य लिखा गया। कहीं उसका प्रेम, कहीं पीड़ा, कहीं व्यथा और कहीं विवशता ने कवियों को वर्ण्य विषय प्रदान किये। यूँ तो प्रेम पर हर युग में बहुत विस्तार से लिखा जाता रहा है परन्तु अर्वाचीन काव्य में प्रेम की परिभाषा कुछ और निखर आयी है। लेकिन अर्वाचीन कवि में भावक के प्रति उदासीनता दिखाई देती है। सर्जक अपने मनोनुकूल काव्य का निर्माण करता है भावक की अनुभूति से उसका तादात्म्य हो अथवा न हो। वह कालिदास की भाँति प्रेक्षकों की संतुष्टि में अपने काव्य की सफलता मानने को तैयार नहीं है। स्वयं को ब्रह्मदृष्टा मानने वाले कवियों का बाहुल्य ही आधुनिक काव्य सृजन में दिखाई देता है।

प्रेम कविता की आत्मा है जैसे बिना आत्मा के जीव की कल्पना नहीं की जा सकती है उसी प्रकार प्रेम के बिना काव्य सृजन अधूरा है। प्रायः सभी कवि अपनी रचनाओं में कहीं न कहीं अपने पूरे–अधूरे प्रेम को व्यक्त करते रहे हैं। मध्यकालीन कवियों ने तो अपनी शृंगारिक क्रीड़ाओं, चेष्टाओं को देवी देवताओं पर आरोपित करके काव्य सृजन किया है। परन्तु आधुनिक कवि प्रेम की स्वीकृति को सबके समक्ष प्रस्तुत करता है। वह निर्भीक है। उसे अपने पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति मे कोई संकोच नहीं है। अभिराज राजेन्द्र मिश्र प्रेम के कवि हैं। उनका शृंगार इतना संतुलित, शिष्ट एवं परिष्कृत है कि सुधी पाठक उसमें डूब जाता है। 'मृद्वीका' उनका एक श्रेष्ठ प्रणयगीत गुच्छ है। जिसमें प्रणयी भावभंगिमाओं के अनेकों वक्र विधान हैं। सत्य ही तो है भला प्रिया के बिना यह संसार, यह यौवन, यह जीवन किस

काम का?

नहि जगदतिरुचिरं त्वया विना
जीवतमपि न चिरं त्वया विना
तव नयनभङ्गलीलाललितम्
दृश्यतेऽखिलं वलितं वलितम्
गायनमपि बधिरं त्वया विना
तव पाणिसरोरुहसंस्पृष्टम्
वपुरिदं भाति सुधयाऽऽविष्टम्
यौवनमपि विधुरं त्वया विना।

(मृद्वीका, पृष्ठ–12)

विरह में केवल संसार का अरुचिकर हो जाना ही काफी नहीं है अपितु जीने की इच्छा ही समाप्त हो गई है। अभिराज का यही प्रणय प्रेमी को एकाकार होने का संकेत देता है। वे तो अर्द्धनारीश्वर जैसे शिव की एकरूपता मानते हैं जहाँ प्रिय और प्रिया का अलग–अलग अस्तित्व ही नहीं होता।

राधावल्लभ त्रिपाठी प्रियतमा की विलास दृष्टि में अपने जीवन का उद्देश्य ढूँढ़ लेते हैं। उनका प्रेमगीत प्रौढ़ प्रेम की व्यञ्जना करता है जहाँ दिवस के विश्रान्तिकाल में मन भी अपने घर लौटकर प्रेयसी के समीप शान्ति पाता है। उनकी प्रेयसी क्षणिक आनन्द अनुभूति की प्रदायिनी नहीं है अपितु उनके हर सुख दुःख की साथी है।[1] केशवचन्द्र दाश के प्रणय में गम्भीर चिन्तन एवं विषाद झलकता है। उनकी कविताएँ कहीं–कहीं लौकिक प्रेम को आध्यात्मिकता से जोड़ देती हैं। उनके प्रेम में क्षण भर का सुख नहीं अपितु जीवन भर का अनुराग व्यञ्जित है। हरिदत्त शर्मा की कविताओं में प्रेम के अनेकों भाव अठखेलियाँ करते प्रतीत होते हैं कहीं उनका प्रेम जन्म जन्मान्तरों का पवित्र बन्धन बन जाता है तो कहीं रसरागमयी सन्ध्या में दिवस की ठिठोलियाँ उन्हें गुदगुदाती हैं। वे दहेज की विभीषिका से त्रस्त युवा

1. सन्धानम्, पृष्ठ–103

को जगाना चाहते हैं क्योंकि अर्थग्राह से युक्त मनुष्य राक्षस हो गया है। नववधू के गृहप्रवेश के समय ही यह सर्पदंश उसे डस लेता है।[1] राजेन्द्र नानावटी दीर्घजीवी प्रेम के पक्षधर हैं। जनार्दन प्रसादमणि शारीरिक एवं आत्मिक दोनों प्रेम को बहुत ही सूक्ष्मता से वर्णित करते हैं वे अपनी प्रिया का अधरपान करना तो चाहते हैं परन्तु उसकी अनुमति के बिना बलपूर्वक उसकी सुकुमारिता को खण्डित करने को अपराध मानते हैं इसलिये बसन्त ऋतु के आगमन की सूचना देकर उसे प्रेरित करते हैं –

आगतो वसन्तो मदिराक्षः सर्वं रतिकाममयं जातम्
सम्प्रत्यपि किं ते चपलमनः स्पन्दितं नैव कथमपि बाले।

(निस्यन्दिनी–7/4)

हर्षदेव माधव ने हिमालय से प्रवहमान अलकनन्दा को प्रेयसी पद पर प्रतिष्ठापित करके एक नये वातावरण का सृजन किया है। उनके आरोप, प्रत्यारोप, शिकवे–शिकायत, खुशी–गम, सब कुछ अलकनन्दा के प्रवाह से जुड़ा है। उनके प्रणय में वेदना, निराशा, उल्लास, कौतुक, उत्कण्ठा, अवहेलना, प्रार्थना आदि विविध भाव तरंगित हैं। इसमें प्रेम को नवीन दृष्टिकोण प्रदान करने के लिये अनेकों बिम्बों एवं प्रतीकों का आश्रय लिया गया है।

अलकनन्दे!
'इन्सेट–बी' उपग्रहोऽपि
मम प्रणयावेगस्य छविं ग्रहीतुम्
न शक्नुयात्[2]

उनके प्रेम के चित्र 'इन्सेट–बी' से भी नहीं लिये जा सकते हैं। हर्षदेव माधव प्रणय को अन्तर्मन की पीड़ा से जोड़कर देखते हैं अतः वह क्रन्दन का पर्याय प्रणय को मान लेते हैं –

किन्तु मया प्रणयस्य पर्यायोलब्धः
क्रन्दनं! केवलं क्रन्दनम्

(निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–117)

1. लसल्लतिका, पृष्ठ–38,39
2. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–115/56

बनमाली बिश्वाल प्रेम के कवि हैं। वे प्रेम को अपनी पुस्तक 'वेलेण्टाइन डे' में विस्तार से व्याख्यायित करते हैं। वे कहीं तो प्रेम को हृदयरूपी ताले की चाबी के रूप में स्वीकार करते हैं[1] तो कहीं वह हृदय की संवेदना बन जाता है[2]। इसे व्यक्त करने के लिये कवि इण्टरनेट का आश्रय लेता है परन्तु इस काल्पनिक प्रिया के 'ई–मेल' संकेत के अभाव में विवश हो जाता है[3]। इसी प्रकार अनेकों प्रकार से प्रेम को परिभाषित करते हुए कवि के लिये उसकी प्रियतमा राधा, मीरा, उर्वशी एवं शकुन्तला के विविध रूपों में उसके मानस पटल पर विचरण करती रहती है अन्ततः प्रेम की अनुभूति कुछ इस प्रकार व्यक्त होती है –

प्रेम कश्चिदनुभवः
आह्वानञ्च अन्तःकरणस्य
प्रेम कश्चित् सन्देशः लोकस्य
यथार्थश्च परस्य लोकस्य (वेलेण्टाइन डे–32/68)

वस्तुतः कवि का यह शाश्वत प्रेम क्षणिक नहीं है यह तो उसके जीवन भर की पूँजी है। प्रणव प्रेम के कवि ही नहीं अपितु उसके साधक भी हैं उनका प्रेम न तो बहुत आध्यात्मिक है जिसमें अनुभूति के लिये उपमान और उपमेय के बिन्दु विचार करने पड़ें और न ही उनके प्रेम में इतना उथलापन है कि समाज उस पर उलाहना दे सके। सदैव मध्य मार्ग का अनुसरण करने वाले डॉ0 द्विवेदी के काव्य में सूक्ष्म प्रेमिल संवेदना है, अनुभूतिजन्य राग है और सुध बुध खो देने वाली कादम्बरी का रसास्वाद है उनकी मुक्ति भी प्रेम का प्रश्रय माँगती है –

प्रीतिकल्पपादपं विना
यातु कुत्र मे मनोलता
रागपाशबन्धनं विना
मुक्तिसाधना न सम्मता
प्रीतिहीनमत्र जीवितं लक्ष्यते सदैव काननम्
श्रूयते न जीवने यदा रागवेणुनादवादनम्

1. वेलेण्टाइन डे–18/26
2. वेलेण्टाइन डे–19/30
3. वेलेण्टाइन डे–24/44

प्रेम की यही सञ्जीवनी जीवन की दिशा बदल देती है। सम्पूर्ण मनोव्यथा को दूर करके न जाने कितने पाटलों की सुगन्धा से सम्पूर्ण जीवन को सुवासित करती है –

प्राणसञ्जीवनी मोदसञ्चारणी
प्रीतिभाषा यदि स्पन्दतेऽहर्निशम्
हर्ष सौजन्य सारल्यमैत्रीमयं
निर्मलं निर्मलं जायते जीवनम्

वस्तुतः प्रेम की बात हो अथवा उत्पीड़न की, सजगता की बात हो अथवा विवशता की, उन्नति की चर्चा हो अथवा अवनति की, आधुनिक संस्कृत कवि अपने काव्यसंसार में स्वयं विचरता है उसका भावक से उतना तादात्म्य नहीं होता। अतः कहा जा सकता है कि अर्वाचीन संस्कृत काव्य में सर्जक की भावक के प्रति उदासीनता दिखाई देती है।

नारी विषयक काव्ययोजना

बिना नारी के काव्ययोजना की परिकल्पना असम्भव है। भले ही वह सौन्दर्य का अध्याय हो अथवा प्रेम की परिणिति। नारी पात्र के बिना सब कुछ अपूर्ण है। नारी के अनेक रूप हमें काव्य लेखन में दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं नारी विरहिणी के रूप में अश्रु प्लावन करती है तो कहीं संयोग में 'रति' बन जाती है। कहीं क्रोध में दुर्गा तो प्रेम में मीरा का रूप धारण कर लेती है। यदि वह विवश है तो स्वतन्त्र भी है। यदि कहीं निरूपाय है तो कहीं शक्तिपुञ्ज भी। इस प्रकार कभी कभी वह अपने पारम्परिक रूप का परित्याग करने को भी उद्यत हो जाती है और कभी अपनी वेदना को हृदय में छिपाकर मुस्कराती है। इस प्रकार अपने बहुआयामी चरित्र और व्यक्तित्व से सम्पूर्ण काव्य जगत पर नारी ने सदैव से दस्तक दी है। कुछ विशिष्ट बिन्दुओं द्वारा नारी के सर्वाङ्गीण स्वरूप को काव्य के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।

नारी के पारम्परिक रूप का परित्याग

अर्वाचीन संस्कृत साहित्य की काव्य विधा नारी विषयक चरित्र को लेकर बहुत प्रभावित दिखाई देती है। अब हमें केवल सीता, सावित्री, द्रौपदी जैसे ऐतिहासिक एवं मर्यादित चरित्रों का ही उल्लेख

नहीं मिलता है अपितु नारी के सामयिक रूप की छवि भी यत्र तत्र दृष्टिगोचर होती है। समय की आवश्यकता को देखते हुये नारी ने अपने पारम्परिक रूप का परित्याग कर दिया है। केवल वेश भूषा, साज सज्जा में ही उसने परिवर्तन नहीं किया है अपितु भावनाओं, क्रियाकलापों और व्यवहार में भी नयी उड़ान भरी है। कवियों ने उसके इस नव रूप का स्वागत भी किया है। कहीं वह इसे हास्य के आवरण में व्यक्त करता है तो कहीं अनायास ही व्यञ्जना का आञ्चल थाम कर नये समीकरण रख देता है। अभिराज राजेन्द्र मिश्र प्राचीन और अर्वाचीन दोनों गंगा जमुनी संस्कृति के पक्षधर हैं। उन्हें लगता है कि नारी मुक्ति आन्दोलन भावनात्मक दृष्टि से तो एक अच्छा प्रयास है परन्तु उसका क्रियात्मक रूप विकृत हो रहा है –

महिला मुक्त्यान्दोलनैस्त्वया
गृहबद्धा नार्यो विमोचिताः
पतयः पचन्ति किल महानसे
पत्न्यश्च समाजोद्धाररता
धात्रीपालयति शिशुं भवने
पितृपरिचयरहितं नमोनमः

(मधुपर्णी–56 / 6)

पति के दिवंगत होने पर पत्नी के सती होने की परम्परा मध्यकाल में विद्यमान थी। समाज सुधारकों ने इस प्रथा का दृढ़ता से विरोध किया। राधावल्लभ त्रिपाठी का मन्तव्य भी यही है कि आखिर उस स्त्री का दोष ही क्या है जिसे सती प्रथा के नाम पर जीवित जला देने की साजिश रची जाती है। वे ऐसे शास्त्रों को भी रसातल में फेंक देना चाहते हैं जो इस परम्परा के समर्थक हैं –

पतिदिवङ्गमनेन गतार्थतां
गतमहो घृणितं मय जीवनम्
इति समर्थयते खलु येन सा
व्रजतु शास्त्रमिदं तु रसातलम्

(सन्धानम्, पृष्ठ–47)

सकारात्मक सोच के साथ–साथ देश में नारी स्वतन्त्रता का बिगुल तो बजा परन्तु उससे जो नव्य परिवर्तन हमारे समाज में आये उन्होंने नारी दर्शन को एक भिन्न रूप में प्रस्तुत किया। आज नारी आत्मकेन्द्रित हो रही है। वह अपने विकास के मार्ग को प्रशस्त करना चाहती है। परन्तु अपने इस विकास की आँधी में नेत्र बंद करके वह पथभ्रष्ट भी हो रही है–

कन्यां सुशीलां कमनीयकान्तिं
विद्यार्जनाय नगरं विशालम्
सम्प्रेरयन्तीं पितरौ सखेदं
बाध्यौ च दृष्टुं नवगर्भिणी ताम्

(शतदलम्–30 / 76)

स्त्रियों के प्रति कवि माधव का दृष्टिकोण बहुत ही विशाल है। वे स्त्रियों के भोग्या के रूप से असंतुष्ट हैं। अतः इसे समाज का नासूर मानते हुए स्वीकार करते हैं कि वे नृत्यांगनाएँ जो राजसी काल में अपनी कलात्मक छवि का परिचय दिया करती थीं आज लज्जा के आवरण से रहित होकर मद्यपों द्वारा आलिंगित की जा रही हैं –

वासना यूपे बद्धा सा/
दूयते किन्तु न हन्यते।

परन्तु केवल नारी के विकृत रूप का उल्लेख करना ही उन्हें अभीष्ट नहीं है अपितु वे तो विश्व की सर्वाधिक सौन्दर्य सम्पन्न नायिकाओं को अपनी 'अलकनन्दा' जैसी प्रेयसी में देख लेते हैं। उनकी अलकनन्दा के नेत्र 'एफ्रोडाइट' की प्रणयदेवी जैसे हैं, अधर 'लैला' जैसे, पैर 'साफो' जैसे, और कोमलता 'क्लिओपेट्रा' सी, हृदय 'शकुन्तला' जैसा है[1]। सीतानाथ आचार्य का प्रेमोपजीव्य गीतकाव्य 'का त्वं शुभे' पूर्ण प्रेम का प्रतीक है। इसमें नायिका कालिदास के समग्र रूप का निदर्शन है। कस्तूरी गन्ध वाली मृगी के समान वह मन का सहजता से हरण कर लेती है[2]। वस्तुतः नारी का परिवर्तित होता रूप कवियों द्वारा यत्र तत्र वर्णित किया गया है।

1. पुरा यत्र स्रोतः–47 / 45
2. का त्वं शुभे, पृष्ठ 9 / 83–85

नारी शोषण एवं वेदना

नारी शोषण एवं वेदना का स्वर संस्कृत साहित्य में अतीव वेदना के साथ उभरा है। यद्यपि नारी सहनशक्ति की पराकाष्ठा है, दया का सागर है और मर्यादाओं का हिमालय है लेकिन फिर भी जब उसके साथ अनाचार का कुचक्र रचा जाता है तब उसकी भावनाएँ आहत होती हैं वह कराह उठती है। डॉ0 प्रभकरनारायाकवठेकर कुदृष्टि का लक्ष्य बनती हुई विमानपरिचारिका में एक विवश और निरुपाय नारी की छवि देखते हैं –

सेवाप्रसङ्गे युवतीकरस्य
स्पर्शेऽपि रोमाञ्चसुखं न जातम्
स्पर्शातिरेकाद् विगतो विकारः
स्त्रीत्वं पृथिव्यां निहितं तया किम्

(विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम पृष्ठ–202)

वेदकुमारी घई वेदना की कवयित्री हैं। सीता संदेश के रूप में उन्होंने स्त्री की विवशता और शोक का महाकाव्य लिख दिया है। यह स्त्री कभी सीता के रूप में, कभी द्रौपदी के रूप में सदैव तिरस्कृत की जाती रही। बिना अपराध बताये उसे सुखों से वञ्चित किया जाता रहा। सीता ने अपने तिरस्कार से क्षुब्ध होकर राम को संदेश भेजा है कि हे राम तुमने मुझे अग्निपरीक्षा के बाद भी त्याग दिया क्योंकि तुम स्वतन्त्र और समर्थ हो तथा धूर्त रजकों द्वारा प्रेरित किये जा रहे हो –

अधुना त्वं
स्वतन्त्रोऽसि समर्थोऽसि
यतो हि त्वां परितः। अतीव क्षुद्रहृदयाः
स्वार्थपरायणा न्यायहन्तारो
धूर्तप्रवरा रजका नर्तन्ते।
इदमहं जाने मदीयं स्थानमन्या कापि सीता ग्रहीष्यति।

(विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम पृष्ठ–366)

देवदत्त भट्टि ने अपनी कविता में पतिव्रता के नाम पर होने वाले शोषण की ओर इशारा किया है। नारी बिना कियी अपराध के भी वन्दिनी कर दी जाती है –

न सा हिंस्त्रा, नोपद्रवकारिणी
न कुत्सिता न चौरा न बलात्कारिणी
न मद्यपायिनी न द्यूतरता
नाभियुक्ता दण्डिता वा केनापि न्यायिना
तथाऽपि वन्दनीगृहे।

(विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम पृष्ठ– 559)

अभिराज मिश्र शकुन्तला के रुदन को आज भी अनुभव कर रहे हैं जिसे दुष्यन्त के कटु व्यंग्य वाणों को सहन करते हुये लज्जित होना पड़ा था। ऐसी न जाने कितनी शकुन्तला आज समाज से बहिष्कृत की जा रही हैं[1]। इसी प्रकार वसन्तसेना जो वेश्यावृत्ति के लिये प्रसिद्ध है परन्तु उसके हृदय में भी एक नारी है जिसे धन नहीं चाहिये अपितु निर्धन चारुदत्त का प्रेम चाहिए परन्तु वहाँ भी दुष्ट शकार उसके मार्ग में बाधक है। अतः अभिराज का कहना यही है कि नारी अबला ही है जिसे न तो हृदय का अभीष्ट प्राप्त हो पाता है और न ही उसके विद्रोह को स्थान मिलता है। भले ही युग बदलते रहे हों परन्तु परिपाटी आज भी वही है –

वराकी नारी दुर्व्यवतिष्ठते
रामं रघुनन्दनमियेष वैदेही
ताञ्च रति लम्पटो रावणः
द्वारिकाधीशमियेष रुक्मिणी
ताञ्च निर्गुणशिशुपाल :
हन्त सनातनीयं परिपाटी
दुर्नियतेः पुरन्ध्रीणाम्

(मधुपर्णी, पृष्ठ–106)

राधावल्लभ त्रिपाठी भी इस अनाचार एवं नारी शोषण का दृढ़ता से विरोध करते हैं। वे कथनी और करनी में अन्तर रखने वाले द्विमुखों को फटकारते हुये कहते हैं कि एक ओर तो जो सती प्रथा का विरोध करते हैं और दूसरी ओर वही नारी को दहेज के लिये जला देते हैं वे व्यक्ति वास्तव में मनुष्य रूप में राक्षस हैं –

1. मधुपर्णी, पृष्ठ–64

येऽमी मानुषराक्षसाः स्वयमहो नारीं दहन्त्यत्र वा[1]।

स्त्रीशोषण एवं उसकी व्यथा अनन्त है कहीं उसे पुत्रहीन होने पर मार दिया जाता है तो कहीं कन्या के भ्रूण के रूप में ही उसकी हत्या कर दी जाती है यदि वह बच भी जाती है तो विवाह के बाद दहेज की बलि चढ़ जाती है। वस्तुतः उसका अपना जीवन उसका अपना नहीं होता। प्रत्येक परिस्थिति में, काल में, समायोजन का गरल पीकर नारी को ही मीरा बनना पड़ता है। पार्वती का नीलकंठ तो कोई विरला ही बन पाता है। अपने पिता के घर से समस्त सुखों को छोड़कर यह जानकी जब पति के घर में प्रवेश करती है तब न जाने कब और कैसे काल की क्रूर सर्पिणी उसे डंस लेती है –

पतिगृहाय ससुखं विसर्जिता
स्नेहपालिता कन्या
सद्वर–करे समर्प्य जानकीं
जनका जाता धन्याः
हा! नववधू–प्रवेश एव तां
दशति हि काचिद् व्याली

(लसल्लतिका, पृष्ठ–39)

हर्षदेव माधव ने अनेकों बिम्बों एवं प्रतीकों के माध्यम से नारी वेदना का इतिहास लिखा है। उसकी व्यथा को शब्दों के छैनी हथौड़े से तराश कर सजीव कर दिया है। चित्रकाव्य की शैली का अनुसरण करते हुये उसके सुख दुःख की अनुभूति को चित्रित कर दिया है। नववधू की करुणा उसका दुःख सुख स्नानगृह का शीतल एवं उष्ण जल है और वह एकान्त स्थान उसके रुदन का साक्षी होकर उसे उसके मायके की अनुभूति कराता है। कैसी बिडम्बना है जहाँ स्त्री को रोने के लिये भी एकान्त चाहिये। कैसी एकाकी व्यथा है –

स्नानगृहं गत्वा / गृहक्लेशश्रान्ता वधूः / निःशब्दं रोदिति / तदा / स्नानगृहं / तस्याः पितृगृहं भवति[2]।

स्त्रियों के प्रति माधव की ह्रदय कुछ अधिक ही भावुक है व्याधवधू की

1. सन्धानम्, पृष्ठ–91 / 29
2. कण्णक्याक्षिप्तं....पृष्ठ–49

निरीहता में, मारी गई हरिणी जैसी निरीहता है –

हरिणीहता / व्याधेन निष्ठुरेण / सायं खादिता / सा पुनश्च श्वसित व्याधवध्वा वक्षसि[1]।

स्त्री का भोग्या रूप उन्हें स्वीकार नहीं क्योंकि वे यही उद्घोष करते हैं कि लज्जा के आवरण से रहित, नखक्षतों से चिह्नित, मद्यपों द्वारा आलिंगन की जाती हुई यह वेश्या कितनी अवश है –

वासना यूपे बद्धा सा / दूयते किन्तु न हन्यते[2]

केवल यह आज की बात नहीं है नारी तो प्रारम्भ से ही ठगी जाती रही है – **केनापि रामेण त्यक्ता / केनापि नलेन निर्वासिता / केनापि दुष्यन्तेन वञ्जिता / केनापि हरिश्चन्द्रेण विसृष्टा[3]।**

ऐसा लगता है कि नारी अन्तर्द्वन्द एवं पीड़ा का अखण्ड सागर अर्वाचीन साहित्य की धरोहर है। उसकी अस्मिता को बनाये रखने का संकल्प लेकर आज का कवि लिख रहा है।

बनमाली बिश्वाल पत्नी पर भी अनाधिकृत चेष्टा को अनुचित मानते हैं। वह जीवन संगिनी है, सहभागिनी है, सह भोग्या है, परन्तु उसकी इच्छा के विपरीत बलात उसका समर्पण प्राप्त करना उसके साथ अत्याचार, बलात्कार है।

ना सा व्यक्ति / किन्तु काचित सृष्टिः / पत्यै अर्पयति देहं / न प्रतिवदति तस्य / 'ह्वीस्की' पानजन्यं मुखगन्धं / संसहते प्रेमनाम्ना नित्यमत्याचारं / सहतेऽपि प्रताड़नं प्रतिवादोत्तरम् / दिवा क्रीतदासी / निजास्तित्वं सूचयति रात्रौ[4]।

नारी के प्रति प्रेम के नाम पर किया गया अत्याचार और प्रताड़ना बिश्वाल को स्वीकार नहीं है। वे उसे खरीदी हुयी दासी के रूप में देखने के विरोधी हैं।

परन्तु रवीन्द्रपण्डा इसके लिये स्त्रियों को भी दोषी मानते हैं। क्योंकि इस स्वतन्त्र देश में चाहे कन्या भ्रूण को मारने की बात हो

1. ऋषे क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ–65
2. ऋषे क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ–65
3. ऋषे क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ–65
4. ऋतुपर्णा, पृष्ठ–70

अथवा सन्तान को अपने दुग्ध से विरत करने का षणयन्त्र हो उसमें हमारी मातृशक्ति की भी प्रतिभागिता है। अतः वह भी बराबर की दोषी है –

देशे स्वतन्त्रे जननी स्वतन्त्रा
कन्याभ्रूणं सादरमत्र हन्ति
स्वयौवनाय, स्वसुखाय पुत्रं
न स्तन्यपानाय च सा प्रसन्ना

(शतदलम्, पृष्ठ–20/15)

वस्तुतः हमारी भारतीय वसुन्धरा पर जहाँ नारी पूजा को देवपूजा की श्रेणी में रखा जाता है वहाँ स्त्री के प्रति दुराग्रह का प्रयास अनुचित है। वह घर में गृहिणी के साथ–साथ सुख–दुःख की सखी है, जीवनपर्यन्त साथ निभाने का संकल्प लेने वाली सहभागिनी है। परन्तु केवल भोग्या के रूप में उसको अपने जीवन में उतारने वाले पुरुषों के लिये वह चण्डी और दुर्गा भी है। उसका प्रेम शीतल बयार है जो झञ्झावात से थके हुये पुरुष को विश्रान्ति देता है। उसके प्रौढ़ प्रेम में जहाँ शारीरिक सम्बन्ध गौढ़ हो जाते हैं एक पवित्रता का आभास होता है। क्योंकि उसके मस्तिष्क पर लगा हुआ कुंकुम का लाल तिलक प्रिय के प्रति सदैव अनुराग व्यक्त करता है जब शयनकक्ष में प्रौढ़ा नायिका पलटकर देखती है तो शयनकक्ष तुलसी–पात्र की पवित्रता का बोध कराता है।

मम नेत्रे दर्पणं पश्यत। तत्र प्रतिबिम्बिते ते भाल कुङ्कुमचन्द्रके/मदनरागस्तथैव विलसति/मुखं व्यावृत्य/त्वं पश्यसि/तदा/शयनकक्षस्तुलसीपात्रायते।

(पुरा यत्र स्रोतः पृष्ठ–58)

यह है लौकिक प्रेम की अलौकिक प्रेम में परिणिति। जो नारी सम्मान का आह्वान भी है और उसकी अस्मिता की सुरक्षा का आश्वासन भी।

नारी स्वतन्त्रता का उद्घोष

युग ने करवट ली, परिवर्तन के समय में नारी स्वतन्त्रता का उद्घोष हुआ। जहाँ नारी दबी, कुचली, असहाय और अपने भाग्य को ही नियन्ता मान चुकी थी उसके चिन्तन में सकारात्मक सोच, विकसित

होने लगी। उसे अपनी सम्पूर्णता का अहसास हुआ। वह 'प्रियतमा' से पूर्णरूप की ओर अग्रसर हुई। उसकी नेतृत्व क्षमता, उसका ममत्व, ज्ञान, विज्ञान और लेखन क्षमता ने उसके प्रगति के द्वार खोल दिये। समाज के समक्ष उसका स्वतन्त्र रूप आलोकित होने लगा। फलतः कवियों की लेखनी से नारी स्वातन्त्र्य का राग झंकृत हुआ। नारी को लक्ष्य करके भी प्रभूत साहित्य लिखा गया परन्तु अर्वाचीन काव्य में नारी विद्रोह का स्वर अधिक मुखर था। वह अपनी विवशता पर 'मुक्तपञ्जर' होना भी सीख गई। वस्तुतः नारी के एक ऐसे नव्य रूप को आधुनिक काव्य में आकार दिया है जिसमें वह पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन करते हुये अपने लिये भी पथ प्रशस्त करने की सामर्थ्य से युक्त है –

सीतानाथ आचार्य की 'का त्वं शुभे' में स्त्री की बहुरंगी भावभंगिमाएँ बिखरी हुई हैं। अर्द्धनारीश्वर रूप में शिव की आराधना करके आचार्य स्त्री को एक शक्ति के रूप में देखते हैं जो कहीं शारदा के रूप में उन्हें वाणी और काव्य सर्जन की दिशा देती है तो कहीं कालिदास के विद्वान होने में उनकी पत्नी विद्योतमा के योगदान को इंगित करती है –

मूर्खो महान यः प्रिययातिभर्त्सितो निर्वेदमाप्तः स्वगृहाद् विनिर्गतः
स कालिदासोऽपि तव प्रसादतः कवित्वकीर्तिं परमां समागतः

(का त्वं शुभे, पृष्ठ–1/8)

सीतानाथ आचार्य ने अपनी इस कृति में स्त्री को शारीरिक एवं मानसिक रूप से परिपक्व एवं सौन्दर्य सम्पन्न बताया है।

परन्तु स्पष्ट रूप में नारी स्वतन्त्रता का उद्घोष रवीन्द्र कुमार पण्डा की 'शतदलम्' में दृष्टिगोचर होता है। डॉ0 पण्डा स्त्री भावभूमि के कुशल चितेरे हैं। वे पत्नी और माता दोनों के सम्मान की रक्षा करना जानते हैं –**जाया स्वतन्त्रा, जननी स्वतन्त्रा**

पुत्रः स्वतन्त्रस्तनया स्वतन्त्रा
कालः स्वतन्त्रः कलिका स्वतन्त्रा
स्वतन्त्र देशस्य कला स्वतन्त्रा।

(शतदलम्–18/4)

परन्तु कवि का मन समाज में इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग देखकर क्लान्त हो जाता है। क्योंकि नारी अपने शारीरिक सौन्दर्य के लिये शिशु से स्तनपान का बालसुख भी छीन रही है और इसके साथ ही पुत्र प्राप्ति की कामना उसे कन्या भ्रूण हत्या की ओर प्रेरित कर रही है –

स्त्रियों के प्रति हर्षदेव माधव का हृदय कुछ अधिक ही भावुक है वह व्याधवधु में भी हरिणी जैसे विवशता देखते हैं जो व्याध द्वारा न जाने कितनी बार मानसिक वध को भोगती है[1]। वे नारी की सीमाएँ भी जानते हैं उन्हें पता है कि यह कि अबला सदैव ठगी जाती रही है कभी राम के द्वारा त्यागी गयी, कभी नल के द्वारा निर्वासित की गई, कभी दुष्यन्त के द्वारा छली गयी तो कभी हरिश्चन्द्र के द्वारा छोड़ी गई। यद्यपि यहाँ पुरुष के द्वारा की गई प्रताड़ना प्रमुख है परन्तु जिन स्त्री पात्रों का उल्लेख किया गया है वे समर्थ, योग्य, सौन्दर्य सम्पन्न एवं सती नारी हैं। इन्होंने निर्वासन को सहज स्वीकार किया। निरपराधी होने पर दण्ड को स्वीकार करने का साहस भी तो विरले व्यक्तियों में ही होता है। इसमें अप्रत्यक्ष रूप से नारी संघर्ष की शक्ति निहित है। इसी प्रकार समाज में निन्दित वेश्या रूप में जीवन यापन करने वाली मातृ शक्ति भी यद्यपि मानसिक संत्रास तो भोगती है परन्तु स्वयं को नष्ट करके पराजय स्वीकार नहीं करती।

माधव को प्रौढ़ावस्था प्रेम और भी पवित्र प्रतीत होता है। वहाँ सघर्ष एवं स्वतन्त्रता का कोई हठ नहीं है, जीवन के इस मोड़ पर पत्नी तुलसी का पवित्र पौधा और शयनकक्ष तुलसी पात्र बन जाता है[2]।

बनमाली बिश्वाल नारी सौन्दर्य में वीरत्व की अनुभूति करा जाते हैं। वे उसके अंग, प्रत्यंगों को आत्मरक्षा में समर्थ मानते हैं। क्योंकि नेत्र तिरछी चितवन वाले हैं, वेणी सर्पिणी जैसी हैं, और कटाक्ष ही धनुष बाण हैं निश्चित रूप से उद्धत युवा इन हाव भाव से मारे जायेंगे –

1. ऋषे क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ–65
2. पुरायत्र स्रोतः, पृष्ठ–58

स्वयं समर्थाप्रिये। त्वं कर्तुमात्मरक्षां
शाणितखड्गवन्मन्ये त्वद्दीर्घां नासिकाम्
कटाक्षोऽपि धनुर्बाण आकर्णलम्बितः
आहतो भवति युवा यावानस्तूद्धतः

(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–120)

इस प्रकार बिश्वाल ने स्त्रियोचित सौन्दर्य को उसकी शक्ति और वीरता में समाहित करके अत्यन्त अनुपम व्यञ्जनापूर्ण काव्य लहरी अनुस्यूत की है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी स्त्री को देवी के रूप में प्रतिष्ठित करते हुये कवि ने दुष्टों का विनाश करने वाली महिषमर्दिनी बताया है–

अनेके महिषासुराः
नैका किन्तु महिषमर्दिनी
दानवेषु औद्धयातिशय्यम्
देवी किन्तु सामान्या पाषाणी
महिषासुराणामद्य महानत्याचारः
त्राणकत्री न करोति
किञ्चित प्रतीकारम्

(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–133)

अतः नारी भले ही देवी के रूप में चित्रित की गई हो अथवा आद्यशक्ति के रूप में। काव्य की सर्जक एवं भावक दोनों रूपों में वह अर्वाचीन काव्य का प्राणतत्त्व है।

प्रेम की अभिव्यक्ति

कविता में जीवन–मृत्यु, प्रेम–घृणा, द्वेष और ईश्वर भक्ति आदि अनेक विषय आधार स्वरूप सन्निहित होते हैं परन्तु मूल रूप में काव्य प्रेम से परिपोषित होता है। यह प्रेम भौतिक, शारीरिक, वासनाजन्य, अलौकिक, ईश्वरभक्ति स्वरूप अथवा देश के प्रति भी हो सकता है। परन्तु अर्वाचीन साहित्य में इस प्रेम में विविधता दिखाई देती है प्राचीन एवं मध्यकालीन कवियों ने अपनी श्रृंगारिक क्रीड़ाओं, चेष्टाओं तथा कल्पनाओं को अपने इष्ट देवताओं में आरोपित करके काव्य सर्जन किया। वे राधाकृष्ण, पार्वती परमेश्वर आदि का श्रृंगार वर्णन करते–करते कहीं कहीं अश्लीलता तक भी पहुँच गये। अपनी दमित भावनाओं

के विकास का माध्यम तलाशते रहे। परन्तु अर्वाचीन कवि ने अपनी अनुभूतियों को निर्भीकता से व्यक्त किया है।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र अर्वाचीन कविता में विशिष्ट एवं अग्रणी स्थान रखते हैं। उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा ने संस्कृत गीतिकाव्य को सबल मानदण्ड दिये हैं। उनके प्रणयगीत नवलय की डाली पर विकसित हुई आम्रमञ्जरी की सुगन्ध से ओतप्रोत यौवन वसन्त के अनुपम गीत हैं। उनमें शहद का माधुर्य है, हाला की मादकता है और चन्दन की सुगन्ध लिये कदली की मसृणता है। 'मृद्वीका' गीतसंग्रह प्रणयगीतों का पुष्प गुच्छ है। एक गीत की बानगी है –

नहि जगदतिरुचिरं त्वया विना!
जीवितमपि न चिरं त्वया विना!
तव पाणिसरोरुहसंस्पृष्टम्
वपुरिदं भाति सुधयाऽऽविष्टम्
यौवनमपि विधुरं त्वया विना[1]

यहाँ हाथों में कमल का स्पर्श और शरीर में अमृत की अनुभूति तो पहले भी देखी और सुनी गई थी परन्तु उसके बिना यौवन का विधुर हो जाना मन को छू लेता है। प्रेम की पीड़ा एकाकी विधुर की पीड़ा ही तो है अतः प्रणय के सागर में डूबना है तो दर्द का अहसास तो जगाना ही होगा। इस सम्पूर्ण कविता में कवि ने विरह के यक्ष अनुभव को शब्दों में आकार दिया है। उनका यह गीत एक सशक्त आकर्षण लिये हुये है जहाँ 'तुम्हारे विना' शब्द में सूना आँगन, सूर्यविहीन दिन, बधिर गीत और चेतना रहित शरीर यह सिमट जाता है। यदि तुम नहीं तो कुछ नहीं का भाव संजोये विशुद्ध व्यञ्जनात्मक स्वीकृति इस गीत का प्रमाण है। इस प्रकार अभिराज ने प्रेम को पिपासा के साथ संयुक्त करके पीड़ामयी अभिलाषा व्यक्त की है[2]।

जगन्नाथ पाठक उर्दू और फारसी से प्रभावित कवि कहे जाते हैं। अतः उनकी कविताएँ और उनमें निहित प्रेम की अनुभूति बिना प्याले और मधुशाला के अनुभव ही नहीं होती। कापिशायिनी में कवि

1. मृद्वीका, पृष्ठ–12
2. मृद्वीका, पृष्ठ–13

ने वैयक्तिक प्रेम की विश्वव्यापी अनुभूति को काव्य के प्याले से पिया है – **चषका इह जीवने मया परिपीता अपि चूर्णिता अपि**
मदमेष विभर्मि केवलं क्षणपीतस्य मधुस्मितस्य ते[1]

जीवन के अनेक खट्टे–मीठे अनुभवों को केवल प्रिया के मधुर स्मित की याद में बिता देना निस्संदेह प्रेम की पराकाष्ठा है। चषक का पीना और उसे तोड़ देने का क्रम व्यक्ति के जीवन में निरन्तर चलता रहता है परन्तु इस भीड़ में साधना और चिन्तन का विकास यदि एक सौरभ में अटक जाये तो पवित्र प्रेम को दिशा मिल जाती है।

डॉ0 केशवचन्द्र दाश की प्रणयभक्ति में कल्पना, विषाद, विरक्ति और गम्भीर चिन्तन की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। उनके प्रेम में सतही उछाल नहीं अपितु सागर का गाम्भीर्य है। उनकी प्रिया केवल सावन की घटा जैसा क्षणिक आवेग पैदा नहीं करती अपितु जीवन भर का साथ निभाने के लिये अपना समर्पण करती है। उसमें प्रतीक्षा का आनन्द है, अनुभूति की तरलता है और प्रेम के प्रति सच्चा विश्वास भी। कभी रात्रि में विहार करते हुये प्रेम का निःश्वास 'निशीथनिश्वासः[2]' में मुखरित होता है तो कभी आकाश से उतरती हुई मेघमाला की संकेतलिपि इस प्रेम के पुजारी को आकृष्ट कर लेती है[3]।

संस्कृत में प्रेमगीतों की वल्लरी को आश्रय देने वाले डॉ0 हरिदत्त शर्मा के गीतों में प्रेम की मादकता है। उनकी गीत कन्दलिका हो, उत्कलिका अथवा लसत्लतिका हो सभी प्रेम की पीड़ा को जानती हैं। वे मानते हैं कि प्रेम किया नहीं जाता हो जाता है, अतः उनका यह प्रश्न केवल नायिका के लिये नहीं है अपितु सभी सहृदयी रसिकों के लिये है जिसमें जड़ मन में अनायास आयी हुई प्रिया के आगमन पर हतप्रभ होने का संकेत है –

हिमभूतं मम मनो नु जड़ताग्रस्तं सुप्तम्
अयि वसन्तललने ललिते! आगता कुतस्त्वम्

1. संस्कृत वाड्मय का बृहत इतिहास–333
2. अन्धस्रोतः, पृष्ठ–24
3. अन्धस्रोतः, पृष्ठ–70

निस्पन्दं नीरवं सदासीन्मम प्राङ्गणं
अयि प्रावृड्घनमाले! विस्तारिता कुतस्त्वम्[1]।

वास्तव में प्रेम की रसमय अनुभूति में आकण्ठ डूबकर व्यक्ति स्वयं को विस्मृत कर बैठता है। स्पन्दनहीन जीवन भी सरस और रोमाञ्चित हो उठता है। ऐसे में बिना प्रेम के काव्य की कल्पना कैसे की जा सकती है। वैसे तो साहित्य का उद्देश्य सामाजिक निष्ठा को बनाये रखना है अतः जिस प्रकार की मनोवृत्तियाँ समाज में विकसित होती हैं उनका काव्य में प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है। अतः प्रेम के समर्पण और उसकी अभिव्यक्ति के प्रश्न पर भी संस्कृत साहित्य मौन नहीं है। नये कवि ने सहज वास्तविकताओं की अवहेलना न करते हुये अपने जीवनदर्शन को भिन्न–भिन्न रूपों में व्यक्त किया है। कवि प्रेम को जीवन की श्वांस मानता है। परन्तु उसके प्रेम में केवल दीवानगी नहीं है अपितु संघर्षों की ऊष्मा भी निहित है। उसके समक्ष एक ओर सामाजिक नैतिक बन्धन है तो दूसरी ओर भोग की अदम्य लालसा है उसके लिये भोगयुक्त प्रेम भी त्याज्य नहीं है। परन्तु कम्प्यूटर युग में प्रिय के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति के साधन भी परिवर्तित हो गये हैं अब प्रेमी युगल मेघ भ्रमर पतंगा अथवा कबूतर से प्रेम सन्देश प्राप्त करने के अभिलाषी नहीं हैं उन्हें तो ई–मेल सन्देश से उत्तर–प्रत्युत्तर की धारा चाहिये। जैसा बनमाली बिश्वाल के वेलेण्टाइन सन्देश में प्रिया के ई–मेल सन्देश की प्रतीक्षा है –

वेलेण्टाइनदिवसेऽद्य/कर्तुमीहे संगणकयन्त्रस्योपयोगम्/
परमहं विवशोऽस्मि/अन्तर्जाल(Internet) मध्ये
अन्विष्यामि न प्राप्नोमि/प्रिये! तव 'ई मेल'–संङ्केतम्[2]।

इसके अतिरिक्त प्रेम केवल पीड़ा सहने के लिये नहीं है अपितु आज का कवि प्रत्येक क्षेत्र में समाधान चाहता है, उपलब्धि चाहता है। अतः उसका प्रेम भी इस कसौटी पर फलता फूलता है। प्रेम को हृदय में छिपाकर पूरे जीवन को न्यौछावर करना आज के मायने नहीं हैं इसमें भी मन और तन दोनों का मिलन चाहिये।

1. कविद्वादशी, पृष्ठ–53
2. वेलेण्टाइन डे–सन्देश, पृष्ठ–24/44

बनमाली बिश्वाल बहुत ही प्रयोगशील आधुनिक कवि हैं अतः प्रिया को प्रेम के अक्षर पढ़ने की स्थिति देना चाहते हैं –

प्रीतिनन्दनकानने
अन्विष्यामि प्रेम–बिन्दुस्थानम्
वेलेण्टाइन–दिने यत्र त्वदङ्के. स्वपित्वा
करिष्येऽहमऽधरस्योस्तव मधुपानम्[1]।

प्रेम के घने वन में, प्रेम बिन्दु (Love Point) ढूंढ़ना भी तो आवश्यक है तब ही तो हृदय में छिपा प्रेम अभिव्यक्ति का द्वार ढूंढ़ पायेगा। अतः अर्वाचीन प्रेम की प्रस्तुति नितान्त युगानुरूप है जिसमें प्रतीकों का परिवर्तन युग की ही देन है।

डॉ0 राजेन्द्र नानावटी मरीचिका के कवि हैं। मरीचिका प्रणय का शोक काव्य है। कवि ने कल्पना प्रतीक परिकल्पनाओं की भावभूमि पर इसका सृजन किया है। इसमें प्रणय का आवेग, निराशा, उत्सुकता, उल्लास, निवेदन, स्पृहा सब कुछ शामिल है।

भास्कराचार्य त्रिपाठी घने निकुञ्जों में छलने की शिक्षा देने वाली कामिनी के केशपाश में उलझ कर उसके प्रेम की भंगिमाओं को व्यक्त करते हैं। स्त्री का वह मादक सौन्दर्य जब एकान्त में नवीन वेश से सुसज्जित होता है तो प्रेम की परिभाषा बदल जाती है। माथे की बिन्दिया चन्द्रमा का विलास बनकर प्रेम में आबद्ध कर लेती है[2]।

हर्षदेव माधव का प्रेम ओस की बूँद जैसा, छुई मुई की लज्जा जैसा, इन्द्रधनुष के रंगों जैसा और प्रथम दृष्टि में मतवाला करने वाला नहीं है। वह अपनी प्रेयसी के प्रत्येक पल के साक्षी होने के बाद ही अपने प्रेम का अभियोग प्रस्तुत करते हैं। वह प्रेम ऐसे आलंकारिक उपादानों और विशेषणों के साथ अवतरित होता है कि पाठक किंकर्तव्यविमूढ़ होकर सोचता है 'कि अरे' क्या ऐसा भी होता है –

डब्ल्यू. एच. ओडेन इत्याख्य आंग्लकविः कथयति यत
प्रणय इव वयं आक्रन्दं कुर्मो वारं वारम्

1. वेलेण्टाइन डे–सन्देश, पृष्ठ–12/8
2. कविद्वादशी, पृष्ठ–29

तत्तु सत्यमेव
किन्तु मया प्रणयस्य पर्यायो लब्धः
'क्रन्दनं'। केवलं क्रन्दनम्[1]

जो कवि क्रन्दन में भी प्रणय ढूंढ़ लेता है वह लौकिक प्रेम की वञ्चना से बहुत दूर है। उसके प्रेम की मापिका बनी ही नहीं। वह अलकनन्दा के प्रति अपने प्रणयावेग को सम्बद्ध कर देता है जो अनवरत है, चिरस्थाई है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि –

अलकनन्दे!
'इन्सेट बी' उपग्रहोऽपि
मम प्रणयावेगस्य छविं ग्रहीतुम्
न शक्नुयात्[2]

सत्य ही है जो किसी भी भौतिक उपकरणों से समेट लिया जाये वह माधव का प्रेम कैसे हो सकता है? अलकनन्दा को प्रेयसी मानकर हर्षदेव ने अपने हृदय के समस्त विकारों को प्रवाहित कर दिया है। कहीं उन्होंने उसके स्वर में कोयल के कुहुकार की ध्वनि को सुना है तो कहीं उसके दर्शन में आत्म साक्षात्कार की अनुभूति की है[3]। उनकी वह कल्पना प्रसूता प्रेयसी देश की सीमाओं से परे विदेश में भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराती है[4]। परन्तु अपने इस प्रणय के अध्याय को पूर्ण करती हुई माधव की यह कविता उनके सम्पूर्ण विचारों एवं अभिव्यक्ति पर विराम लगा देती है –

प्रणयः कम्बलसदृशोऽस्ति/दुःखशैत्ये जीवितं रक्षितुम्/
प्रणयः वासयष्टिसदृशोऽस्ति/हृत पारावतकस्य क्लमपनेतुम्/
प्रणयः वातायनसदृशोऽस्ति/आकाशस्य वृष्टिं मनसि हयनुभवितुं च गगनस्य विशालत्वं प्राप्तु चप्रणयः वीणागुणसदृशोऽस्ति/जीवित–विविक्तं सोल्लासं पूरयितुम्।

(निष्क्रान्ताः सर्वे, पृष्ठ–126)

1. निष्क्रान्ताः सर्वे, पृष्ठ–117
2. निष्क्रान्ताः सर्वे, पृष्ठ–115
3. निष्क्रान्ताः सर्वे, पृष्ठ–121,122
4. निष्क्रान्ताः सर्वे, पृष्ठ–123

इस प्रकार हर्षदेव माधव ने अपने प्रेम को विरह की उष्ण श्वांसों से मलिन नहीं किया है उसमें संयोग वियोग दोनों हैं परन्तु उनके पुराकल्पन प्रतीक बिम्ब उसे एक नया आकाश देते हैं। विश्व के क्षितिज पर उन्हीं के उपमानों से अपने प्रेम का शृंगार करने वाले इस प्रणयी कवि का प्रणय चिन्तन भी बेजोड़ है[1]। उनका विचार है कि प्राचीन कवि का प्रेम भीरू था अतः अपने प्रेम की अभिव्यक्ति की बात पर या तो मौन हो जाता था अथवा अन्योक्ति में लपेट कर प्रस्तुत करता था। परन्तु आज के कवि में प्रेम करने का साहस है और उसे शब्द देने का कौशल भी।

प्रेम को अपनी शब्द गंगा में स्नान कराने में कुशल जनार्दन प्रसाद पाण्डे 'मणि' ने अपनी कविताओं में प्रेम का संसार रचा है। उनके संग्रह 'निस्यन्दिनी' एवं 'रागिणी' दोनों में ही प्रेमिल अनुभूतियों के अनेकों चित्र हैं। वो कभी तो प्रिया के असफल अधरामृत में अपनी विकलता कहते हैं[2] तो कभी उनकी विरह वेदना 'व्यथा वल्लरी' बन जाती है[3]। वे प्रेम के विषय में सशंकित हैं अतः स्पष्ट रूप से उसकी स्वीकारोक्ति में मुखर नहीं हुए हैं। पलकों से गिरते हुये अश्रुजाल से आबद्ध होकर प्रेम करना हृदय की गहनता को नहीं अपितु विवशता को व्यक्त करता है –

त्वदीयं प्रेम नो जाने प्रिये! कीदृग्विधं जातं
प्रचञ्चत्पक्ष्मणां मुक्ताऽश्रुजालेऽहं निबद्धोऽस्मि।

(रागिणी, पृष्ठ–33)

कविता यदि वियोग से ही जन्म लेती है तो 'मणि' की कविताएँ स्वतः जन्मा हैं क्योंकि उनमें प्रिया की वञ्चना है, विरह की पारदर्शिता है –

वञ्चितोऽहं त्वया वञ्चितोऽहं प्रिये
धन्यवादास्तथाऽपि प्रकृष्ट क्रिये.........
हा हतोऽहं त्वया हा हतः प्रीतये

1. निष्क्रान्ताः सर्वे, पृष्ठ–115
2. निस्यन्दिनी, पृष्ठ–07
3. निस्यन्दिनी, पृष्ठ–03

वञ्चितोऽहं त्वया वञ्चितोऽहं प्रिये।

(पृष्ठ–40)

वस्तुतः कवि की अधिकांश रचनाएँ उनके असफल प्रेम का प्रतिफलन हैं –

त्वत्प्रीतिपर्यङ्के मुदा मम जीवितं रमते न किम्
हा त्वया वञ्चेऽहं सदा मयि ते मनो लषते न किम्

(पृष्ठ–10)

निष्कर्षतः अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के गीतों में प्रणय की पिपासा और प्राप्ति की छटपटाहट है। प्रेम की उत्कण्ठामयी अभिलाषा और समर्पण का आवेश है।

प्रेम की अभिव्यक्ति प्रत्येक कवि की अपनी भावाव्यक्ति है। यद्यपि प्रायः प्रत्येक कवि ने अपनी कविता का कोई न कोई अंश प्रेम की डोर से बाँधा अवश्य है परन्तु इसकी भागीरथी में तो विरला ही उतर कर पार हुआ है। अतः संस्कृत साहित्य में प्रेम के इन्द्रधनुषी रंग यत्र–तत्र बिखरे हुये हैं।

स्तुति विषयक काव्य योजना

वैदिक काल से ही संस्कृत साहित्य में स्तुति विषयक काव्य की एक सुदीर्घ परम्परा है। सम्पूर्ण ऋग्वेद देवस्तुतियों का संग्रह मात्र है। स्तवन की इस प्रक्रिया में स्तोता स्तुत्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित होता है। स्तवन की यह परम्परा सर्वप्रथम देवताओं और मनुष्यों के बीच प्रारम्भ हुई। परन्तु बाद में देवस्तुति के साथ–साथ राजाओं की प्रशस्ति को भी स्थान दिया जाने लगा। इस प्रकार के काव्यों का सृजन राजा को प्रसन्न करके प्रभूत धनोपार्जन करना था। परन्तु शनैः शनैः राजसी व्यवस्था के क्षीण होने पर काव्य में राज स्तुति की परम्परा को तो विराम लग गया परन्तु देव स्तुति का परिपालन आज भी प्रायः कवियों की वाणी कर रही है। हाँ राजस्तुति का एक भिन्न रूप काव्य में स्थान बना रहा है जिसमें समर्थ व्यक्ति विशेष के गुणों को वर्णित किया जाता है। विभिन्न आलंकारिक प्रयोगों द्वारा उसे देवत्व चमत्कार से युक्त असाधारण पुरुष बनाया जाता है।

सामान्य मान्याताएँ जिन मूल्यों की पक्षधर हैं काव्य उनसे विलग कैसे हो सकता है? प्रायः अर्वाचीन संस्कृत साधक अपने काव्य संकलन में एक वर्ग विशेष की संरचना कर रहे हैं और इस विशिष्ट खण्ड को स्तुति खण्ड के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। इसके भी कई उपभाग हो सकते हैं जैसे राजनीतिक, सामाजिक , धार्मिक एवं वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के व्यक्तियों के गुणों का प्रतिफलन। अतः यह तो निश्चित है कि वर्णनीय नायक अपने क्षेत्र का विशिष्ट एवं सुपरिचित व्यक्तित्व होता है और उसको काव्य द्वारा महिमा मण्डित करके उसके चरित्र का विस्तार किया जाता है। कुछ कवि इस वर्णन में अपह्नुति एवं अतिश्योक्ति अलंकारों का प्रयोग करते हुये उसे मानव से अतिमानव बनाने का हठप्रयोग भी करते दिखाई देते हैं जो साहित्य की शुद्धता एवं निष्पक्षता के लिये घातक बिन्दु है।

आधुनिक कवि का अवचेतन युगीन राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विषमताओं से आक्रान्त है। अन्योन्याश्रित होने के कारण व्यक्ति को समाज की मान्यताओं के अनुरूप ही जीवन निर्वाह करना पड़ता है। इन मान्यताओं की व्यक्तित्व निर्माण में अहम् भूमिका होती है। समाज की वर्जनाओं से प्रभावित होकर व्यक्ति अपने भावों का दमन करता है। इसी के चारों ओर घूमता काव्य तदगत संवेदनाओं का वाहक बन जाता है। आज का व्यक्ति अनिश्चय के हाहाकार के बीच जीवित है। वह अपने इच्छित अभीष्ट को प्राप्त करने के लिये दृढ़संकल्पित है भले ही इसके लिये कितनी आस्थाओं का गला क्यों न घोंटना पड़े। फलतः ऐसे में जो काव्य समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। उसमें अधिकांशतः स्तुति विषयक काव्य की भावभंगिमाएँ हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व जो भी संस्कृत साहित्य लिखा गया उसमें प्रायः देशभक्ति की भावना विद्यमान थी। भारत माता को अंग्रेजों से मुक्त कराने के लिये कवियों ने ओजस्विता के साथ अपने देश प्रेम को व्यक्त किया। इसमें व्यक्तिगत दम्भ अथवा व्यक्ति पूजा का कोई

स्थान नहीं था। परन्तु शनैः शनैः संस्कृत कवि की सामाजिक चेतना प्रखर होने लगी। संस्कृत कविता ने विश्व के समक्ष परिवर्तनशीलता में दस्तक दी। रेवाप्रसाद द्विवेदी ने 'शकटार काव्यम्' में शकटार और मंडेला दोनों का वर्णन किया है। इस वर्णनक्रम का उद्देश्य जिजीविषा और युद्ध की लिप्सा का चित्रण करना है[1]।

कविता समाज की प्रत्येक घटना से सद्य निःसृत होती है जैसे–इन्दिरागाँधी की हत्या, राजीव गाँधी की अकाल मृत्यु, भूकम्प, विमान अपहरण, अकाल, बाढ़, बम विस्फोट आदि घटनाओं ने सामयिक काव्य को प्रभावित किया। उस समय जो भी कविताएँ लिखी गईं उनमें सम्बन्धित घटना की भयावहता, आवेग और प्रतिआक्रोश अभिव्यञ्जित हुआ। अमीरचन्द शास्त्री ने 'श्रीगान्धिगरिमा' में महात्मा गाँधी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है। निस्संदेह इस प्रकार के काव्य व्यक्ति विशेष से प्रभावित होने की प्रक्रिया से निःसृत होते हैं। इसमें सम्बद्ध व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निदर्शन होता है।

स्तुतिपरक काव्य की योजना दो रूपों में दिखाई देती है। प्रथमतः देवस्तुति, द्वितीय मानव स्तुति। देवस्तुति में कवि अपने इष्ट के वर्णन में स्वयं को विस्मृत कर देता है। इस प्रकार का स्त्रोत लेखन संस्कृत काव्य में परम्परागत रूप से प्राप्त होता है। अर्वाचीन कवियों ने किसी भी स्थान विशेष पर प्रतिष्ठित देवताओं को, तीर्थ स्थानों को विस्तार से वर्णित किया है। कुछ कवियों ने केवल एक देव को लक्ष्य करके काव्य लिखा है जैसे बनमाली बिश्वाल का दारूब्रह्म, जगन्नाथ जी की स्तुति के लिये लिखा गया काव्य है और कुछ काव्यों में अनेकानेक देवी देवताओं को लक्ष्य करके स्तुति काव्य लिखे गये हैं। जैसे इसमें अभिराज मिश्र का 'पराम्बाशतकम्' तथा 'श्रीयुगलशतकम्' नलिनी शुक्ला कृत भावाञ्जलि और श्रीभाष्यमविजय सारथि कृत 'मन्दाकिनी' आदि अनेक काव्य हैं। सरस्वती को लक्ष्य करके प्रायः समस्त कवियों ने स्तुतिपरक स्फुट रचनाएँ की हैं।

व्यक्ति विशेष की स्तुति भी संस्कृत के अर्वाचीन काव्य में

1. दूर्वा–19 वां अंक, पृष्ठ 45–60

अधिकांशतः उपलब्ध हैं। जब–जब संस्कृत के आधुनिक होने की चर्चा की जाती है तब–तब उसे राष्ट्रनायकों और विशिष्ट व्यक्तियों के वर्णन से जोड़ा जाता है। महात्मा गाँधी, इन्दिरा गाँधी, राजीव गाँधी, नेहरू मदनमोहन मालवीय, वी. वी. गिरि, सत्यनारायण रेड्डी, अटलबिहारी बाजपेयी, मुरली मनोहर जोशी आदि अनेक नेताओं की राजस्तुति करते हुये कवि ने स्तुति साहित्य को और समृद्ध किया है।
महात्मा गाँधी के लिये –

सत्याऽहिंसासहयोगत्रितयेन पदन्यासेन
मितवान्निखिलभूतलं गान्धी केवलआत्मबलेन

(कस्मैदेवाय हविषाविधेम–190/7)

वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी ने इन्दिरा चरितम्, राजीव चरितम् आदि लिखकर स्त्रोत परम्परा को स्वीकार किया है इन काव्यों में इन व्यक्तित्वों का जीवनचरित्र एवं कृतित्व का वर्णन किया गया है।

के. एल. व्यासराज शास्त्री ने महात्मा गाँधी के प्रभाव और महत्व को इस प्रकार वर्णित किया है 'महात्माविजय' नामक काव्य में 108 श्लोक हैं –

महात्मागान्धिर्महितापदानं
क्षितौ समन्तात प्रथिताभिथानः
मनोवचः कर्मभिरेकरुपो
महात्मनामप्यभवन्महात्मा

यदि स्त्रोतकाव्य का अवलोकन किया जाये तो सर्वाधिक रूप में महात्मा गाँधी के विषय में काव्य लिखा गया। वे समकालीन नेताओं में अग्रगण्य त्यागमय जीवन के कारण कवियों में अधिकाधिक लोकप्रिय हुये। कवि सीतानाथ आचार्य ने कवीन्द्र रवीन्द्र की स्तुति की। 'भावविलसितम्' में वाणीवन्दना के उपरान्त श्रीऊँकारनाथ वंदना एवं ठाकुर अनुकूलचन्द की वन्दना की गई है शरदप्रशस्ति और रवीन्द्र प्रशस्ति में शरदचन्द्र और कवीन्द्र रवीन्द्र के विषय में न केवल जीवन चरित्र का वर्णन किया गया है अपितु उन्हें विश्व की धरोहर स्वीकार किया है –

अये शरच्चन्द्र कवीन्द्रचन्द्र ते रवि प्रमोद् भासित काव्य पुष्करे
विलोक्य दीप्तिं सुतरां समुज्ज्वलां सविस्मया बंगनिवासिनो

लालबहादुर शास्त्री की हरित क्रान्ति को वे देश की प्रगति का आधार मानते हैं ऐसे महापुरुष के महाप्रयाण पर उनका ह्रदय हाहाकार कर उठता है –

महाप्रयाणेन् भवादृशस्य पूतात्मनो नायककुञ्जरस्य
या नः क्षतिर्देशगता भवत् सा पूर्येत किं हा वद जातु तावत्।

सीतानाथ आचार्य बंगाल के महापुरुषों के जीवनचरित और उनके दर्शन से इतने प्रभावित हैं कि वह उन्हें देवत्व के आलोक में देखते हैं। रवीन्द्र प्रशस्ति में रवीन्द्रनाथ टैगोर की स्तुति है। टैगोर न केवल एक श्रेष्ठ शिक्षक थे अपितु अद्भुत चिन्तक, दार्शनिक और वेदज्ञ भी थे। वस्तुतः आचार्य सीतानाथ जी ने स्त्रोत साहित्य का सृजन यद्यपि स्वतन्त्र विधा अथवा खण्ड काव्य के रूप में तो नहीं किया है परन्तु उनकी स्फुट रचनाएँ स्तुतिपरक साहित्य को समृद्ध अवश्य करती हैं।

रमाकान्त शुक्ल 'भारत भारती' के अमर गायक हैं। उनकी कविताओं में सकारात्मक ऊर्जा विद्यमान है जहाँ एक ओर वह 'ब्रूहि जगन्नाथस्वामिन्' रचना के द्वारा जगन्नाथ जी की स्तुति करते हैं अपनी अन्य रचनाओं द्वारा भारतमाता की वंदना करते हैं वहीं 'नमः शास्त्राणि वीर धुर्याय तस्मै', नेहरूं तं स्मरामो वयं सादरम्', तं सुभाषं स्मरामो वयं सादरम्' के द्वारा लालबहादुर शास्त्री, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस को भी श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं। यथा –

सदा सञ्चितं येन वृत्तं न वित्तम्
सदा स्वीकृतं चार्जवं नैव दैन्यम्
प्रियं यस्य कार्यं न चैव प्रभुत्वम्
नमः शास्त्रिणे वीरधुर्याय तस्मै

(सर्वशुक्ला, पृष्ठ–167)

येन विश्वस्य मञ्चे समुदघोषितो
विश्वबन्धुत्वमन्त्रो जगत्पावनः
शान्तिदूतश्च लोके सदा यो मतो
नेहरूं तं स्मरामो वयं सादरम् (सर्वशुक्ला, पृष्ठ–206)

आर. सी. एस. साफल्यमाप्त्वाप्यहो
शासनासन्दिकानादरं योऽकरोत्
मातृभूम्यर्चनं यस्य पुण्यव्रतं
तं सुभाषं स्मरामो वयं सादरम् (सर्वशुक्ला, पृष्ठ–245)

इस प्रकार की स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त पद्मशास्त्री का 'लेनिनामृतम्' भी इस क्षेत्र में एक सफल काव्य कहा जा सकता है। जिसमें 'लेनिन' को समाजदृष्टा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त रमेशचन्द्र शुक्ल कृत श्री नेहरू वृत्तम् एवं लालबहादुरशास्त्रिचरितम्, रामाशीषपाण्डेय वृत्त इन्दिराशतकम्, विष्णुकान्त झा कृत राष्ट्रपति राजेन्द्रवंशप्रशस्ति और श्रीकृष्ण सेमवाल द्वारा रचित 'इन्दिराकीर्तिशतकम्' आदि भी उल्लेखनीय है। अतः लघु काव्य विधा में लिखे गये स्तुतिपरक अनेक ग्रन्थों का प्रणयन आधुनिक काव्य की ऊर्मियों को विकसित करता है। सम्पूर्णता की दृष्टि से –

अभिराज राजेन्द्र मिश्र का 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' प्रशस्ति काव्य परम्परा का एक नवीन उन्मेष है। इस ग्रन्थ में कुल छः शीर्षक हैं– देवस्तुतिः, महात्मस्तुतिः, विद्वत्सुतिः, राजस्तुतिः, सत्पुरुष स्तुतिः तथा प्रकीर्णस्तुतिः। देवस्तुति में मीनाक्षी एवं ज्वाला देवी, कर शूल नाथ, तिरुचिरापल्ली, गंगा कावेरी, जम्बुकेश्वर आदि का वर्णन किया गया है।

महात्मस्तुति में कालिदास, भवभूति, धारानरेश भोज, गुरु गोविन्द सिंह, स्वामी शुकदेवानन्द, योगिराज अरविन्द, परमाचार्य चन्द्रशेखर सरस्वती एवं शंकराचार्य जयेन्द्रसरस्वती आदि की प्रशस्तियाँ वर्णित हैं।

विद्वस्तुति खण्ड कुछ विशिष्ट विद्वानों के सम्मान में की गई समर्चना है। इसमें प्रो0 शार्पे (बेल्जियम), आचार्य आद्याप्रसाद मिश्र, पं0 वासुदेव द्विवेदी, पं0 बल्देव उपाध्याय, महादेवी वर्मा, डॉ0 भोला शंकर व्यास, डॉ0 रामकरण शर्मा, पं0 लक्ष्मीकान्त दीक्षित, डॉ0 चण्डिका प्रसाद शुक्ल, डॉ0 विद्यानिवास मिश्र, डॉ0 सत्यव्रत शास्त्री, डॉ0 रेवाप्रसाद द्विवेदी, पं0 शशिधर शर्मा, आचार्य केशवदेव, श्रीमती कमलारत्नम् एवं प्रो0 श्रीनिवास रथ आदि की यशोगाथा है।

राजस्तुति खण्ड में राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्ट राजपुरुषों का जीवनचरित वर्णित है। कवि अभिराज ने कतिपय श्रेष्ठ राजनैतिक विभूतियों को इस प्रशस्ति के अभिनन्दन ग्रन्थ स्वयं समर्पित किये थे। अतः कवि के कृतित्व में उनकी प्रेरणा, उनका व्यक्तित्व और उनकी प्रज्ञामयी चेतना समाहित है। इस खण्ड में गाँधी, नेहरू, मालवीयजी, राजेन्द्र बाबू, पुरुषोत्तमदास टण्डन, सुभाषचन्द्र बोस, लोहिया जी, गणेश शंकर विद्यार्थी, आचार्य नरेन्द्रदेव, बाबू सम्पूर्णानन्द, पं0 कमलापति त्रिपाठी, वी. वी. गिरि, श्रीमती इन्दिरा गाँधी, पेरालारत्नम्, सत्यनारायण रेड्डी के अतिरिक्त इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति महामहिम सुहार्तो और नेल्सन मण्डेला के वैयक्तिक गुणों को अभिव्यञ्जित किया है। सम्भवतः अपने इण्डोनेशिया प्रवास में कवि ने उनको करीब से समझा, उनकी कार्यकुशलता को व्यवस्था के बीच में परखा अतः इन वर्णनों में उनका अनुभूतिजन्य ज्ञान दिखाई देता है।

सत्पुरुषस्तुति खण्ड में पं0 हरिश्चन्द्रपति त्रिपाठी, दामोदर स्वरूप विद्रोही, दानबहादुर सिंह सूंड(फ़ैज़ाबादी), विजयदेव नारायण शाही, विषयक स्तुतियाँ संग्रहीत हैं।

प्रकीर्णखण्ड में विभिन्न प्रकार की स्तुति है। इन्हें स्तुतियाँ न कहकर शुभकामनाएँ कह सकते हैं। कवि मिश्र ने अपने मित्रों एवं शुभचिन्तकों को जो श्लोकबद्ध शुभकामनाएँ समय–समय पर भेजी थीं यह खण्ड उसका संकलन मात्र कहा जा सकता है।

अभिराज राजेन्द्र द्वारा लिखा गया यह प्रशस्ति परक ग्रन्थ अपने अनेकों आयामों से गुजरता हुआ अपने समापन तक पहुँचा है। इसमें लिखी गई रचनाएं लगभग तीन चार दशकों के समयान्तराल को व्यक्त करती हैं। अपने विद्यार्थी जीवन में महात्मा गाँधी और मालवीय जी को श्रद्धाशब्द अर्पित करने वाले इन मनीषी ने जीवन के छोटे–छोटे अंशों को इसमें अनुस्यूत किया है। अभी न जाने कितने बिखरे मोती हैं जो एक सूत्र के लिये प्रतीक्षित होंगे। इन प्रशस्तियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पुराने प्रशंसापरक विशेषणों का प्रयोग नहीं किया गया है अपितु विशिष्ट व्यक्ति को रूपायित करने के लिये तत्सम्बन्धी उपमानों और विशेषणों की ही संकल्पना की गई है।

अतः यह ग्रन्थ केवल नाराशंसी मन्त्रों की भाँति प्रशस्ति काव्य की परम्परा का अनुसर्जक नहीं है इसमें कलेवर की दृष्टि से जो आस्वादमय सन्तोष है वह नितान्त अविकल है। यहाँ पर समस्त प्रशस्तियों के उदाहरण देना न तो समीचीन है और न ही आवश्यक। अतः 'तण्डुलन्याय' से 'इन्दिराभिनन्दनम्' स्तुति का एक छन्द यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें इन्दिरा गाँधी के सम्पूर्ण जीवन की कथा और व्यथा सिमट आई है –

गतवति दिवि नाथे विद्धुरीणे फिरोजे
कथमपि हृदि शोकं भूरिवेगं नियम्य
पुनरपि पितृशोकं वैरिणां दुर्विरोधं
प्रियतनयवियोगं भालयन्ती स्थितासि।

(कस्मैदेवाय.....213 / 4)

वस्तुतः वैदिक युग की वह नाराशंसी ऋचाएँ समय के साथ प्रशस्ति काव्य अथवा स्तुति विषयक काव्य में परिणित हो गई। प्रायः अधिकांश कवियों ने अपनी सम्पूर्ण काव्य यात्रा के प्रसंग में कहीं न कहीं पर इसका आश्रय अवश्य लिया है। यह बात अलग है कि कहीं किसी स्थान पर की गई स्तुति में चाटुकरिता अधिक और काव्य कम दिखाई देता है परन्तु किसी प्रशस्ति काव्य में काव्य की आत्मा के साथ–साथ स्तुत्य व्यक्तित्व की यथार्थ छवि प्रस्फुटित होती है। अतः आधुनिक काव्य के व्यक्तित्व विश्लेषण की एक अखण्ड धारा प्रशस्ति काव्य के रूप में अद्यतन प्रवहमान है।2

षष्ठम अध्याय

भाषागत परिवर्तन

साहित्य और साहित्यकार दोनों की सातत्यदृष्टि समाज की संगति और विसंगतियों पर केन्द्रित होती है। साहित्य सर्जक युग के क्षणभंगुर क्षणों को अपने साहित्य सृजन के माध्यम से कालजयी बनाता है। विश्व की समस्त भाषाओं की अपनी परम्पराएँ हैं परन्तु संस्कृत जैसी सुदीर्घ परम्परा किसी भाषा की नहीं है। यह परम्परा एवं संस्कृत भाषा के साथ अन्य भाषाओं का जुड़ना इसके आधुनिक और सामयिक होने की निशानी है।

अर्वाचीन कवि के लिये सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि उसकी भाषा और अभिव्यक्ति पुरा बोध से जुड़ी रहे। जब तक भाषा में परिवर्तन जुड़ा रहता है तब तक वह गतिशील रहती है। क्योंकि भाषा को भाव की पूर्णरूपेण अनुवर्तिनी होनी चाहिए। वह न तो इतनी बोझिल हो कि पत्थर बनकर कविता के गले में लटक जाये और न ही इतनी सपाट हो कि रेशम का जाल बनकर उसके पाँव में उलझ जाए। यह तब ही सम्भव है जब आज के कवि की प्रवृत्ति जनभाषा और साहित्यिक भाषा के गठबन्धन पर उदार रूप से रहेगी। यही कारण है कि अर्वाचीन संस्कृत कवियों ने संस्कृत भाषा में अभिनव शब्दों का प्रयोग करके भाषा को समृद्ध किया है। यथा लोककण्टकः, लोकसेवा, आतङ्क.वादः, स्तनांशुकम्, वक्षीयवस्त्रम्, सूचिक्षेपः आदि। डॉ0 हिन्दकेसरी ने नये शब्दों के समावेश के विषय निम्नलिखित हेतु बताये हैं –

1. तदर्थवादी शब्द का अभाव
2. तदर्थवाचक शब्द का अज्ञान
3. अधिक परिचय होने से अन्य भाषा के शब्द का प्रयोग
4. निरर्थक अथवा अन्य सार्थक शब्द के प्रति साधुत्व बुद्धि

आज का संस्कृत कवि उस भाषा में अपने काव्य का प्रणयन चाहता है जिससे कि सर्जना को विस्तार मिले। अब उसे बाण, दण्डी और सुबन्धु की भाषा का चमत्कार रुचिकर नहीं लगता।

इसके लिये किसी वाद अथवा आन्दोलन की आवश्यकता नहीं है अपितु संस्कृत सर्जकों की शैली युगानुरूप हो रही है। उसकी पदावलियाँ किलिष्ट और भारवाहक भले न हों परन्तु सरस और भाववाहक अवश्य हैं। आज संस्कृत की रचनाओं में, जो नैसर्गिकता उभरकर आ रही है उसका कारण भाषागत परिवर्तन कहा जा सकता है। यह परिवर्तन प्रतीक चिह्नों द्वारा भी प्रस्तुत किया जा रहा है जैसे हर्षदेव माधव की एक कविता में गाणतिक संज्ञाओं को भाषा के रूप में प्रयोग किया गया है –

ऑफिस–चिन्ता
X गृहिणी + उपनेत्रं ÷ क्षय
= जीवितम्

(ऋषेः क्षुब्धे – पृष्ठ06)

संस्कृत काव्य ने जब अपने को अर्वाचीन सिद्ध करने का उपक्रम प्रारम्भ किया गया तब भाषा की परिवर्तनशीलता भी एक अपरिहार्य बिन्दु बनकर सामने आ खड़ी हुई। काव्य प्रायः प्राञ्जल भाषा और सहज शैली में निबद्ध हुये। काव्यों का क्रमिक अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि भाषा कठिनता से सरलता की ओर उन्मुख है। विषयों की विविधता और आधुनिकता ने उसे भाषायी चेतना से जोड़ा है। समय के साथ साथ व्यक्ति की आवश्यकताओं में परिवर्तन आ रहा है और इन परिवर्तनों के फलस्वरूप उसके उपयोग में आने वाली वस्तुओं में भी जो परिवर्तन हुए हैं उन्होंने कवि की शब्द सामर्थ्य को भी प्रभावित किया है। कुछ शब्दों का प्रयोग तो रचनाकारों ने यथावत उसी भाषा के साथ इति का प्रयोग करते हुये कर दिया है और कुछ शब्दों के लिये उसने अभिप्राय के आधार पर सृजन किया है। परन्तु यहाँ भावक और सर्जक के बीच मतैव्य नहीं है अतः विभिन्न अनुभूतियों की तारतम्यता में भिन्नता होने के कारण कवि एक निश्चित शब्द तक नहीं पहुँच पा रहा है। इसका एक अन्य कारण यह भी है कि क्षेत्रीयता के आधार पर प्रत्येक शब्द की अनुभूति और प्रस्तुति भिन्न है अतः किसी भी शब्द को पूर्णतः सर्वमान्य करने वाला काव्यशास्त्र उपलब्ध नहीं है।

परन्तु समानता के आधार पर, उच्चारण के आधार अथवा परिस्थिति के आधार पर होने वाले परिवर्तनों ने भाषा को एक नया स्वरूप प्रदान किया है। इस विषय में देवर्षि कलानाथ शास्त्री **दृक 21** के पृष्ठ 15 पर लिखते हैं –

"ऐसी नयी अभिव्यक्तियों के लिये पुराने पण्डित प्रवरों की सामान्यतः यह भी एक प्रवृत्ति रही है कि अपनी प्रखर प्रतिभा से, पाणिनी के सूत्रों से धातु में प्रत्यय लगाकर अपना शब्द बना लेते थे। स्टेशन, चड्डी, बनियान, फार्म आदि के लिये यदि प्रत्येक पण्डित अपनी मति से अपना शब्द बनाने लगे तो कितना वैविध्य, कितनी अराजकता तथा कितनी अल्पबोधता आ जायेगी, यह स्वतः समझा जासकता है। .... अतः उसके लिये संस्कृत में कोई एक शब्द एकरूपता की दृष्टि से स्वीकार कर लिया जाए तो उचित होगा।"

वस्तुतः अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में भाषायी अनेकरूपता का कारण हमारा क्षेत्रवाद भी है हम अपने क्षेत्र के आधार पर संस्कृत का शब्द गढ़ने का प्रयास करते हैं इसका परिणाम यह होता है कि हम सिमट जाते हैं उससे इतर साहित्य की गति विवाद उत्पन्न करती है। इस क्षेत्र में अभिराज राजेन्द्र मिश्र का '**अभिराजयशोभूषणम्**' एवं राधावल्लभ त्रिपाठी का '**अभिनवकाव्यालंकार सूत्र**' एक सराहनीय प्रयास कहा जा सकता है। इनमें 'काव्य सृजन' के सिद्धान्तों को अर्वाचीन परिस्थितियों में पोषित एवं पल्लवित किया गया है।

आधुनिक संस्कृत का रचनाकार भाषायी दुरुहता से मुक्त होना चाहता है उसका उद्देश्य अपनी रचना को सर्वव्यापी एवं लोकरुचिकर बनाना है। इसके अतिरिक्त अर्वाचीन काव्य केवल पुराने मिथकों पर आश्रित नहीं है समाज में जो भी घटना होती है शीघ्र ही उसकी ध्वनि संस्कृत साहित्यकारों की प्रतिध्वनि बन जाती है फलतः उस घटना को संस्कृत काव्य में उतारने का सिलसिला शुरू हो जाता है परन्तु यहाँ भाषा के विषय में कुछ प्रश्न आ खड़े होते हैं क्योंकि आवश्यक नहीं कि उस घटना के समस्त आयामों के लिये शब्द निर्धारित हों।

कुछ घटनाएँ इतनी नवीन होती हैं उनके लिये शब्द ढूँढ़ने का श्रम करना ही पड़ता है। अर्वाचीन संस्कृत सर्जक को अद्यतन जीवन का चित्रण करने के लिये, अभिव्यक्तियों को संस्कृत में उतारने के लिये नये शब्दों के चक्रव्यूह से निकलना पड़ता है। अतः भाषागत परिवर्तन का कारण हमारा परिवर्तित होता समाज है जहाँ आज 'हलवा' नहीं 'हॉट डॉग' और 'बर्गर' की माँग है, केवल 'कंदुक क्रीड़ा' नहीं अपितु क्रिकेट की विविध गतिविधियाँ हैं, नृत्य भंगिमाओं के चितवन नहीं अपितु डिस्को डाँस पर थिरकते युगल हैं। कभी हमें फ्रिज से शर्बत, स्क्वाश निकालना है, कभी बोतल चाहिये ठण्डे पानी की। वस्तुतः नया समाज, नये शब्द और नया सर्जक सबको जागरुक रहकर कार्य करना है जिसमें संस्कृत भाषा पर पुरातनपंथी होने का आक्षेप न लगे। कलानाथ शास्त्री जी ने अनेक शब्दों जैसे एपिसोड–कणिका, टेस्ट–परीक्षणम्, छापा–सत्सेक्षणम, जाँच–अन्वीक्षणम् आदि को उपयुक्त और सटीक बताया है। आज इन्हीं प्रयोगों से संस्कृत साहित्य और भी समृद्ध हो रहा है।

भाषागत परिवर्तनों की श्रृंखला में उन बिन्दुओं पर दृष्टिपात करना आवश्यक है जिनके कारण संस्कृत भाषा में नये शब्दों को समाविष्ट किया जा रहा है यह बिन्दु इस प्रकार हैं –

(1) **व्यवहारिक शब्दों का प्रयोग** – समाज में नित्यप्रति व्यवहार में आने वाले शब्दों को भी कवियों ने भी अपने काव्य का विषय बनाया। श्रीधर भाष्कर वर्णेकर 'श्रीकृष्णबाललीलाशतकम्' में कृष्ण की मनोहर बाललीला में दार्शनिकता के साथ–साथ मनोहर वात्सल्य को प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि यशोदा कहती है कि अरे कृष्ण तू बहुत ही चपल है क्या घर में गुड़ नहीं था जो मिट्टी खा रहा है और बालक 'नेति नेति' में बालसुलभता के साथ ही परमब्रह्म की व्याख्या कर देता है –

मृद भक्षिता कितव! किं न गुडो गृहे नः
संतर्जितोऽतिपरुषं हि यशोदयैवम्।
तां नेति नेति निगदन् ननु वेदवाक्यं
चित्वे सदा वसतु बालजगद्गुरुर्मे।।

(आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ–170)

परमानन्द शास्त्री दहेज के कारण जलाई गई युवती की व्यथा में 'स्टोव' को संस्कृत में प्रयुक्त करते हैं –

वक्षस्ताडितकेन शोकविकलैराक्रन्द्यते बाहुभिः
धिक्कारः स्फुटितोऽद्य कोऽपि नगरे स्टोवः पुनः कौतुकी।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने अपने काव्य में भोजपुरी, ब्रज एवं अनेक क्षेत्रीय भाषाओं को सायास अथवा अनायास ग्रहण किया है। उनकी यायावरी प्रवृत्ति के कारण उनकी कविता जन जन की भावनाओं का प्रमाण है। अनेकों उदाहरणों में इस प्रकार के प्रयोग दिखाई देते हैं–

मेनका वा भवेन्मोनिका वा भवेत्
कस्यचित्कौशिकस्य व्रतं खण्डितम्
लालनं वा भवेन्मारणं वा भवेत्
सूकरस्य श्रुतं केवलं क्रन्दितम्

(मत्तवारणी पृष्ठ–104)

अन्योऽपि –

मातृकर्णं चकर्तैष चौरो भणन्
बाल्यकालेऽनया नो कथं दण्डितम्

(मत्तवारणी पृष्ठ–104)

राधावल्लभ त्रिपाठी शब्दों की जादूगरी में बेजोड़ हैं। भले ही गद्य हो अथवा पद्य वे शब्दों का प्रयोग साधिकार करते हैं। शब्दक्रीड़ा करते समय वह उसके प्राणबिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करते हैं यही कारण है कि उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दार्थ सामयिक आनन्द देते हुये कालजयी हो जाते हैं। अपनी कृति 'सन्धानम्' में तीव्र बाणों का सन्धान करते हुए उन्होंने अपनी भाषायी दक्षता को बनाये रखा है। यही कारण है कि यहाँ व्यवहार प्रयुक्त शब्द बहुत सहजता से प्रयुक्त हुये हैं। 'ढपोलशङ्खाष्टकम्' ढपोलशङ्खो की महिमा गाथा है –

न पश्यति ह्येष सुदृश्यरूपं
शृणोति नैव श्रवणीयशब्दम्
जोगुञ्जयन् फूत्कभरैस्तु विश्वं
ढपोलशङ्खो महिमानमेति।

(सन्धानम् पृष्ठ–49)

इसके अतिरिक्त –

अशनंस्तृणानि विचरन् बहुघासरम्ये
क्षेत्रे खरं बहुलं ढेञ्चु रवं वितन्वन

(सन्धानम् पृष्ठ–60)

यहाँ 'ढेञ्चु' शब्द हमें सामाजिक परिवेश के वार्तालाप प्रसंग की ओर ले जाता है। नेताओं की उछलती टोपी, धर्माचार्यों की कथनी करनी का दोगलापन, दहेज की पीड़ा, सतियों का दाह और सामाजिक मूल्यों का ह्रास, कवि की वेदना को अनेकों स्थानों पर व्यवहारिक शब्दों के प्रयोग से जोड़ गया है। रथ की गति को 'धड़धड़ाने' शब्द से व्यक्त करते हुये कवि कहते हैं –

घण्टापथे रथे याति शब्दो धड़धड़ेति सन्
कम्पयन् सर्वमध्वानं धरित्री दारयन्नभूत्

(सन्धानम् पृष्ठ–31)

हर्षदेव माधव ने व्यवहारिक शब्दों का प्रयोग अपने काव्य में बहुलता से किया है –

अलकनन्दे!
विषुववृत्तस्य सततं नीलकाननसमं जीवितम्
रब्बरवृक्षाणां रसः
प्रवहति प्रेम्णं स्वरूपे। (पुरायत्र स्रोतः पृष्ठ–60)

यहाँ '**रब्बर**' का प्रयोग दृष्टव्य है। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थान पर सिमसिमायते शब्द की प्रस्तुति पाठकों को आकर्षित करती है –

म्लानमुस्तातृणकल्पाः मे रोमाङ्कुराः
कम्पन्ते वात्यासारक्षुब्धा इव।
नेत्रयोः सिमसिमायते तीव्रातपे
दह्यमानपल्वलजलसदृशः स्वप्नः

(पुरायत्र स्रोतः पृष्ठ–30)

माधव ने '**करबंगुरिका**' की ध्वनि से रोमाञ्चित एक गीत बहुत ही सरल शैली में लिखा है –

रणन्ति तव करबंगुरिका
निःशब्दतिमिरे कुतः पल्वले रम्य सारसीरवः

लोचनविपिने स्तब्धविविक्ते स्वप्न–मृगस्य जवः
मम रोमाञ्चे प्रसरति स्निग्धा
स्निग्धा शोकालिका ....(तव स्पर्शे स्पर्शे पृष्ठ–41)

कलाई पर झंकृत होने वाली यह चूड़ियाँ अपनी खनक से कितनी मादकता उत्पन्न करती हैं यह तो प्रिय के अनुभवों से ही व्यक्त हो सकता है। दैनिक बोलचाल की भाषा का प्रयोग भी संस्कृत साहित्य में किया गया है जैसे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस', लल्लू आदि –

यस्य यष्टिर्महिषीपि तस्यस्ति भो
उल्लुभिर्लल्लुमिः शोभते भारतम्

(भाति ते भारतम् पृष्ठ–11)

इसके अतिरिक्त 'वेल्लनी', सम्मार्जनीम्, मांसार्बुदं(कैंसर), ओजक्षयः(एड्स) निरोध, श्यामधन्(कालाधन), कोका कोला, पेप्सी, सी.डी. काण्ड आदि अनेक व्यवहारिक शब्द 'भाति ते भारतम्' में विभिन्न स्थानों पर प्रयोग किये गये हैं।

हास्य व्यंग्य बहुल रचनाकार प्रशस्यमित्र शास्त्री भी समाज से जुड़कर लिखते रहे हैं अतः उनके काव्य में भी इस प्रकार के व्यवहारिक शब्द अनायास आ जाते हैं। जैसे हड़ताल, मन्त्रिमण्डल, विधायक, राजनीतिज्ञ, निर्वाचन, गोष्ठी, घोषणापत्र आदि[2]।

वस्तुतः संस्कृत साहित्य को युगानुरूप सिद्ध करने के लिये व्यवहारिक शब्दों की प्रयोगशीलता के प्रयास निरन्तर बढ़ रहे हैं, परन्तु अभिराज की दृष्टि में संस्कृत वाङ्.मय की स्वच्छन्दता एक मध्य मार्ग की अपेक्षा रखती है। दृक् के नवम अंक में अपने एक लेख में वे स्वीकार करते हैं कि –

"अर्वाचीन संस्कृत नवलेख अन्यान्य भारतीय भाषाओं की वाङ्मय विधाओं को दृष्टि में रखकर गतिमान हो रहा है। अतः स्वाभाविक है कि उसे अतीत मात्र से बाँधकर नहीं रखा जा सकता है। उसे स्वच्छन्दता चाहिये सिद्धान्त में भी और व्यवहार में भी। पैरों में बेड़ी पहनकर दौड़ना दुष्कर तो होता ही है।"

1. भाति ते भारतम् 10 पृष्ठ 13,23,25
2. नर्मदा पृष्ठ 40

डॉ0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने भागीरथी में इस सिद्धान्त को अनुसरित करते हुये 'जमादार' के लिये टकसाली शब्द 'खलपू' का प्रयोग किया है[3] जो उसके असंपृक्त भाव को सजीवता से प्रस्तुत करता है। अतः संस्कृत भाषा के ऐसे व्यवहारिक प्रयोग निस्संदेह सराहनीय है जो अर्वाचीन संस्कृत भाषा को गति और विस्तार की ओर ले जाते हैं।

(2) **सरल सहज भाषा शैली** – वैसे तो व्याकरण मीमांसा, न्याय, गद्य साहित्य और शास्त्रमय वाङ्मय सभी में शब्दार्थमयी वाक्ययोजना होती है किन्तु उनकी विवेचन पद्धति और विषय सामग्री में अन्तर होता है। काव्य की उपयोगिता इस बात में है कि वह अपनी वाक्ययोजना एवं भाषा शैली से ऐसे स्वभावगत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करे जो सहृदयी जनों के लिये आह्लादकारी हो। अर्वाचीन संस्कृत काव्य ने इस विषय में बहुत ही गम्भीर चिन्तन किया है। सम्भवतः आज न तो मम्मट, जगन्नाथ, कुन्तक और विश्वनाथ जैसे मर्मज्ञों को समझने वाला जनसमुदाय है और न ही कालिदास, बाणभट्ट, भास, भारवि के शब्द चित्रों में उतरने वाला भावप्रवण हृदय है। हम संस्कृत काव्य को उस जनमानस तक भी पहुँचाना चाहते हैं जिसको संस्कृत का ज्ञान तो अल्प है परन्तु उसको जानने की ललक अवश्य है। इसके लिये आवश्यकता इस बात की है कि हमें इसके भाषायी स्वरूप लोकधर्मी प्रयोगों के साथ–साथ प्रचलित शैली का अनुसरण करना होगा। उन विषयों को उठाना होगा जो समाज की कोख से जन्म ले रहे हैं। आज का संस्कृत कवि इस तथ्य से अनजान नहीं है यही कारण है कि वह इन विषयों को उन्हीं की भाषा में प्रतिध्वनित कर रहा है। बहुत ही गूढ़ बात को हर्षदेव माधव ने अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत किया है –

शिशुचरणधूलिधूसरां शाटी विलोक्य
रजोभिरस्पृष्टा स्वच्छा शाटी
रोदति

बच्चे की चरण धूलि से धूसरित साड़ी को देखकर स्वच्छ साड़ी का रोना मातृत्व की पराकाष्ठा है। यहाँ साड़ी ही सहसा माँ बन जाती है

1. भागीरथी–संक्षोभं खलपुरुपेक्ष्य निरतः संमार्जनी बन्धने

एक सन्तान युक्त माँ और एक बन्ध्या। वह स्त्री तो है परन्तु माँ नहीं। यहाँ लेखक की संवेदना सरल शब्दों में मुखरित हुई है।

ब्रजमण्डल के संस्कृत कवियों में श्रेष्ठ वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी जी ने यद्यपि बहुत ही किलिष्ट छन्दोंविधान से युक्त एवं समस्यापूर्ति जैसे साहित्य का सृजन किया है लेकिन कहीं कहीं पर सरल भाषा शैली मानो उनका अनुसरण करती हुई ब्रज क्षेत्र में क्रीड़ा करने लगती है –

यस्य वृन्दावनं कण्ठहारप्रभं माथुरं मण्डलं वैजयन्तीनिभम्
शैलगोर्वधनो हारकं मौक्तिकं भारतं भारतं नौमि भावप्रदम्
(आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ–234)

आपके अनेक छन्दों में ब्रज भाषा के छन्दों का प्रयोग भी दिखाई देता है।

हाँ! इस छन्द को पढ़ते समय रमाकान्त शुक्ल द्वारा रचित 'भाति मे भारतम्' की तरलता भी स्मरण हो आती है–

जाह्नवी चन्द्रभागा–जलैः पावितं
भानुजा–नर्मदा–वीचिभिर्लालितम्।
तुङ्गभद्रा–विपाशादिभिर्भावितं
भूतले भाति मेऽनारतं भारतम्। (सर्वशुक्ला–9/9)

संस्कृत भाषा के प्रति कवियों ने अपनी आस्था के शब्द पुष्प प्रायः समर्पित किये हैं। शायद ही ऐसा कोई संस्कृत कवि रहा हो जिसने संस्कृत भाषा के प्रति अपनी श्रद्धा में अनुदारता दिखाई हो। प्रायः इस समर्पण में ध्वन्यात्मक भाषा शैली का प्रयोग किया गया है 'मणि' लिखते हैं –

सरलैषा संस्कृतभाषा सदा पठनीया भजनीया सखे
मधुरैषा संस्कृतभाषा सदा स्मरणीया श्रवणीया सखे
(निस्यन्दिनी पृष्ठ–35)

यद्यपि काव्य गोदावरी में विकसित साहित्य सर्जकों ने पाठकों को आकृष्ट तो किया है परन्तु चमत्कार के अभाव में वहाँ कुछ निराशा हुई है। अभिराज राजेन्द्र मिश्र का मत है कि काव्य की सरलता लय और छन्द के तालमेल के साथ–साथ अपनी प्राणमयी ऊर्जा से भी युक्त

होनी चाहिये। वह अपनी समग्रता से पाठक का अन्तर्मन स्पर्श करे केवल शब्दों की तुकबन्दी से अपने स्वरूप को प्रस्तुत न करे। कविता की सज्जा प्रसाधन और वर्णनात्मकता उसके शब्दों की तोड़ मोड़ में नहीं अपि उसके आनन्द में निहित है। अभिराज की एक गज़ल यहाँ उधृत की जा सकती है –

शोभते नहि राका शशिना विना
मोदते नहि राका शशिना विना
को नु लिखति रामायणगीताम्
शारदा न विभाता कविना विना

(कनीनिका पृष्ठ–46)

यहाँ लोकछन्द की मधुर ध्वनि कविता को सरलता के साथ पोषित करती है।

बनमाली बिश्वाल अपनी सरलता और सहजता के लिये सर्वविश्रुत हैं। उनके काव्य में भावप्रवणता है परन्तु किलिष्टता नहीं –

चातकोऽहं जीवितुं शक्नोमि
पायं पायं वर्षा–जलबिन्दून्,
अतः प्रिये! निरर्थकः
ममकृते जलमयः सिन्धुः

(प्रियतमा पृष्ठ–66)

इस प्रकार संस्कृत भाषा के भाषिक एवं शैलीगत आयाम निरन्तर परिवर्तनशीलता के साथ बढ़ रहे हैं।

'दृक' के 15–16 खण्ड में ज्योत्सना निगम के लेख 'आधुनिक संस्कृतसाहित्य की सरलतरल भाषा' में उन्होंने भी इसी तथ्य को स्वीकार किया है। वे कहती हैं कि "आधुनिक कवि न तो राजाश्रय प्राप्त करने के लिये काव्य रचना करते हैं और न ही किसी राजा की प्रशंसा अथवा मनोरंजन के लिए। वह ईश्वर, गुरू या देवता के सामने आत्मसमर्पित होकर भी काव्यसर्जन नही करते। उसकी काव्य रचना उसकी स्वअनुभूति और चेतना के फलस्वरूप होती है। इसलिए सुन्दर–कुरूप, शिव–अशिव, यथार्थ–अयथार्थ सभी ओर उसकी दृष्टि जाती है और क्षोभ, व्यंग्य, कर्कशता, शोक, चिन्ता आदि भाव भी

साहित्य में दिखाई पड़ते हैं। इसलिये आधुनिक कवि ऐसे काव्य रूप को अपना रहे हैं जो उसके कथन की प्रकृति के अनुरूप हो अथवा जिससे उसके मन की संगति स्थापित हो। अतएव केवल कोमलशब्दों की पद शय्या की रचना करने में प्रयासरत न होकर वे भावतत्त्व एवं विचार–सूत्र को तीव्रता से पकड़कर तथा उसे तीव्रतर बनाने की ओर प्रवृत्त होते हैं। उदात्तीकरण के स्थान पर वे भावों में घनत्व और तीव्रता लाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए उनके कथन में सीधापन अधिक मिलता है। सम्भवतः आधुनिक कवि यह चाहते हैं कि संस्कृत भाषा न जानने वाले व्यक्ति को भी कविता का मर्म समझ में आ जाए एवं उसका भी रसास्वादन हो। दृष्टिकोण की यह भिन्नता ही कवि की भाषा को सरलतम रूप की ओर प्रेरित करती है।"

वस्तुतः इसका अभिप्रायः भाषा की दुर्बोधता से काव्य को बचाना अवश्य है परन्तु सरलता के नाम पर होने वाले अपाणिनीय प्रयोग स्वीकार्य नहीं है। आधुनिक संस्कृत कवियों को ऐसे मध्य मार्ग की आवश्यकता है जो सरलता के साथ–साथ भाषा के अस्तित्व को भी सुरक्षित रख सके।

(3) **आंचलिक प्रयोग** – बीसवीं शताब्दी में जैसे जैसे गीत रचना अपने उत्तरोत्तर विकास की ओर बढ़ती गई उसमें आंचलिक प्रयोग दिखाई देने लगा। वैसे तो अधिकांश कवियों ने पारम्परिक विषयों को ही अपने काव्य में संजोया परन्तु नवीन विषयों पर भी कविता में अभिव्यक्तियाँ गढ़ी जाने लगीं। परिणामतः कवि का आंचलिक रूप भिन्न भिन्न प्रकार से उसमें प्रतिबिम्बित हुआ। यद्यपि आंचलिकता संस्कृत भाषा पर हावी नहीं हुई उसी का यह सुखद परिणाम है कि संस्कृत सम्पूर्ण विश्व में एक सी बोली जाती है, लिखी जाती है। जहाँ हिन्दी, अंग्रेजी फासलों के बढ़ते ही अलग अलग रूप में आकार ले लेती है वहीं संस्कृत भाषा का स्वरूप, स्थान, काल और युग से आज तक अभेद्य है। लन्दन, अमेरिका जैसे अंग्रेजी भाषी देशों में भी अंग्रेजी उच्चारण हर स्थान पर भिन्न है। मूल कनाडा के ही मॉन्ट्रियल में फ्रेन्च के साथ अंग्रेजी का उच्चारण अलग ढंग से किया जाता है। परन्तु संस्कृत भाषा का सर्जक, पाठक, श्रोता, वक्ता भले ही वह वैदिक

गुरुकुल प्रणाली का अध्येता हो अथवा आधुनिक संस्कृत का, उसे इसमें तोड़ मरोड़ करने का अधिकार नहीं है। अतः संस्कृत भाषा की अक्षुण्णता का यह भी एक बड़ा कारण है कि आज वह अपने मूल स्वरूप को विकृत होने से बचा रही है। यद्यपि समय के प्रवाह ने उसके शब्दकोश में अनेकों नवीन शब्दों का भंडार दिया है परन्तु पुराने शब्दों से कोई छेड़छाड़ नहीं है। अतः वैश्वीकरण के इस युग में इस भाषा का अपना प्रतिष्ठित रूप आज भी जीवित है। जब नया कवि नयी बात कहना चाहता है तो उसके लिये वह कुछ नये शब्द अवश्य गढ़ता है परन्तु उसका यही प्रयास होता है कि वे पाणिनीय भले न हों परन्तु अपाणिनीय नहीं होने चाहिये इसके लिये जिस आंचलिकता से वह उन्हें जोड़ता है वह शब्दों के साथ–साथ अभिव्यक्ति और विधाओं की आंचलिकता होती है।

(क) **शब्दों की आंचलिकता** – संस्कृत साहित्य में शब्दों के आंचलिक प्रयोग कम दिखाई देते हैं क्योंकि कवि का उद्देश्य भाषा के मूल स्वरूप को बनाये रखना होता है अतः आज वह उन्हें पारम्परिक रूप में ही स्वीकार करता है। परन्तु कुछ कवियों के काव्य मे शब्दों की आंचलिकता कहीं कहीं मिल जाती है। जैसे उड़ीसा में 'लोटक' अश्रु के लिये प्रयोग होता है और केशवचन्द्र दाश ने अपने काव्य में इसका प्रयोग किया है। पोटली के लिये महाराज दीन पाण्डेय ने यथावत 'पोट्टलिकाम्' शब्द का प्रयोग किया है –

सभ्यताभस्मासुरीयति
मानयति मृत्यूत्सवम्
शिरसि कृत्वाण्वस्त्रपोट्टलिकाम्
स्खलन्ती रता नृत्ये
वदन्ती
अयि मां लोकय।

(मौनवेधम् पृष्ठ–34)

हर्षदेव माधव ने 'चामिचिटिकाः' का प्रयोग चमगादड़ के लिये किया है। गुजराती में चमगादड़ को 'चामचीड़ी' कहते हैं उसी को संस्कृत में प्रयोग करने समय 'चामिचिटिका' रूपान्तरित किया गया है –

सप्तपर्णपर्णकदम्बगह्वरे
जलकिलन्नकौशिकरवसंगीतेन सह नृत्यन्ति चामिचिटिकाः

(रथ्यासुःजम्बूवर्णानां.....पृष्ठ–11)

अपनी कविता 'दिशा' में उन्होंने 'छिन्नालः' शब्द का प्रयोग किया है। गुजराती में उसका अभिप्राय नाक कटने से है। बंगुरी को बंगुरिका कहना भी इसी आंचलिकता का प्रभाव है और 'नेत्रयोःसिमसिमायते तीव्रतपे' में धूप में आँखों का खुलना बन्द होना सिमसिमायते शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है जो गुजराती से प्रभावित है।

(पुरायत्र स्रोतः पृष्ठ–30)

हर्षदेव माधव की 'भाति ते भारतम्' में अंग्रेजी और उड़िया दोनों का अनुवाद संकलित है। इसे पढ़ने पर प्रतीत होता है कि उन्होंने अनेक शब्दों का सायास अथवा अनायास जो प्रयोग किया है उन पर उड़िया का प्रभाव है। सम्भवतः संस्कृत का अन्य भाषाओं की जननी होना भी यहाँ एक कारण हो सकता है। परन्तु भाविकैः[1] जीर्णवस्त्रावृत्तं[2], न्यायद्वार[3], खलाः[4] आदि अनेकों उदाहरण इस तथ्य को सिद्ध करते हैं कि भले ही वह संस्कृत का अनुवाद रूप हो अथवा मूल रूप कहीं न कहीं आंचलिकता कवि के लेखन को प्रभावित अवश्य करती है।

बनमाली बिश्वाल ने भी अपने काव्य में उड़िया शब्दों का प्रयोग सहज रूप में किया है। 'अग्नि' कविता में उन्होंने 'लुक्कायित[5]'शब्द को छिपने के अर्थ में अंगीकृत किया है जबकि संस्कृत में अन्तर्धानम् अथवा गोपनम् शब्द द्वारा इसे व्यक्त किया जाता है। परन्तु हिन्दी की लुका छिपी उड़िया में संस्कृतनिष्ठ होकर 'लुक्कायित' बन गई है। एक अन्य स्थान पर कवि ने मूल उड़िया शब्द 'उव टुव' का प्रयोग डूबने उबरने के अर्थ में किया है –

पिधाय स्वनेत्रे
सन्तरसि तीरात तीरान्तरं
'उव् टुव' अहर्निशं दृढ़ाबद्धे जले **(व्यथा पृष्ठ–25)**

1. भाति ते भारतम्, पृष्ठ–25
2. भाति ते भारतम्, पृष्ठ–40
3. भाति ते भारतम्, पृष्ठ–41
4. भाति ते भारतम्, पृष्ठ–45
5. व्यथा, पृष्ठ–01

कुछ शब्दों का प्रयोग देश काल स्थान से इतना जुड़ा हाता है कि उसके स्थान पर अन्य शब्द का प्रयोग एकदम बेमानी है। उस शब्द का पर्याय कोई अन्य शब्द होता ही नहीं है। जैसे जगन्नाथ जी जब नौ दिन बाद अपने घर लौटते हैं तब इस प्रक्रिया को 'वाहुडायां' कहा जाता है। यहाँ इस अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये कवि ने उसका यथावत प्रयोग किया है इससे आंचलिकता के प्रभाव का बोध होता है–

त्वद्दर्शनं मङ्गलदं सर्वतोभावेन
पुनरावर्तनं तव 'वाहुडायां' नवदिनात्परम्
(व्यथा, पृष्ठ–35)

इसी प्रकार

त्वदभावे चतुर्दिक्षु
खाँ–खाँ–भावः (ऋतुपर्णा पृष्ठ–14)

इस उदाहरण में गृह की रिक्तता को खाँ–खाँ शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। यह शब्द उड़िया भाषा का है जो खालीपन की विकरालता, निराशा और पीड़ा को व्यक्त करता है। ब्रजभाषा में इसी भाव को 'भाँय–भाँय' शब्द से अभिव्यक्त किया जाता है। यहाँ घर का अकेलापन मानो 'खाँ–खाँ' की ध्वन्यात्मक प्रस्तुति से डराता है। इसके अतिरिक्त –

'मोटयित्वा शमश्रु' में मूँछों का मरोड़ना, 'नाटयति बाहुस्फोटम्' द्वारा बाजुओं का बल प्रदर्शन, यह लघु प्रयोग भी स्थान विशेष के प्रभाव को इंगित करते हैं। इसके अतिरिक्त 'प्रीति पद्मतोला' शब्द का प्रयोग साँप को पकड़ने के लिये बीन बजाते समय किया जाता है। कवि ने प्रेम के वशीकरण को कुछ इस प्रकार कहा है –

उत्फणः नागोऽहं कश्चित्
खेलन्नस्मि खे यथा चपला,
यावन्न समाप्ता सखे
अहितुण्डिकस्य मुखात् प्रीति–पद्मतोला
(ऋतुपर्णा पृष्ठ–137)

इस प्रकार शब्दों के आंचलिक प्रयोग संस्कृत काव्य में यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

(ख) **अभिव्यक्ति की आंचलिकता** – आधुनिक कवियों की लघु कविताएँ कभी तो हल्का सा गुदगुदाती हैं और कभी हल्का प्रहार करती हैं। आज के द्वैतभावी जीवन के अंकुर इस कविता से फूटे हैं। काव्यशास्त्रीय प्रतिमान से इतर वह लौकिक जगत से अधिक जुड़ी हुई हैं यहाँ केवल शब्दों के जादुई प्रयोग को स्थान नहीं है अपितु व्यंग्य को आत्मसात किया गया है। देवदत्त भट्टि की प्रयोगवादी कविताओं का संग्रह 'सिनीवाली' में शब्दों का सम्भार मात्र नहीं है अपितु अभिव्यक्ति का चमत्कार है। यहाँ प्रतिपदा की अँधेरी रात के लिये 'सिनीवाली' शब्द का प्रयोग किया गया है –

तारकाः अश्रूणि प्रावहम्
सिनीवालीनिशायाम् दिशोऽक्रन्दन।

अभिव्यक्ति की आंचलिकता से अभिप्रायः तत्स्थानीय अथवा सर्वत्र प्रयोग किये जाने वाले मुहावरों के संयोजन से है। कविता में ध्वनि, रस, आनन्द और स्वाभाविक चेतना को सहृदयों में उतारने के लिये कवियों ने इसका प्रयोग अपने काव्य में किया है। यह आंचलिकता शब्दों के साथ–साथ भावों से भी जुड़ी होती है। महाराज दीन पाण्डेय के 'मौनवेधम्' काव्य संग्रह में इस प्रकार की आंचलिकता का पुट मिलता है –

पथ्यं ये कटुकं कवित्वविषयीकर्तुंयतन्तेऽधुना
यत्सत्यं कविता तदीयकविताऽन्येषां तु गल्लध्वनिः

कटु को भी अमृतमय कवित्व में परिवर्तित कर देने वाली कविता ही वास्तव में कविता कही जानी चाहिये। अन्य लोगों द्वारा इसके विपरीत कही जाने वाली कविता तो मात्र गल्लध्वनि है। यहाँ गल्लध्वनि से अभिप्रायः गाल बजाने से है। जिसका तात्पर्य व्यर्थ की बकवास करना है। अतः गाल बजाने के मुहावरे को गल्लध्वनि में रूपान्तरित करके एक सफल प्रयोग किया गया है। जिसकी प्रस्तुति नये संवाद को जन्म देती है। अन्यत्र एक मुहावरा अपने नये रूप में प्रस्तुत है –

दुर्गतस्य जाया यथा समाजवादो भाति।

गरीब की जोरू को कोई भी गाली दे जाता है वही दुर्गति समाजवाद की है।

कुशलं न पृच्छ लिम्प न लवणोदकं व्रणे (घाव पर नमक छिड़कना)
नखरैर्लेखयामि निजं व्रणम् (अपने नाखुनों से घाव कुरेदना)
चर्व्यये मुखरीव मौखर्यम् (बड़बोलापन चबाना)
करे धृत्वा लाल्टेनम् ईश्वरं ढुण्ढामि (हाथ में लालटेन लेकर ईश्वर ढूँढ़ रहा हूँ[1]) आदि अनेकों अभिव्यक्तियाँ आंचलिकता से ओत प्रोत होकर कविता का अभिन्न अंग बन गई हैं। पं0 बच्चू लाल अवस्थी जी ने भी मगरमच्छ के आँसू बहाने के लिये 'नक्रवाष्पविकलं' का प्रयोग किया है[2]।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र राष्ट्र के कवि होकर भी आंचलिक कवि हैं। उनकी ममता आज भी गाँव की बंसवारी में श्वाँस लेती है वे जब अपने काव्य में ग्रामीण अंचल को उतार रहे होते हैं तो दादी, नानी की अभिव्यक्तियाँ उनकी भाषा में प्रश्रय ढूँढ रहीं होती हैं। दीवारों के कान होना एक प्रचलित मुहावरा है जिसका प्रयोग दृष्टव्य है –

शनैरुच्यतां कर्णिनी भित्तिरेषा
वका वैरिणोऽत्र प्रणिधयश्च कीरा
(शालभञ्जिका 20/7)

संस्कृत के नये मुहावरों और कथनसन्धान करने में अभिराज बेजोड़ हैं। वे लोकभाषा को कब परिनिष्ठित रूप में बदल देंगे इसकी पाठक कल्पना भी नहीं कर सकता।

हन्त पलाण्डुलशुन संघर्षे
प्रभवेत्कस्य नु गुणानुवादः (शालभञ्जिका 22/6)

सत्य है, दुष्टों का पारस्परिक कलह दुर्गुणों का जनक ही हो सकता है। बैर को बैर से शान्त नहीं कर सकते इसके लिये सकारात्मक चिन्तन की आवश्यकता है –

वैरेण वैरं शाम्यतीह न जातु तत्वविदो विदुः
(शालभञ्जिका 24/4)

इसके अतिरिक्त मार्ग में रोड़ा अटकाना जैसे मुहावरे को अभिराज ने बहुत ही सहजता से प्रयोग किया है वहाँ पर उनका सौख्य दुष्टता पर हावी है –

1. मौनवेधम्, पृष्ठ–8,17,28,40
2. अर्वा सं0 13/1 (1981)

ममाऽभ्युदयाऽध्वनि प्रकिरन्तु मूढ़ाः प्रत्यवायांस्ते
परं त्वनमूलमभ्युदयऽधिकं सौख्यं नु कैर्भाज्यम्
(मत्तवारणी 64/6)

नेताओं द्वारा बालू से तेल निकालने[1] की बात पर ही वे विराम नहीं लेते अपितु राष्ट्रनायकों की प्रत्येक धूर्तता पर उन्हें आक्रोश है। एक बहुत ही प्रचलित कथन को, उर्दू के शेर को उन्होंने संस्कृत भाषा में यथावत उतार दिया है।

बरबाद गुलिस्तां करने को बस एक ही उल्लू काफी है
हर शाख पै उल्लू बैठा है अन्जामे गुलिस्तां क्या होगा।

उद्याने यस्मिन् सान्द्रतरौ
प्रतिशाखमुलूका वल्गन्ते
कल्याणं तस्य कथं भविता
सुषमा क्व वसन्तस्यागमने
(मधुपर्णी 27/4)

वस्तुतः अभिराज की अभिव्यक्तियाँ बहुत ही प्रभावी है। प्रसिद्ध साहित्यकार एवं समालोचक डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी ने शालभञ्जिका की भूमिका में कहा है कि "अपनी समग्र काव्य यात्रा में कवि विलक्षणता का सन्धान करता रहा है इस कारण अभिराज की कविता में कभी क्षुद्रता या हीनता का बोध नहीं रहा, सदैव विलक्षणता और उदात्त के धरातल पर उनका कवि विचरण करता है। यह उदात्तता विषयवस्तु में, भाषा में, पदावली में, उनकी कविता के पोर पोर में समवेत है। संस्कृत में नये मुहावरे, कथनभंगियों का सन्धान अभिराज का अन्तर्निहित कवि करता रहा है। **(शालभञ्जिका 67)**

हर्षदेव माधव के काव्य में भी अभिव्यक्ति की आंचलिकता दिखाई देती है। यह सामान्य से होती हुई विशिष्ट तक पहुँचती है, उनके प्रयोग नितान्त नवीन एवं मौलिक होते हैं। प्रयोगशील कवि का उत्तरीय ओढ़ने वाले इस कवि ने अपने काव्य में अपनी कारयत्री प्रतिभा को अभिव्यक्ति दी है। नदी–समुद्र के पारस्परिक वार्तालाप को टेलीफोनिक बनाकर जिस नवीनता के साथ माधव ने प्रस्तुत किया है वह अदभुत है।

1. मत्तवारणी–37/2

हल्लो सागर! का त्वं? तटिनी
कुत्र पर्वते स्वामिन्
मनस्विन कुशला त्वं? अथ किम्।
कुत्र नाथ? गर्तेऽस्मिन्।
किं कथयसि? वार्ताः श्रवणीया
बहु मोदसे श्रुत्वा।
कथय–कथय सखि झटिति स्थितोऽहं
श्रोतुं कर्णं दत्वा

(रथ्यासु जम्बूवर्णानां.....पृष्ठ–30)

इस कविता में श्रोतुकर्णंदत्वा का अभिप्राय है 'कान देकर सुनना' यह एक गुजराती कहावत है। जिसका माधव ने बहुत ही सटीक प्रयोग किया है।

प्रशस्यमित्र शास्त्री ने लोकोक्तियों एवं कहावतों को नवीन भाव से जोड़कर एक शिष्ट हास्य की रचना की है। 'विद्वान सर्वत्र पूज्यते' के स्थान पर 'नेता सर्वत्र पूज्यते' और मूर्ख के शिक्षामन्त्री बन जाने पर भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम् एवं चौरकर्म में लिप्त चोर द्वारा वसुधैव कुटुम्बकम् के सूक्तिवाक्यों का प्रयोग किया है। एक उक्ति विष ही विष की औषधि है, दृष्टव्य है –

उत्कोचग्रहणे कश्चिन्निगृहीतो यदा भवेत्
उत्कोचमेव दत्वाऽसौ अभियोगाद् विमुच्यते
उत्कोचस्याऽभियोगस्य कुर्यात्तेनैव नाशनम्
पण्डितैः सत्यम् उक्तं यद् 'विषस्य विषमौषधम्'

(नर्मदा, पृष्ठ–50)

बनमाली बिश्वाल के लेखन में समाज का वह वर्ग श्वांस लेता है जो सर्वाधिक संत्रास को भोग रहा है। अतः उनकी भाषा उस वर्ग की भाषा है। यहाँ अभिव्यक्ति में चमत्कार की आभा न होकर यथार्थ की ज्योति है। अतः आंचलिकता यत्र तत्र प्रदीप्त होकर जनमानस को अभिव्यक्त करती है। खाली घर जब अपनी ध्वनि के साथ प्रस्तुत किया जाता है तब उसमें एकाकीपन की गन्ध होती है मनुष्य सामाजिक

प्राणी होने के नाते इस अकेलेपन से घबराता है। ऐसा अकेला घर खाने को दौड़ता है। ऋतुपर्णा में प्रियविरहिणी के लिये खाली घर अभाव की पीड़ा को व्यक्त करता है।

त्वं नास्यत्र
अहम् एकाकिनी
प्रोषितभर्तृका काचित प्रियविरहिणी
त्वदभावे गृहमपि खादितुं धावति

(ऋतुपर्णा पृष्ठ–68)

इस प्रकार अनेकों स्थान पर प्रयुक्त किये गये मुहावरे अपनी क्षेत्रीय भाषा की गन्ध में ही रचे बसे दिखाई देते हैं। छोटों को मारकर बड़ों की जीवन रक्षा का होना भी एक आंचलिक अभिव्यक्ति है–

हेयस्वार्थपूर्त्यै भ्रातृणां हत्या
पोषामश्चटकाः शलभान् हत्वा। **(ऋतुपर्णा–57)**

जैसे छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है ऐसे ही चिड़िया अपने भरण पोषण के लिये कीड़े मकोड़ों, पतंगों को खा लेती है। इससे प्रतीत होता है कि हर भाषा की व्यञ्जना में भाव वही होते हैं केवल अभिव्यक्ति की भिन्नता होती है[1]। फलतः शास्त्रीय संस्कृत की अथवा क्लासिकल संस्कृत की चिन्तन शैली, तर्क शैली ने नव्य न्याय की शैली के कारण अर्वाचीन परिवर्तनों को स्वीकार कर लिया।

वस्तुतः भाषा में जब भी विविधता की बात आती है तो वहाँ प्रत्येक कवि की अपनी जमीन, अपने कथ्य और अपने सांस्कृतिक, सामाजिक मूल्य होते हैं उन्हीं के आधार पर वह अपने काव्य का प्राचीर निर्धारित करता है। यहाँ पर अन्तर केवल बाह्य होता है उसकी आन्तरिक साज सज्जा लगभग समान होती है।

अतः संस्कृत के आधुनिक साहित्य की दशा और दिशा से यह तो सिद्ध हो गया है कि अर्वाचीन संस्कृत भाषा के शैलीगत आयामों में अत्यन्त परिवर्तन दिखाई दे रहा है। यह परिवर्तन भाषा की ही देन है। आज के भाषा पण्डितों को नये उत्पादों, नई अवधारणाओं और नई स्थितियों को अभिव्यक्त करने के लिये नये शब्दों की तलाश

1. ऋतुपर्णा, पृष्ठ–42,35,15

करनी पड़ रही है। रेल, रेडियो, कम्प्यूटर, टिकट, बस, पिज्जा, बर्गर, घोटाला, रन, चुनाव, क्रिकेट बैट, विकेट, सैण्डविच आदि अनेक शब्दों को उसी भाव में व्यक्त करने के लिये हमें लोकशैली का अनुसरण करना पड़ रहा है। इस विषय में देवर्षि कलानाथ शास्त्री के विचार बहुत ही सटीक और लचीले हैं दृक के तीसरे अंक में वे कहते हैं कि–

"पाणिनी की कृपा से संस्कृत सभी अवधारणाओं के लिये अपने व्याकरण से शब्द गढ़ रही है तथा अन्य भाषाओं को भी दे रही है। किन्तु अवधारणाएँ तथा शैली उसे प्रादेशिक भाषाओं से लेनी पड़ रही हैं। "उससे टाइम लेना है" या "इण्टरव्यू देना है", "आँखों देखा हाल प्रसारित हो रहा है", "लाठी चार्ज हो गया", "बम से उड़ा दिया" इन सबके लिये संस्कृत पण्डित शब्द तो अपने गढ़ रहे हैं परन्तु शैली लोकव्यवहार से ले रहे हैं। 'धन्यवाद दिया', 'परीक्षा में नकल करते हुये पकड़ा गया', 'स्विच ऑफ कर दो' आदि अभिव्यक्तियों को तो लोकभाषा से ही लेना पड़ेगा।" **(दृक, पृष्ठ–21)**

इस प्रकार हम देख रहे हैं कि काव्य के कारण ही हमारी शास्त्र विषयक दृष्टि भी बदल रही है। रेवाप्रसाद द्विवेदी का 'काव्यशास्त्र', ब्रह्मानन्द शर्मा का 'काव्य सत्यालोक', उमेश शास्त्री के 'मधु' में भी अनेकों संवेग और संवेदनाओं को आधार मानकर नई दृष्टि को प्रस्तुत किया है। संस्कृत सर्जक के तीक्ष्ण सन्धान जीवित साहित्य साधना के साथ अपने आस–पास के अंचल को स्वर प्रदान कर रहे हैं।

(ग) **विधाओं की आंचलिकता** – 'अभिराजयशोभूषणम्' में अभिराज ने इस विषय में अपना मन्तव्य दिया है। यह गीत अनेकों प्रकार से अपनी अभिव्यक्ति में समर्थ होते हैं परन्तु इनकी प्रस्तुति में स्थान, जाति, कुल, परम्परा आदि का भेद हाने के कारण ये अनेकों विधाओं का रूप ले लेते हैं यथा –

"लोकेन सङ्गीतशास्त्रज्ञान विरहितेन प्राकृतजनेन गीतं लोकगीतम्। तत्र जनपदोदाहरणं यथा रसिकाख्यं लोकगीतं व्रजेष्वेव गीयते तावत्कोसलेषु। बाउलगीतं बङ्गेष्वेव, पाण्डवानीनक्तक प्रचरण–वटुक स्कन्धहारीय–चैत्रक, फालगुनिकादीनि उत्तरप्रदेष्वेव, दण्डरासक गीतं (डंडियेति भाषायाम्) गुर्जष्वेव अभङ्ग.रव्यं गीतं महाराष्ट्रष्वेव गीयन्ते।"

(अभिराजयशोभूषणम् पृष्ठ–257)

इसके अतिरिक्त दक्षिण में 'यक्षगान' की शैली प्रचलित है। पावस ऋतु आने पर कोसल और काशी में कजरी नामक लोकगीत गाया जाता है। वाग्वधूटी में एक बहुप्रचलित कजरी है जो वियोगजन्य ताप को व्यक्त करती है –

रौति कोकिला मदालसा रसालतरौ
गोपिता तमालतरौ रे
क्षणंपल्लवेनिलीय, मञ्जरी रसं निपीय
स्तौति सम्मुखं वसन्तकं रसालतरौ
गोपिता तमालतरौ रे।

(वाग्वधूटी, पृष्ठ–63)

चैत के महीने मे चैता[1], फाल्गुन के महीने का फाग[2], चौताल और रसिया, सावन के गीत आदि ऋतुकाल और पर्व को अपने छन्द और लय से बाँधते हैं। सावन के गीत ब्रजक्षेत्र में एक अलग पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किये जाते हैं जिसमें मायके में बैठी हुई बाला अपने प्रिय के विरह में संतप्त है। अपने कष्ट, अपनी पीड़ा को वह अपनी माँ अथवा सहेलियों से बाँटती है –

श्रृणु रे मातः श्रावणमासोऽप्यायातः
नाद्य प्रेयानायातः स्फुरति गगनतले दामिनी।।
दृश्यन्ते परितोऽम्भः श्यामा मेघाडम्बरमालाः
अविरलवर्षणगहनगर्जनैः कम्पन्ते नववालाः
धनतमसाछन्ने गगने चलिते सुखशीतलपवने
भवति कामेहा मे स्वामिनी।

पुत्र जन्म के अवसर पर महिलाओं द्वारा गाया जाने वाला गीत 'सोहर' कहा जाता है, यथा –

दुरतानि विधुतानि कुरुते शुभानि साधु विदधाति रे
गङ्गे तव नीरगाहनं वितनुते विबुधलोकमनुयाति रे।

(वाग्वधूटी, पृष्ठ–73)

इस प्रकार गीतों की अन्य अनेकों विधाओं में कवियों ने अपने भावों को अभिव्यक्ति दी है। कहीं यह क्षेत्र से प्रभावित है तो कहीं वर्ग विशेष से,

1. वाग्वधूटी, पृष्ठ–61
2. अभिराजयशोभूषणम्, पृष्ठ–264

कहीं ऋतु के आगमन का संकेत करती हैं तो कहीं उत्सव और पर्वों को अभिव्यञ्जित करती है। अभिराज ने प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष की विध ााओं को अपने काव्य संकलनों में उतारने का प्रयास किया है। परन्तु वहाँ भी उस छन्द में अधिक माधुर्य प्रतीत होता है जिसकी जमीन से वे जुड़े हैं। अन्य कवियों ने अपने विशिष्ट छन्दों को ही अपनी शैली बना लिया है और वे उसी में डूबकर अपने भावों और अनुभूतियों को शब्द देते रहे हैं। अभिराजयशोभूषणम् में इन समस्त विधाओं को उदाहरण सहित विस्तार से वर्णित किया गया है। इच्छुक पाठक वहाँ पर इसमें अवगाहन कर सकते हैं। तत्वतः कह सकते है ंकि आंचलिकता में शब्द अभिव्यक्ति और विधाएँ तीनों ही समाहित हैं।

(4) **हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू का प्रभाव** – संस्कृत साहित्य की अर्वाचीनता इस बात का प्रमाण है कि इस भाषा ने स्वयं को युगानुरूप सिद्ध किया है। परन्तु अद्यतन जीवन का चित्रण करने के लिये संस्कृत सर्जक को कुछ ऐसे शब्दों की तलाश करनी पढ़ रही है जो सामान्य बोलचाल की भाषा से मिलते जुलते हों। जिससे उसका अभिप्रायः समझने के लिये पाठक को मशक्कत न करनी पड़े। बहुत से शब्द उसके शब्दकोश में ही नहीं हैं क्योंकि उन वस्तुओं और यन्त्रों का आविष्कार ही अर्वाचीन युग की देन है। ऐसी स्थिति में उन वस्तुओं का वर्णन जब वह संस्कृत में कर रहा होता है उसे शब्दों की तलाश होती है और उन शब्दों को कभी तो वह यथावत 'इति' करके लिख देता है और कभी सर्वाधिक साम्यता और एकरूपता के आधार पर स्वीकार कर लेता है। इसमें अधिकांशतः अंग्रेजी और उर्दू का प्रयोग दिखाई देता है। दृक्–21 में देवर्षि कलानाथ शास्त्री जी का इस विषय में एक पूर्ण लेख मिलता है '**नई अभिव्यक्तियों के लिये शब्दों की तलाश**' इसमें उन्होंने काव्य में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में अन्य भाषाओं के प्रयोग की बात कही है। उनका मत है कि जब तक अधिकृत शब्दकोश आधुनिक शब्दों के संस्कृत शब्द गढ़ते हैं तो उसके दो प्रकार हैं प्रथम ध्वनिसाम्य से, जैसे डॉक्टर को द्राक्तरः, मोटर के लिये मरुत्तरयानम्। दूसरा प्रकार है कि उस शब्द को अपनी भाषा में उतारकर शब्द बनाना। जैसे बोतल के लिये 'काँचकूपिका',

ट्रेन के लिये 'बाह्ययानम्'। परन्तु यदि इन दोनों प्रकार से शब्द नहीं बन पाते हैं तो मूल शब्द को उद्धृत कर उसमें 'इति' लगाकर काम चलाया जा सकता है जैसे 'सोनोग्राफी' इति विधिना परीक्षणं कृत्वा।

हर्षदेव माधव ने 'नवनवोधूर्तविभूतियोगः' में इस प्रकार का प्रयोग किया है यथा –

'स्टाक एक्सचेन्ज' इत्याख्ये व्यापारे लोकवञ्चकः
'सेन्सेक्स' इति मे गोत्रं देशभूकम्पकारकम्।
(साम्मनस्यम्–99)

बिना 'इति' लगाये भी माधव ने अनेक स्थानों पर अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया है। 'भाति ते भारतम्' में इस प्रकार के अनेकों उदाहरण मिलते हैं –

'नग्नता' यत्र चित्रावली संस्तुता 'सेक्स' गीतस्वरैर्गीयतेवासना
वृत्तपत्राण्यपि त्यक्तलज्जानि च,टी0 वि0 चेनेल्मयं कामुकं भारतम्
(पृष्ठ–18)

हर्षदेव प्रयोगशील कवि हैं अतः उनकी भाषा में अंग्रेजी एवं उर्दू शब्दों की बहुलता है यद्यपि इसके कारण उन्हें संस्कृत के पारम्परिक साधकों की भ्रूभंगिमा का शिकार भी होना पड़ता है परन्तु वह अपने भावों के स्वाभाविक प्रवाह में कोई गतिरोध स्वीकार नहीं करते वह कवि पहले हैं भाषा विज्ञानी बाद में। यही कारण है कि उनकी समस्त रचनाओं में इस प्रकार के शब्दों का बाहुल्य है। रेवेन्यूस्टाम्प, वोडकापर्यन्तम्[1], रेडलाइट एरिया, कोफी, सोफा[2], टावर, बाथटब, टेबल, मेक्सी, मिडी, बाथिंग कास्ट्यूम, कॉन्सटेबल, मिनीस्कर्ट, ब्लैकआउट[3] आदि अनेक अंग्रेजी शब्दों को उन्होंने पाणिनीय प्रयोग के बिना अपने काव्य में उतारा है। कहीं कहीं विसर्ग एवं 'कौमा' में बाँधते हुए उनका प्रयोग किया है तो कहीं इति पर्यन्तम जैसे शब्दों के साहचर्य के साथ। उर्दू के उदाहरण उनके काव्य में कम मिलते हैं परन्तु उनका अभाव नहीं कहा जा सकता। भावस्थिराणि में एक स्थान

1. निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–07
2. तव स्पर्शे स्पर्शे, पृष्ठ–147, 149
3. भावस्थिराणि पृष्ठ–115,249,257,265

पर 'मजलिस' का बहुत ही भावपूर्ण प्रयोग दृष्टव्य है –

कस्मिश्चद्ग्रामे 'मजलिसे' (रात्रिगोष्ठ्यां)

द्राक्षासवबिन्दुषु निमज्जेद् रात्रिः (भावस्थिराणि, पृष्ठ–19)

यद्यपि यहाँ रात्रिगोष्ठी को कोष्ठक में लिखकर उन्होंने अपने भाषा ज्ञान का परिचय दे दिया है परन्तु 'मजलिसे' का प्रयोग द्राक्षासव की बिन्दुओं में डूबी रात्रि 'मजलिस' से ही अधिक रूपान्तरित होती है। राम किशोर मिश्र ने भी स्टोव, गैस कुकर आदि शब्दों को बिना परिवर्तन के अपनी कविता में उतारा है –

कापि स्टोव–कुक्कर–गैसादेः प्रभावेण विहता निजगेहे
वधूः प्रज्वलति गेहे गेहे (विंशशताब्दी....... पृष्ठ–545)

कवि अभिराज राजेन्द्र मिश्र भाषा और भाव दोनों के ही अनन्य साधक हैं वे संस्कृत भाषा में भावपूर्ण शब्दों को गढ़ लेने वाले कुशल शिल्पी हैं उन्हें जब भी प्रयोग करते समय शब्दों की जरूरत होती है तो वह शब्द किसी अन्य भाषा से उधार नहीं लेते अपितु संस्कृत शब्दों में भाव को उतार कर ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं कि पाठक चमत्कृत हो जाता है। भले ही वह उर्दू हो अथवा अंग्रेजी उनके भावों के लिये तो भाषा अनुवर्तिनी हो ही जाती है। जैसे शालभञ्जिका में पासपोर्ट के लिए 'पारपत्र' शब्द का प्रयोग भाव और अभिप्राय दोनों ही दृष्टि से सटीक है – **देवभूमौ कृतप्रवेशानाम्**

पारपत्राऽर्पकं हरिद्वारम्

(शालभञ्जिका, पृष्ठ–86)

परन्तु कहीं कहीं पर उनकी भाषा में भोजपुरी प्रभाव परिलक्षित होता है। उर्दू की भावप्रवणता और नज़ाकत उनकी गज़लों में दिखाई देती है परन्तु शब्द प्रत्यक्षतः अपना अस्तित्व नहीं बदलते। इस विषय में कवि राधावल्लभ त्रिपाठी का मत है कि राजेन्द्र मिश्र की रचनाओं में हिन्दी वाक्य रचना एवं मुहावरों का प्रयोग बड़ी मात्रा में हुआ है परन्तु इससे संस्कृत का अपनापन लुप्त नहीं हुआ है वरन क्षेत्रीय से बोली नई पदावली पाकर वह सम्पन्न बनी है[1]। परन्तु कहीं कहीं पर अंग्रेजी भाषा के शब्द वहाँ की क्षेत्रीय भाषा से प्रभावित दिखाई देते हैं

1. संस्कृत साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ–203

डॉ0 रामप्रताप ने राकेट–इन्सेट–कम्प्यूटर–रेडियो–टेलिविजन आदि को यथावत रूप में प्रस्तुत किया है।

राकेट–इन्सेट–कम्प्यूटर/रेडियो टैलिविजनादीनि/सञ्चार माध्यमानि/प्रतिदिनमेव प्रयुनज्मि। (विंशशताब्दी..... पृष्ठ–473)

बनमाली बिश्वाल अंग्रेजी के 'चिप्स' शब्द को 'चीप्स' और 'हैप्पी बर्थ डे' को 'हापी बर्थ डे' कहते हैं उनकी 'वेलेण्टाइन' की अनुभूति इसी शब्द द्वारा व्यक्त की गई है।

नग्नपादाः कण्टकैराहताः
मार्गस्थैर्वा 'चीप्स्'–खण्डैः (ऋतुपर्णा, पृष्ठ–09)
सोत्साहं पाल्यतेऽद्यत्वे/नववर्षपूर्व रात्रि
एक्समास् 'वेलेण्टाइन' डे/पितृ श्राद्धः सुविस्मृतः
सम्पालयते विवाहवार्षिकोत्सवः/प्रतिवर्ष 'हापी बर्थ डे'
(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–19)

बिश्वाल ने 'ई मेल'[1] शब्द को अनुवादित किये बिना स्वीकार किया है सम्भवतः इसका यही रूप अधिक समीचीन है। हर्षदेव माधव ने इस प्रकार का प्रयोग हिन्दी शब्दों में किया है जो यद्यपि अपाणिनीय है परन्तु उनके काव्य में दिखाई देता है –

का त्वं अलकनन्दे!
वेदानां गायत्री?
तुलसीदासस्य चौपाई?
'फिराक' गोरखपुरीगज़लपंक्ति?
(रथ्यासु जम्बूवर्षाणां........पृष्ठ–01)

बनमाली बिश्वाल भी उड़िया के 'चान्दा' को 'चन्दा' के रूप में प्रस्तुत करते हैं[2]। जो नितान्त हिन्दी का शब्द है और किसी भी कार्य के लिये पैसा इकट्ठा करने के प्रसंग में प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त 'झरना' को 'झरणा' कहकर वह उसको उड़िया भाषा में रूपान्तरित कर देते हैं। भले ही यह आंचलिक प्रभाव कहा जा सकता है परन्तु कवियों ने हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी को अपने काव्य में संस्कृत

1. वेलेण्टाइन डे सन्देश, पृष्ठ–24/44
2. ऋतुपर्णा, पृष्ठ–76

के साथ–साथ प्रयोग किया है। 'प्रेमिका'[1] इसे बिश्वाल बिना किसी परिवर्तन के अपने काव्य संकलन 'व्यथा' में प्रयोग करते हैं। हिन्दी और उड़िया दोनों में प्रेमिका प्रिया के अर्थ में आता है परन्तु यह उसका संस्कृतनिष्ठ रूप नहीं है। अतः इस प्रकार संस्कृत काव्य में अन्य भाषाओं को आत्मसात करने की जो प्रक्रिया अनवरत चल रही है उसका प्रभाव कवियों की काव्य दृष्टि पर दिखाई देता है।

यद्यपि विद्वान संस्कृत साधकों द्वारा इस विषय पर बार–बार आपत्ति उठाई जाती रही है कि संस्कृत अपने परिमार्जित और परिष्कृत रूप में ही अक्षुण्ण रखी जाए परन्तु ऐसे में प्रश्न उठता है कि आखिर कब तक हम उसे यथावत रूप में सहेजे रहेंगे, समय के साथ चलना है तो युग की माँग के अनुरूप परिवर्तन तो करना ही होगा। जैसे–रामकृष्ण शास्त्री जब 'भज नेतारं' की स्तुति को कुछ इस प्रकार कहते हैं –

भज नेतारं भज नेतारं भज 'चमचा' रे
नेता माता, नेता तातः नेता भगिनी नेता भ्राता।

यहाँ 'चमचा' में किसी अन्य संस्कृतनिष्ठ शब्द द्वारा इतनी व्यञ्जना उत्पन्न करना कठिन है। अतः चमचा का अर्थ इसी शब्द में निहित है। इसी प्रकार सीतानाथ आचार्य का चायस्त्रोत भी चाय शब्द को संस्कृत भाषा में परिवर्तित किये बिना लिखा गया है। क्योंकि यहाँ अन्य उष्णपेयः जैसा शब्द चाय को व्याख्यायित नहीं कर सकता। अतः कुछ शब्द अपने अखण्ड अस्तित्व के कारण उसी भाषा में स्वीकार एवं स्वागत करने योग्य है।

(5) **अति प्रचलित संस्कृतेतर शब्दों का प्रयोग** – शिल्प के स्तर पर आज का संस्कृत कवि बन्धन मुक्त हो चुका है। परम्परागत छन्दों का मोहपाश शिथिल हुआ है। भाषा का रूप और उसके शब्दों को प्रयोग करने में भी हमारा चिन्तन भिन्न–भिन्न है। कुछ सर्जक संस्कृत से अलग जो अन्य भाषाओं के शब्द हैं उन्हें यथावत उतारने के पक्षधर हैं क्योंकि उनका मत है कि ऐसा करने से संस्कृत को जनमत मिलता है। परन्तु कुछ रचनाधर्मियों को इस प्रकार की हठधर्मी पर

1. व्यथा, पृष्ठ–24

आक्रोश है उन्हें भाषा से की गई यह छेड़छाड़ पसन्द नहीं क्योंकि उनका मत है कि ऐसा करने से हमारी भाषा का स्वरूप विकृत होगा। अतः समय की माँग के अनुसार नये काव्यशास्त्र एवं शब्दकोशों का निर्माण किया जाए जिसमें सर्वसम्मति से नये शब्द और शैली का सृजन हो। परन्तु द्वितीय मत में समस्या सर्वसम्मति की है प्रत्येक व्यक्ति अपने अंचल से प्रभावित होता है अतः शब्दों के निर्माण में एकमत होने की समस्या आती है। प्रायः सर्जक अपने क्षेत्र विशेष से जुड़े शब्द से ही संस्कृत शब्द का निर्माण करता है। देवर्षि कलानाथ शास्त्री का दृक में प्रकाशित लेख "**नई अभिव्यक्तियों के लिए शब्दों की तलाश**" में इस विषय को विस्तार से वर्णित किया है। उन्हें इस बात का अनुभव है कि यदि हर पण्डित अपनी मति से अपना शब्द बनाने लगे तो कितना 'वैविध्य' कितनी अराजकता और कितनी अल्पबोध्यता आ जायेगी। अतः उनका मत है कि नित्यप्रति के जीवन से जुड़ी अभिव्यक्तियों के लिये संस्कृत समाचार बुलेटिनों में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है उसमें प्रयुक्त होने वाले शब्द सटीक और उपयुक्त हैं अतः उन्हें संस्कृत साहित्य सर्जना में उतारना बेमानी नहीं है।

हिन्दी लेखक शिवपूजन सहाय का मानना है कि भाषा का रूप और साहित्य की दिशा निश्चित करने में न तो हम एक मत हैं और न तत्पर। जो हम रच दें उसी को साहित्य कह रहे हैं संस्कृत में मौलिक लेखन में भी इसी प्रकार की संरचनाएँ उभरकर सामने आ रही हैं। दृक 1 की भूमिका भाग में शिव कुमार मिश्र कहते हैं –

"आधुनिक संस्कृतसाहित्य की भाषिक संरचना भी कुछ बदली बदली सी दिखती है। संस्कृत भाषेतर सहस्राधिक शब्दों की निःसंकोच प्रयोगशीलता एवं पाणिनीय नियमों की शिथिलता आधुनिक संस्कृत में आसानी से पहचानी जा सकती है। जटिल सन्धि–समास, बहुल चमत्कार और पाण्डित्यपूर्ण शैली अपनी आभा अनुदिन खोती जा रही है। अब कवि को सहज, सुलभ अभ्यस्त संवादात्मक भाषा स्पृहणीय हो चली है।" **(पृष्ठ–16)**

अतः अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का अवलोकन करने पर एक तथ्य

भाषा से जुड़ा हुआ यह भी दिखाई देता है कि काव्यकारों ने संस्कृतेतर शब्दों का प्रयोग करते हुये अपनी रचनाओं में सरलता और सहजता का आधान किया है। अति प्रचलन में होने के कारण जो शब्द समाज में लोकप्रिय हो जाते हैं उनका काव्य में प्रयोग होने पर पाठक वहाँ अपनापन अनुभव करता है। यथा राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपनी कविता में जल की ध्वनि में तारतम्यता बनाते हुये संस्कृत से अलग लोकभाषा का प्रयोग किया है –

अधिस्थण्डिलमेवासौ स्नाति मन्त्रं जपन् मुदा
छप्छप–ध्वनिरावोऽत्र नेत्रेणैव निशम्यते

(सन्धानम्, पृष्ठ–23)

यहाँ पानी की छप–छप ध्वनि को संस्कृत भाषा में इतना नादकारक बनाना असम्भव था। इसी प्रकार केशवचन्द्रदाश ने बुद–बुद[1] उपमाने–अभिमाने में लौकिक शब्द का प्रयोग किया है।

भाषा एवं शिल्प के समर्थ कवि बनमाली बिश्वाल ने प्रणयी और प्रणयिनी के लिये प्रेमी–प्रेमिका[2] शब्दों का प्रयोग किया है और निर्झर को उड़िया में 'झरणा' कहने के कारण उन्होंने उसे उसी रूप में अपने काव्य का विषय बनाया है। लगता है जैसे काव्य की जीवन्तता बनाने के लिये कवि ने भाषान्तर के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है[3]। 'ढाबा' शब्द एक विशिष्ट भोजनालय का प्रतीक है जिसे किसी अन्य शब्द द्वारा मूर्त नहीं किया जा सकता अतः कवि को यह उसी रूप में स्वीकार है –

प्रत्यावर्तनकाले तु
मार्गपार्श्वे 'ढाबायां' भोजनं
मांसहारात् शाकहारात् परं
सामूहिकं किञ्चित् मद्यपानं
सिद्धत्यत्र चन्दावरदानम्

(ऋतुपर्णा, पृष्ठ–77)

यहाँ ढाबे के साथ–साथ 'चन्दा' शब्द का भी संस्कृतेतर शब्दों में

1. ईशा, पृष्ठ–17
2. ऋतुपर्णा, पृष्ठ–127,128
3. ऋतुपर्णा, पृष्ठ–47 "टा–टा" अभिवादयितुं

प्रयोग किया गया है। क्योंकि आधुनिक समय में चन्दा इकठ्ठा करना नैतिक अनैतिक दोनों स्थितियों का बोध कराता है परन्तु यह स्थिति चन्दे के उपयोग पर निर्भर करती है। 'चन्दा' शब्द को सम्भवतः उसकी आत्मा के साथ–साथ अन्य भाषा में उतारना दुस्साध्य है।

हर्षदेव माधव ने भी अन्य भाषा के शब्दों को अपने काव्य में बहुत ही मसृणता से उतारा है।

धारावाहिन्यां (Pen)
वर्षाऽऽविलजलमस्ति मसीरूपेण[1]

यहाँ 'मसी' शब्द गुजराती और हिन्दी दोनों मे स्याही अर्थ को व्यक्त करता है। इसी प्रकार –

प्रणय
कम्बलसदृशोऽस्ति
दुःखशैत्ये जीवनं रक्षितुम्

(निष्क्रान्तासर्वेः पृष्ठ–126)

अन्यत्र –

फ्लेट टेनामेंटकक्षेषु
केक्टस प्रजाः वृद्धिं गच्छन्ति
कोफिपात्रेण सह ओष्ठौ स्पृशतः
विवित्तवाष्पम्। सिगरेटधूमेन सह
बहिर्गच्छत्यौदासीन्यं वलयितम्

(निष्क्रान्तासर्वेः पृष्ठ–117)

इनमें कम्बल, सिगरेट, कॉफी, कैक्टस, फ्लैट आदि शब्द अन्यभाषा के होने पर भी पाठकों को कविता से अधिक जोड़ते हैं।

कुछ शब्द एक विशिष्ट भाव से इतने घनिष्ठ हो गये हैं कि उनका भाषानुवाद बहुत ही दुःसाध्य है अतः कवियों द्वारा यथावत रूप में ही उसकी प्रस्तुति कविता में सौन्दर्यबोध को जन्म देती है। यथा रमाकान्त शुक्ल की कविता का एक छन्द दृष्टव्य है –

अपि सहे बलात्कारान् हत्या
अपहृतीस्तथा तस्करवृत्तीः

1. भावस्थिराणि ...., पृष्ठ–18

नो सहे किन्तु देशस्य भंग
मुन्निद्रा भारतजनताहम्

(सर्वशुक्ला –148 / 23)

बलात्कार अथवा तस्करी के भाषान्तर से दुरुहता तो आ सकती है परन्तु चित्रमयी अनुभूति नहीं। अतः किञ्चित उदाहरणों से यह बात तो निस्संदेह स्पष्ट होती है कि संस्कृत शब्दों का प्रयोग संस्कृत भाषा को प्रायः युगानुरूप बनाने के लिये कवियों द्वारा किया जा रहा है उसकी अवमानना करना कवि का उद्देश्य नहीं है।

(6) **भाषागत स्खलन** – जहाँ तक अर्वाचीन काव्य भाषा का प्रश्न है वहाँ संस्कृत रचनाकारों में एक संस्कार उत्पन्न हुआ है कि वह अन्य भाषाओं के अति प्रचलित शब्दों को यथावत संगृहीत कर रहा है। भाषा को जीवन्त बनाने के लिये कवि उन शब्दों को अपने सृजन कौशल से ऐसा तराशता है के उसमें जनमानस तक पहुँचने की गन्ध भी बनी रहे और व्याकरण के साथ बहुत खिलवाड़ भी न हो। इसका कारण यह है कि अर्वाचीन काव्य में आज जनभावनाओं, उसकी रुचि और सामयिक समस्याओं के तालमेल को संतुलित करने के प्रयास चल रहे हैं। भाषागत परिवर्तन भी उनकी रचनाधर्मिता का अंग होते जा रहे हैं। विचारक दयानन्द भार्गव का मत है कि –

"कवि संस्कृत भाषा के श्रृंगार के उपकरण कोश, व्याकरण और साहित्य से बटोर सकता है, व्यवहार, जीवन और समाज से नहीं। परिणामतः वह भाषा को जड़ आभूषणों से सजा सकता है, जीवित अलंकरणों से नहीं। संस्कृत–कामिनी के निवास के लिये पत्थर के प्रासाद उपलब्ध हैं किन्तु मिट्टी की सौंधी सुगन्ध उसे दुर्लभ है।"

कहने का अभिप्रायः यह है कि हमें संस्कृत साहित्य को तो आधुनिकता से जोड़ना है परन्तु पुराने साहित्य से तोड़कर नहीं। भले ही वह तथ्य की बात हो अथवा कथ्य की। नवीनता हर दृष्टि से सौन्दर्य शालिनी हो यह आवश्यक नहीं। आज भाषा में आ रही अशुद्धियाँ, व्याकरण दोष रचनाकार की शास्त्रहीनता और चिन्तन की

लघुता को व्यक्त कर रहे हैं। काव्य में शब्द, छन्द और भाव की स्वतन्त्रता और उच्छृंखलता से तो भाषा का रूप विकृत होने की सम्भावना है। संज्ञा पदों और क्रियापदों को तो व्याकरण के अनुरूप ही चलना चाहिये। दृक के 15–16 अंक में प्रभुदत्त शर्मा कहते हैं कि

"कवि जनों से अनुरोध है कि वे इन बातों का ध्यान रखें। अधिक मलिनता के कारण हमारी गंगा और यमुना जैसी पूज्य और पवित्र नदियाँ आज मलिन हो गई हैं उनकी वह महिमा नहीं रह गई है। इसी प्रकार अधिकाधिक विदेशी शब्दावली का मिश्रण इस संस्कृत गङ्गा को मलिन कर देगा।" यह संकेत है उन नवलेखकों के लिये जो शब्दों की जोड़ तोड़ करके काव्य शिरोमणि होने का स्वप्न पाल रहे हैं।

वस्तुतः संस्कृत लेखन में भाषागत स्खलन की ओर किया गया यह संकेत इस बात का प्रतीक है कि आधुनिक लेखन कहीं उत्पाद वस्तु बनकर न रह जाये। व्याकरण की शिथिलता से युक्त काव्य का आनन्द आधुनिक फिल्मी गीतों जैसा है जिनमें कर्णभेदी संगीत में विलुप्त हुये शब्द और शोर तो है परन्तु स्थायी आनन्द नहीं। कुछ दिनों में वह विस्मृति के गर्भ में चला जाता है। गीत, काव्य, संगीत किसी भी भाषा का हो स्थायी तब ही होता है जब उसकी भाषा न तो बहुत दुरुह हो और न सतही। एक मध्य मार्ग पर चलते हुये भाषिक स्खलन से बचते हुये ही लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

कुछ कवियों ने इस स्खलन को लोकधर्मिता अथवा आंचलिकता का प्रभाव कहकर अपना पल्ला झाड़ लिया है। छन्द में मात्रिक दोष हों तो यह मुक्त छन्द है। व्याकरण दोष हों तो यह क्षेत्रीय प्रभाव है और कथ्य में व्यञ्जना न हो तो यह सरल सहज शैली है ऐसा कहते हुये कुछ अर्वाचीन कवि अपनी काव्य यात्रा की ओर अग्रसर है। यहाँ किसी भी कवि का उदाहरण देना विवाद ही जन्म देगा। अतः इतना ही कहकर इस बात को विराम देना उचित है कि आधुनिकता के नाम पर भाषागत स्खलन होना अनुचित है हमें भाषान्तर प्रभाव का स्वागत करना है, अपने शब्द भण्डार को समृद्ध करना है परन्तु एक लक्ष्मणरेखा की परिधि में जिससे संस्कृत भाषा रूपी सीता की अस्मिता बनी रहे।

(6) **अनूदित काव्य** – बीसवीं सदी के संस्कृत साहित्य का एक वैशिष्ट्य है उसका अनूदित काव्य। भारतवर्ष के ही नहीं अपितु विश्व की विभिन्न भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य को संस्कृत में अनूदित करने की प्रवृत्ति निरन्तर जारी है। फारसी की अलिफ लैला की कहानियों का संस्कृत अनुवाद संस्कृत चन्द्रिका से शुरू हुआ। हिन्दी के अनेक कवियों के छन्दों को संस्कृत में अनुवादित किया गया। 'गालिवकाव्यम्' लिखकर जगन्नाथ पाठक ने उर्दू कवि गालिब को संस्कृत में उतार दिया। 'इकबालकाव्यदर्शनम्' में कवि इकबाल का काव्य है। डॉ0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने अंग्रेजी कवियों की चुनी हुई कविताओं को संस्कृत में अनूदित किया जो बनारस से अस्ताचलीयम् शीर्षक से प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त उमरखय्याम, शेखसादी आदि फारसी कवियों का काव्यानुवाद गिरधर शर्मा नवरत्न, आचार्य धर्मेन्द्रनाथ अरोड़ा आदि ने किये।

आधुनिक युग में अनुवाद करने की यह प्रवृत्ति निरन्तर जारी है। अन्य अनेक कवियों ने अन्य भाषाओं के लघुकाव्यों का संस्कृत में पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है इसमें संस्कृत साहित्य की समृद्ध परम्परा को दिशा मिली है। वी. सुब्रह्मण्यम अय्यर ने 'पद्यपुष्पाञ्जलि' में अंग्रेजी भाषा की अनेकों कविताओं का संस्कृत में अनुवाद किया। एम. ओ. अवरा के मूल मलयालम काव्य का श्री के. पी. नारायण पिषारोटी ने 'महात्यागी' नाम से अनुवाद किया। टैगोर की बंगला कविताओं का फटिकलाल दास द्वारा, 'तिरुक्कुरल' तमिल कविता का अप्पा बाजपेयी द्वारा तमिल कवि औव्वई की कविताओं का वाई. महालिंग शास्त्री द्वारा, श्री अरविन्द की कविताओं का टी. वी. कपालिशास्त्री द्वारा, रघुनाथ चौधरी के असमिया भाषा मेंलिखित काव्य का पं0 मनोरञ्जन शास्त्री द्वारा 'केतकी काव्यम' नाम से अनुवाद किया गया। इसके अतिरिक्त तेलगू भाषा के अनेक शतकों को वरदाचारियर द्वारा अनुवादित किया गया। हिन्दी भाषा के कवि बिहारी की सतसई को प्रेमनारायण द्विवेदी ने 'सौन्दर्यसप्तशती' नाम से अनूदित किया।

वस्तुतः संस्कृत में अनूदित कविता का अपना विशिष्ट स्थान है। अनेकों पत्रिकाओं में संस्कृतेतर भारतीय भाषाओं की कविताएँ

अनूदित होकर छप रही हैं। कुछ कवि अपनी मातृभाषा में छपी श्रेष्ठ काव्य कृतियों को संस्कृत भाषा में अनुवादित कर प्रकाशित कर रहे हैं। ओडिशा के सनातनपण्डा ने प्राचीन ओडिया कवियों के काव्य का अनुवाद किया। क्षीरोदचन्द्र दाश ने कवि राधानाथ राय के चिलिका काव्य का संस्कृत में अनुवाद कर प्रकाशन कराया। गुजरात के जसवन्ती देव ने गुजराती कवियों की कविताओं को संस्कृत में अनूदित करके 'सेतुबन्ध' शीर्षक से प्रकाशित किया।

संस्कृत भाषा की रचनाएँ क्योंकि एक वर्ग विशेष तक सीमित रहती हैं अतः अनूदित साहित्य से इस भाषा की व्यापकता को एक क्षितिज मिलता है। अभिराज राजेन्द्र मिश्र की 'कनीनिका' की भूमिका में एक प्रसंग मिलता है कि उनको गज़ल की प्रेरणा अनुवाद के फलस्वरूप ही मिली। वे उर्दू में गज़ल की नज़ाकत, नफ़ासत से प्रभावित थे। उन्होंने जब युवावस्था में गोण्डा के एक कवि सम्मेलन में दादा बलवीर सिंह रंग की गज़लें सुनी तो उनका कवि चिन्तन हिलोरें मारने लगा। उन्होंने सुबह ही अपनी यात्रा के मध्य उन गज़लों को संस्कृत में अनुवादित कर दिया बाद में जब वे संस्कृत गज़ल जो उर्दू से अनूदित थीं मंच पर सुनाई गईं तब वही प्रथम प्रस्तुति उनके लिये एक अमिट पहचान बन गई। कुछ अनुवाद अपने मूल रूप में प्रस्तुत हैं –

मूलरूप – जमाना आ गया रुसवाइयों तक तुम नहीं आये
जवानी आ गई तन्हाइयों तक तुम नहीं आये

अनुवाद – **लोकस्समागतो रोषं यावन्नायातस्त्वम्**
यौवनमप्येकाकित्वं भेजे नायातस्त्वम्

मूलरूप – किसी को देखते ही आपका एहसास होता है
निगाहें आ गई परछाइयों तक तुम नहीं आये

अनुवाद – **दर्शनमात्रनैवं कस्यचित् स्मृतिं भवानेति**
प्रतिबिम्बे लोलुपा दृष्टयो मे नायातस्त्वम्

(कनीनिकाःभूमिका, पृष्ठ–12,13)

अभिराज ने अन्य अनेकों अनुवादित काव्य से संस्कृत भाषा का श्रृंगार किया है। संस्कृत को विस्तार के पालने में झुलाने के लिये आपने

'शकुन्तला' नाम से 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का भोजपुरी में अनुवाद किया है। जिससे कालिदास संस्कृत के साथ–साथ उस अंचल के लिये भी सुविज्ञ हों।

राधावल्लभ त्रिपाठी जी श्रेष्ठ कवि, लेखक एवं समीक्षक होने के साथ–साथ कुशल सम्पादक भी हैं और सदैव ही अनुवादित साहित्य को प्रोत्साहन देते रहे हैं। त्रिपाठी जी ने मैथिलीशरण गुप्त की पञ्चवटी खण्डकाव्य का संस्कृत के अनुष्टुप छन्दों में अनुवाद किया है जो 64 कुलकों में विभक्त है –

ध्यानलग्ना विभान्त्येते वैतालिक–विहङ्गमाः
नव्यकाव्यस्य निर्माणे तल्लीनाः कवयो यथा
(पृष्ठ–12/2)
अबला प्रबला नूनं जायते चापमानिता (36/1)

कवि ने अपने व्यक्तिगत वैशिष्ट्य से भी इसमें चमत्कार उत्पन्न किया है।

हरे कृष्णमेहेर ने केवल संस्कृत भाषा में ही नहीं अपितु अनेकों संस्कृत काव्यों का ओडिआ, कौशली, अंग्रेजी, हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवाद किया है। रामायणकथा पर रचित 'तपस्विनी' काव्य में 11 सर्ग हैं। मूल कवि गङ्गाधर की भाषा भवभूति से अधिक प्रभावित प्रतीत होती है।

ओडिया मूल –

प्रकृतिरञ्जने येवे हुए प्रयोजन/करिपारे प्राणसमा सीता विसर्जनं अष्टावक्रमुनि आगे याहा भाषिथिल/स्मरूथिव से प्रतिज्ञा न करि शिथिल

अनुवाद –

प्रजारञ्जनस्य चेत् आवश्यकता भवेत् प्रभवामि
परित्युक्तं प्रियतमाम्/सीतामपि मे प्राणसमाम्
अष्टावक्रमुनेः समक्षमित्थम्/त्वया प्रतिजातं
वचनमवितथम् सा प्रतिज्ञा तव स्मरण–
धृता/भवेत्निशितमश्चिथिलीकृता

इसके अतिरिक्त हर्षदेव माधव की सृजनात्मक दृष्टि सदैव अनुसन्धेय रही है। आपने अमरूकशतक का गुजराती में अनुवाद किया और अनेकों अंग्रेजी कविताओं को उसी भावभूमि में संस्कृत भाषा में अनूदित किया।

बनमाली बिश्वाल ने भी ओडिआ काव्य के मूल जगन्नाथ जी पर दारूब्रह्म लिखकर अपने को अनूदित साहित्यकारों की श्रेणी में शामिल कर लिया। दारूब्रह्म की भाषा में अनेकों उड़िया शब्दों का प्रयोग मिलता है। बिना उस भाव को समझे उनका अर्थ समझना कठिन है।

नारायण दाश ने वाजिराउत खण्डकाव्य को संस्कृत में उतारा है। इसके अतिरिक्त श्री प्रेमनारायण द्विवेदी(सागर), श्री गदाधर दाश, पं0 वैकुण्ठविहारीनन्द शर्मा(ओडिआ), धर्मेन्द्रकुमार सिंह देव(जम्मू), अच्युतानन्द दाश(सागर), कृष्णकेशवषडङ्गी(भुवनेश्वर), श्रीरामदेव(जयपुर), श्रीमती आराधना धर्माधिकारी(जयपुर), गोविन्द्र चन्द्र उद्गाता(इलाहाबाद), सदानन्द दाश आदि अनूदित साहित्य के क्षेत्र में प्रतिश्रुतिबद्ध नाम हैं। इनकी रचनाओं में अनूदित साहित्य का भविष्य सुरक्षित है। कुछ संस्कृत पत्रिकाएँ संस्कृत प्रतिभा, सम्भाषण संदेश, भारतमुद्रा, दूर्वा, कथासरित् लोकभाषा सुश्री, भारती, संस्कृत मञ्जरी, अमृतभाषा आदि भी इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर रही हैं। सम्भाषण संदेश में कहानियों और कविताओं दोनों का संस्कृत अनुवाद मिलता है। तुलसीदास की कवितावली का संस्कृत अनुवाद प्रेमनारायण द्विवेदी ने और रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड का अनुवाद शिवकुमार शुक्ल और शिव सागर त्रिपाठी ने किया है।

वस्तुतः सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत साहित्य में मौलिक सर्जन के साथ–साथ अनूदित साहित्य का भी निर्माण होता रहा है और आज भी इस क्षेत्र में कार्य जारी है। इस रूपान्तरण से संस्कृत शब्दों का भण्डार और भी समृद्ध हुआ है। परन्तु इसमें सर्वाधिक चिन्तन का विषय यह है कि अनुवाद बहुत ही सावधानी से किया जाये। कई बार सफल अनुवाद के अभाव में उन कृतियों का मूल तत्व नष्ट हो जाता है। कुछ भाषाएँ जैसे गुजराती, ओडिआ,

बंगला, हिन्दी, अंग्रेजी, कन्नड़, मराठी आदि भाषाओं के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में उतनी सफलता से कार्य नहीं हो पा रहा है संस्कृत साहित्य को उनसे भी अपेक्षा है।

अन्ततः यही कहा जा सकता है के संस्कृत किसी व्यक्ति अथवा प्रदेश की भाषा नहीं है। हजारों वर्षों की चिन्तन धारा इसमें प्रवाहित है। अपने अगाध शब्द भण्डार से वह अन्य भाषाओं का पोषण कर रही है। यद्यपि उसमें भी अन्य भाषाओं के शब्द आ रहे हैं परन्तु उन शब्दों में अपनत्व है, संस्कृत की सुगन्ध है और दूध पानी की भाँति मिल जाने का आश्वासन है। आवश्यकता अब इस बात की है कि हम संस्कृत की पल्लवित एवं पुष्पित होती हुई इन नवमालिकाओं से अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करें। अतः जनसामान्य को इसके साथ जोड़ने के लिये वस्तु, शिल्प और संरचना तीनों पर ही दृष्टि केन्द्रित करनी होगी।

सप्तम अध्याय
छान्दस नवप्रयोग

अर्वाचीन संस्कृत काव्य में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है उसमें छन्दों पर किये गये नवप्रयोग भी उल्लेखनीय है। भले ही वह देशी छन्दों की बात हो अथवा विदेशी छन्दों की, कवि ने छन्द शास्त्र की परम्परा से चार कदम आगे बढ़कर स्वयं को लोकधर्मी सिद्ध करने का प्रयास किया है। अतः इस नवप्रयोग में जो भारत की ज़मीन से जुड़े छान्दस नवप्रयोग हैं उन्हें लोकधर्मी छन्द कहा गया है।

'अभिराजयशोभूषणम्' में डॉ0 मिश्र ने गीतभेद निरूपण करते हुये लिखा है कि "कर्ण कुहरों' के लिये जो गीत अमृत तुल्य होता है वह धातु और मातु से समन्वित होकर नादात्मक एवं अक्षरात्मक इन दो रूपों में विभक्त है। धातुज गीत उसे कहते हैं जो वेणु तथा वीणा आदि यन्त्र समूह से प्रस्फुटित होता है। मातुज गीत को मुँह से कढ़ने वाला भी कहते हैं जो कि गायन के रूप में विद्यमान है। यही गीत जब शास्त्रसम्मत रागों के माध्यम से गाया जाता है तो उस प्रकार के गीत काव्यों को रागकाव्य कहते हैं और जो गीत स्वतन्त्र रीति से सम्प्राप्त कण्ठध्वनि के अनुसार सुखपूर्वक तथा जनपद, ग्राम, कुल, जाति की परम्परा के अनुसार गाया जाता है वह संगीतशास्त्र नियमों से रहित बन्धनमुक्त आनन्द देने वाला गीत लोकगीत कहा जाता है।"

तच्च सद्योरसानन्ददायकं गतबन्धनम्
शास्त्रनियमनिर्मुक्तं लोकगीतं समुच्चते (254/7)

यहाँ पर रागकाव्य के लिये संगीत शास्त्रसम्मत होने की बात कही गई है और लोकगीतों के लिये जो राग प्रयुक्त किये जाते हैं उनका लोकसम्मत होना आवश्यक है।

लोकधर्मी छन्द

परन्तु लोकधर्मी छन्दों को प्रयोग करने का उद्देश्य परम्परागत छन्दशास्त्र का उल्लंघन करना अथवा उसकी अवहेलना नहीं था अपितु संस्कृत को जन–जन से जोड़ना है। जब संस्कृत के छन्दों में

तत्कालीन समाज और संस्कृति की महक सुवासित होती है जो वह व्यक्तियों को खुद से जोड़ लेती है। वहाँ के आंचलिक छन्द लय के कारण अपरिचित भाषा को भी आत्मसात करने की क्षमता रखते हैं। इन छन्दों में सोहर, रसिया, लोरी, गज़ल, लावनी, ठुमरी, कजरी, कव्वाली आदि लोकगीत सम्मिलित हैं। क्योंकि यह गीत जनपद, गाँव, कुल तथा स्वजातीय परम्परा के अनुसार कण्ठ– ध्वनि के वैशिष्ट्य से गाये जाते हैं अतः इन्हें लोकगीत कहते हैं। जनपद के अनुसार रसिक(रसिया) लोकगीत ब्रजक्षेत्र में, बाउल बंगाल में, पण्डवानी छत्तीसगढ़ में, रागिणी हरियाणा में, सोहर, स्कन्धहारीय चैत्रक, नकटा, पचरा, वटुक, फाग उत्तर प्रदेश में, डाँडिया गुजरात में और अभंग महाराष्ट्र में गाया जाता है। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि गज़ल लोकधर्मी प्रयोग नहीं है यह आंचलिक न होकर वैदेशिक छन्द है। बात कुछ भी हो लेकिन इतना अवश्य है कि गज़ल परम्परागत संस्कृत छन्दशास्त्र से इतर अस्तित्व लिये हुये है आधुनिक संस्कृत काव्य में गज़ल की एक सुदीर्घ परम्परा दिखाई दे रही है। मुगलकाल का यह छन्द सर्वप्रथम फारसी में और उसके बाद उर्दू में अवतरित हुआ।

गज़ल

सर्वप्रथम भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने ब्रज भाषा के दोहा, सोरठा, कवित्त सवैया, घनाक्षरी का संस्कृत भाषा में प्रयोग किया है इसके अतिरिक्त गज़ल को फारसी गज़लकारों जैसी प्रतिष्ठा के साथ संस्कृत में प्रणीत किया। भट्ट जी का गज़ल लेखन के प्रति जो दृष्टिकोण था उसमें उनकी शास्त्रीय दृष्टि और विधिवत सैद्धान्तिक प्रक्रिया अनुस्यूत थी। इन विधाओं के व्यापक फलक पर संस्कृत कविता को स्थापित करने के लिये भट्ट जी ने सार्थक प्रयत्न किये जिससे संस्कृत भाषा को युगानुरूप और सरल तरल आलोक में प्रस्तुत किया जा सके। उन्होंने अपने विशाल मुक्तकसंकलन "साहित्य वैभवम्" में "उर्दूच्छन्दासि" शीर्षक अध्याय में छोटी–बड़ी 19 बहरों के नाम, लक्षण देकर स्वनिर्मित गज़लों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया। इन विविध भावभूमियों, विभिन्न छन्दों और शैलियों की गज़लों में कव्वालियाँ भी हैं, नात भी, प्रेम गीतियाँ हैं, नीतिउपदेशात्मकगीतियाँ

भी, युगीन विद्रूपताओं पर प्रहार भी हैं और क्रान्ति का आह्वान भी। उर्दू शैली की उनकी एक छोटी बहर की गज़ल दृष्टव्य है –

रतिविगमोऽद्य मानसे कोऽयम्
अवमनुते मुधैव लोकोऽयम्
विरहकृशं विलोक्य मामाह
न परिचिनोमि वर्तते कोऽयम्?
अयि भिषजो! मुधा निदानं वः
दुरवगमो ममाऽस्ति रोगोऽयम् (गीतिवीथी–56 / 30)

यहाँ विरहावस्था तो पूर्णतः उर्दू भावभूमि की है परन्तु बिम्ब भारतीय संस्कृति से जुड़े हुये हैं। इसी प्रकार निर्ममता का उलाहना और मन की पीड़ा को न समझने की अनुदारता को व्यक्त करती हुई उनकी एक और गज़ल में चन्दहास का प्रयोग विरही की वेदना को भारतीय बना देता है –

विरहाऽऽपगातटमुत्तरं पुनरागमिष्यति वा न वा
अपि मानसी मम वेदना विषमा गमिष्यति वा न वा
अयि चन्द्रहासमिमं दधासि जहासि वक्षसि मामके
किमवैषि ते निशितोऽप्यसिर्मयि संचलिष्यति वा न वा
(गीतिवीथी, 39–40)

वस्तुतः इस कालखण्ड के बाद भट्ट जी की ही शैली में गिरिधर शर्मा नवरत्न, रामनाथ प्रणयी, जानकी वल्लभ शास्त्री, हरिशास्त्री आदि कवियों ने इस विधा को पल्लवित एवं पुष्पित किया, तदनन्तर पं0 बच्चूलाल अवस्थी ने व्याकरण भाषा में सही वज़न और चलन की गजलें लिखकर संस्कृत पाठकों को चमत्कृत कर दिया उनकी गज़लों में संस्कृत भाषा की प्रौढ़ता के साथ–साथ गज़ल की नज़ाकत भी विद्यमान है। प्रेम, आशिकी, आँसू, वियोग से विलग नये भावबोध की गज़ल का रंग कितना विलक्षण है।

विस्मयाविष्टचेता विषीदामि किम्?
सम्प्रसादेन नक्तं न निद्रामि किम्?
नानुभावाः स्फुरन्ति प्रभावस्पृशो
नापि शब्दार्थसाहित्यमुन्नीयते

आविले मानसे को नु बिम्बग्रहो
भावहीनो विभावैनिर्बध्नामि किम् (प्रतानिनी, पृष्ठ–195)

यहाँ किम ऱदीफ है और विषीदामि, निद्रामि आदि काफिए हैं। इसी प्रकार भावों की ताजगी और गेयता लिये एक गज़ल अवस्थी जी की अद्भुत सर्जनशीलता की परिचायक है –

पिका मौनं भजरेन् मासि वासन्ते कथंकारम्
शरः शाकुन्तलः सिद्धयेन्न दुष्यन्ते कथंकारम्
भ्रुवोर्भङ्गभ्रमाद् भूम्ना निषेधाः सम्प्रीयेरन्
कपोलप्रान्तसंकेता निगूहयन्ते कथंकारम्

(प्रतानिनी, पृष्ठ–102)

यहाँ कोयल के वसन्त मास में मौन रहने पर भी तिरछी चितवन के तीर एहसास करा देते हैं कि प्रियनिमन्त्रण की ऋतु आ गई है। आँखों में, भ्रूभंगिमाओं में लाज के पहरे हैं, प्रियतम को रोकने का अनचाहा संकेत है परन्तु अनकहा निमन्त्रण, कपोलों को रोमाञ्चित कर रहा है। यहाँ भावनाओं में डूब जाने की ऐसी चाहत है जिसमें शब्द अबोले हो गये हैं।

वस्तुतः बच्चूलाल अवस्थी ने विरह मिलन की अनुभूतियों को तो उर्दू काव्य परम्परा में रससिक्त होकर ही लिखा परन्तु कल्पना की मौलिकता और भारतीय मिथकों एवं बिम्बों के तीर सन्धान ने उसे और पैना बना दिया।

इस सदी के अन्तिम दो–तीन दशकों में पं0 जगन्नाथ पाठक और अभिराज राजेन्द्र मिश्र जैसे श्रेष्ठ कवियों ने नये रूप से पाठकों का परिचय कराया। पं0 जगन्नाथ जी की गज़लों में मनोवेदना और सूक्ष्म भावों की व्यञ्जना है। उर्दू फारसी की गज़ल शैली पर आधरित गीतियाँ अपनी रागात्मकता से हृदय में अलौकिक आनन्द का संचार करती हैं। 'कापिशायिनी' में कवि ने वैयक्तिक प्रेम की सम्पूर्ण मधुशाला को एक ही चषक में पी लिया है। यह चषक प्रिया की ऐसी मधुर मुस्कान है जो पूरी मधुशाला पर भारी है।

चषका इह जीवने मया परिपीता अपि चूर्णिता अपि
मदमेष बिभर्मि केवलं क्षणपीतस्य मधुस्मितस्य ते

पाठकजी के काव्य में साधना चिन्तन और विकास की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। वह समाज की विद्रूपताओं को किनारे खड़े रहकर देखते हैं और जब दृष्टा की चेतना साक्षीभाव से जुड़ जाती है तो उनका लौकिक भाव अलौकिक बन जाता है। आपकी गज़ल और रुबाइयों में सौन्दर्य, बोध, लय और बिम्बों की नवीनता बहुत ही चित्ताकर्षक है। गालिबकाव्य को 'गालिबकाव्यम्' बना देने वाले पाठक जी निस्संदेह स्मरणीय हैं। उनकी पिपासा में गज़ल की तृष्णामयी अनुभूति है।

परन्तु अभिराज राजेन्द्र मिश्र बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी हैं। उनके काव्य में जहाँ सोहर, कजरी और क्षेत्रीय लोकगीतों की महक है वहीं मधुपर्णी, मत्तवारणी और शालभञ्जिका की गज़ल गीतियों में सम्पूर्ण विश्व की चेतना संरक्षित है। मिश्र जी की गज़लों में वेदना, अर्न्तद्वन्द और विरह का ताप ही नहीं अपितु वैयक्तिक अनुभूतियों का उदात्त चित्रण हैं। अभिराज ने गज़ल विधा को जिस नए भावबोध के साथ उतारा है उसमें संस्कृत भाषा की निष्ठा भी विद्यमान है और उर्दू फारसी की परम्परा भी। यद्यपि उर्दू गज़ल में शब्दों की मात्राओं के साथ छेड़छाड़ करके गज़ल के वज़न और चलन पर दृष्टि रखी जाती है परन्तु संस्कृत गज़ल लिखना तलवार की धार पर चलने जैसा है जिसमें सन्तुलन पर दृष्टि रखनी होती है। परन्तु अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने रदीक और क़ाफिए के आकर्षक संयोजन के साथ अपनी बहुरंगी गज़लों के रंग काव्यक्षितिज पर बिखेरे हैं, मत्तवारणी की भूमिका में आपने स्वयं स्वीकार किया है कि –

"मैंने गज़लों को उनके पुश्तैनी बाड़े (हुस्न इश्क) से बाहर निकालने का यत्न किया है और उन्हें एक बड़ा कैनवास प्रदान किया है जिसमें व्यक्ति, समाज, राष्ट्रलोक तथा विश्वसमरस है"

वास्तव में अभिराज की गज़लो में कथ्य की व्यापकता है, विषयवस्तु की विविधता है और अनेकों बिम्ब एवं प्रतीकों की सहजग्राह्यता है। वाग्वधूटी, मृद्वीका, श्रुतिम्भरा एवं मधुपर्णी के प्रणयी कवि ने प्रौढ़त्व के छैनी हथौड़े से शालभञ्जिका को गढ़ा है। इसमें झर–झर बहते आँसुओं में प्रिय बिछोह की पीड़ा नहीं, प्रिया से मिलने की तृष्णा नहीं

और न ही भोग की चाह है, अब तो सांसारिक कामनाओं के अंकुर सूख गये हैं यह जीवन मुक्ति की तृष्णा में जिया जा रहा है।

शोषमापादिताः सर्वभावाङ्क.राः
जीवनं जीव्यते काम्यया साम्प्रतम्

(शालभञ्जिका–134 / 4)

यही मुक्ति हमारी धरोहर है, परम पुरुषार्थ है जिसके समक्ष लौकिक, यश–अपयश बौने हो जाते हैं–

रमन्ते सर्वकालं ये परब्रह्मणि निमग्नाः
जयानां का कथा तेषां पुरोऽथ पराजयानाम्

(शालभञ्जिका–136)

संस्कृत की गज़ल में भावबोध का यही नयापन उसे उर्दू की गज़ल से विलग करता है। संस्कृत साधक का उद्देश्य परमतत्व में एकाकार होना है। प्रेम की लौकिक बात भी अलौकिक प्रतीत होती है –

नहि जगदतिरुचिरं त्वया विना
जीवतमपि न चिरं त्वया विना

(मृद्वीका, पृष्ठ–12)

जगत में जीवित रहना, सम्बन्धों का निर्वाह करना तो मात्र औपचारिकता है। कबीर की कमलिनी जल में उत्पन्न होकर और निवास करती हुई भी जिस प्रकार मुरझा जाती है उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा का बिछोह जीव को पीड़ा देता है, वह जीवित है विरह में, परन्तु बहुत दिनों तक रह नहीं सकेगा सही भारतीय दर्शन है, आध्यात्मिक चिन्तन है और संसार की नश्वरता का सन्देश भी।

आध्यात्मिकता के अतिरिक्त कवि राजेन्द्र मिश्र का लोकधर्मी रूप उनके काव्य की आत्मा है उनकी रचनाधर्मिता में समाजवादी विचारधारा के प्रति आस्था सदैव विद्यमान रहती है। वे ऊँच–नीच के भेद को मिटाकर एक ऐसे समाज की प्रतिष्ठा चाहते हैं जिसमें केवल मनुष्य और मनुष्यता का अस्तित्व रहे –

परितोऽपि पामराणां तृणशालिका इमाः
होलानलं समिन्धय बन्धो! शनैः शनैः

(मत्तवारणी–38 / 3)

जब चारों ओर झोंपड़ी हों वह भी तिनकों से निर्मित घोसलों जैसी, उन्हें नष्ट करने के लिये तो एक चिंगारी ही काफी है। उस पर भी वह विशाल भवन के चारों ओर बनी है यहाँ एक संकेत व्यञ्जनापरक भी हो सकती है। पूँजीवादी व्यवस्था में क्रीतदास के अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं होता तो निश्चित रूप में धनाढ्यों के महल के करीब जो झोंपड़पट्टियां हैं उससे उनके घर का सौन्दर्य बाधित हो रहा है अतः कहीं होली के बहाने प्रत्यक्ष में रोकने का अभिनय करते हुये उनके जला देने की योजना तो नहीं बनाई जा रही। क्योंकि बदसूरत झोंपड़ियाँ अब महल के सौन्दर्य को डसने लगी हैं। अतः होली के ब्याज से उनमें आग लगाने का बहाना ढूँढ़ा जा रहा है। अतः हे! बन्ध ु अपने उसी बन्धुत्व को बनाये रखने के लिये इन ऊँच–नीच की दीवारों को गिरा दो, यह समाजवादी विचारधारा का केन्द्र बिन्दु है जिसमें सर्वसमाज की कल्पना की गई है।

इसके अतिरिक्त समाज के गिरते मूल्य, दोहरे मानदण्ड और परपीड़ा के लिये अभिराज ने जो आचार संहिता निश्चित की है उससे कुछ सामाजिक विसंगतियाँ दूर की जा सकती हैं। आज व्यक्ति अपने दुःख से दुखी नहीं है अपितु दूसरों के सुख से दुःखी है, निरन्तर दूसरों के लिये अवरोध खड़े करता है –

कंटकशिखाऽप्यसह्या प्रतिभाति चेत्वदङ्गे
प्रतिवेशिनित्यमार्गे तदलं निखन्य शंकुम्

(मत्तवारणी–80 / 4)

आपको काँटे की पीड़ा भी असह्य है और दूसरे के मार्ग में खूँटा गाढ़ने में भी आपको लज्जा नहीं आती कैसा दोहरा व्यक्तित्व है।

यहाँ इस शेर में गूढ़ार्थ यह है कि काँटे के चुभने में और खूँटे के गाढ़ने में उद्देश्य भिन्नता है। प्रथमतः काँटा अनायास चुभता है और उसकी पीड़ा भी बहुत छोटे भाग पर होती है और फिर काँटा चुभने में दूसरे के द्वारा जानबूझकर कष्ट देना निहित नहीं होता। परन्तु इसके विपरीत खूँटा गाढ़ते समय हमें उस विशिष्ट स्थान की तलाश है जहाँ से हमारा प्रतिवेशी नित्य गुजरता है। और फिर खूँटे से टकराने पर पता नहीं चोट कहाँ–कहाँ लगे। यहाँ पड़ोसी को पीड़ा

देने में हमारा कलुषचिन्तन कार्यरत है।

प्रेम काव्य की आत्मा है भले ही वह पति–पत्नी का दाम्पत्य प्रेम हो, प्रिया के प्रति समर्पण हो, मात–पिता के प्रति समादर हो, भाई बहिन के प्रति स्नेह हो अथवा अपने देश के लिये मर मिटने का संकल्प हो। प्रेम का सूक्ष्म तन्तु प्रत्येक सम्बन्ध में उसकी चेतना बनकर रहता है। अभिराज ने जिस प्रेम को स्थायी और प्रशंसनीय स्वीकार किया है वह क्षुप के समान धीरे–धीरे विकसित प्रीति है –

प्रीतिक्षुपं विवर्धय बन्धो! शनैः शनैः

यहाँ जिस प्रीति को व्याख्यायित किया जा रहा है वह वल्लरी के समान शीघ्रवर्धित और पराश्रयी नहीं है वह तो धीरे–धीरे विकसित होने वाला 'क्षुप' है। बन्धु शब्द 'बन्ध' धातु से निसृत है जो बाँधने के अर्थ में आती है। आज विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धों में इसी बन्ध का अभाव है। भले वह सामाजिक बन्ध हो अथवा राष्ट्रीय प्रतिबद्धता, जहाँ भी अहं टकराते हैं युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस अन्तर्कलह को तब ही रोका जा सकता है जब पारस्परिक सम्बन्ध प्रगाढ़ हों, ऐसी प्रीति तो त्याग और समर्पण से ही उत्पन्न होती है। उसमें न तो स्वार्थ की गन्ध होती है और न ही विचारों का छलछद्म।

अभिराजीय गज़ल वीथिकाओं के कई मोड़, कई विश्राम बिन्दु हैं जहाँ से इन गीतियों का विशिष्ट रूप परिलक्षित होता है। सर्वप्रथम गज़ल की पारम्परिक शैली के अनुरूप प्रेम की पाती अभिराज ने भी लिखी है भले ही वह शनैः शनैः वर्धित प्रीति बिरवा हो अथवा निरुद्धात प्रीति की सरणि हो। यह प्रीतिवीथी तो गभीरा–गभीरा है।

सुगम्याः परे जीवने सन्तु मार्गाः
परं प्रीतिवीथी गभीरा गभीरा

(शालभञ्जिका–20 / 1)

उसके प्रेम में न तो आशिक–माशूका की दीवानगी है और न ही वासना की कालिमा। यह तो विशुद्ध सात्विक प्रेम है। जो लाल सूरज जैसी बिंदिया को देखकर काली घनघटा जैसे केशों में बँधे बेला के फूलों से सुसज्जित जूड़े को देखकर उत्पन्न होता है और प्रिया की गर्भावस्था की फरमाइशें जिसे और भी प्रगाढ़ बनाती हैं। पैरों की

पायल रुनझुन करती हुई जब आँगन को गुञ्जित करती है तो पूनम के चाँद सा मुख साकार हो उठता है। यह है हमारी संस्कृति जिसका प्रेम गृहस्थ सुख की पवित्रता से जुड़ा हुआ है।

परन्तु कहीं–कहीं धीर गम्भीर अभिराज भी प्रेम में मतवाले होकर विरह की पीड़ा को व्यक्त कर ही गये हैं लेकिन वहाँ उनका मन रूपी चातक पी कहाँ की रट तो लगाता है सपने में प्राप्त संयोग क्षणों को प्राप्त कर कोयल सा कुहकने भी लगता है। यहाँ मन के चातक होने में विरह की पीड़ा के साथ–साथ त्याग भी निहितार्थ है। जैसे चातक स्वाति नक्षत्र के जल की ही प्रतीक्षा करता है वैसे ही भारतीय संस्कृति में दाम्पत्य प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है[1]।

उर्दू गज़ल के शमा–परवाने ने शालभञ्जिका में भी अपनी उपस्थिति को दर्ज कराया है परन्तु कवि को इस प्रेम में स्थायित्व नज़र नहीं आता। वे गृहस्थ जीवन के सुख से परिचित हैं अतः जलने और मरने में रचा, बसा प्रेम संशय ही उत्पन्न करता है –

शैखावली त्वदाभा मम शालभोऽनुरागः
जातं ततोऽखिलं भो संशयतुलाधिरूढं

(शालभञ्जिका–100 / 1)

वास्तव में यह तो पतंगा ही बता सकता है कि शमा पर जलकर मरने में मुक्ति का सुख है या मृत्यु की व्यथा।

अभिराज का काव्य भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा है उनमें समाज को बदलने का संकल्प है। समाज के गिरते मूल्य क्या हमारी परम्पराओं को नष्ट कर देंगे? कभी यह प्रश्न उठता है तो कभी हृदय का विश्वास झकझोर देता है कि नहीं भारतीय वसुन्धरा का आत्मगौरव आज भी विद्यमान है –

गौरवं तदेव येन दुर्गुणोऽपि जीयते
मानवेन मानवाय बन्धुताऽनुभूयते

(वाग्वधूटी–10 / 1)

लेकिन जब अभिराज अपने देश के किसान को भूखे मरते हुए देखते हैं, व्यभिचारी मन्त्रियों के स्वागत का भव्य आयोजन, चोर सिपाही का

1. मत्तवारणी, 1–7,96 / 1,6,82 / 3,42 / 2, 102 / 8–9, 37 / 4–6, 113 / 1–9, 50 / 47

पारस्परिक मेल, संसद में बैठे भ्रष्ट राजनीतिज्ञों की अगवानी करने वाले राष्ट्र को देखते हैं तो पीड़ा ज्वार बनकर होठों से निकलती है। उनके अनेकों छन्दों में विषाक्त राजनीति पर प्रहार है, सामाजिक रूढ़ियों पर रोष है और दुष्टजनों पर कटाक्ष भी। कवि की व्यञ्जना बहुत ही मार्मिक है। वे सकारात्मक वाक्यों को कहकर व्यक्ति को आत्मूल्यांकन के लिये विवश कर देते हैं। उनकी बहुत ही अजब–गज़ब नीति है ऐसे छोटे तीर जो मर्म पर गहरी चोट करते हैं उनके तूणीर में विद्यमान हैं। 'यशस्तेमयाऽवेक्षितं राष्ट्रबन्धो' इस रचना में उन्होंने नेताओं के कुलषित कर्मों को अन्योक्ति के माध्यम से उजाग़र किया है। भले ही वह सड़क बनवाने का ठेका हो अथवा बग़ीचा, पुल, पाठशाला, तालाब आदि का निर्माण सब में पैसा खाने के बाद क्या वह सुखी रह सकेगा? इस प्रश्न के उत्तर में एक गीतिपंक्ति सम्पूर्ण बात कह जाती है –

बहूपार्जितं लक्षकोटीश्वरोऽभूः
समृद्धेस्त्वयाऽकारि सर्वोविकल्पः
ध्रुवं निस्सुते त्वद् गृहप्रांगणेऽस्मिन्
यशस्तेमयाऽवेक्षितं राष्ट्रबन्धो।

(मत्तवारणी–94/7)

राष्ट्रनायक को व्यंग्य की इन पंक्तियों ने क्या शिकस्त दी है, अरे भला यह सारा प्रपंच किसके लिये? समस्त बेईमानी, दुराचार किसके लिये? सम्पत्ति का एकत्रीकरण किसके भोग के लिये? जब पुत्रहीन घर हो तो यह समस्त दाँव पेच किस काम के? तुम अपने जीवन के वास्तविक सुख से ही वंचित हो तो यह बाह्य सुख किस काम के? यहाँ दुष्कर्मी राष्ट्रविरोधी को राष्ट्रबन्धु नाम देना एक अनकहा तिरस्कार है।

एक बात अभिराज को सदैव पीड़ित करती रही कि जहाँ श्रेष्ठ साहित्यकारों के सम्मान के लिये कोई स्थान नहीं है, वहाँ अशिक्षित राजनेताओं के लिये मंच सजाए जाते हैं उन्हें 'भारतरत्न' देने के विषय में विचार विमर्श किये जाते हैं। ऐसे में जब सम्पूर्ण देश इस व्यवस्था का अनुयायी हो जायेगा तो क्या होगा इसका भविष्य?
बरबाद़ गुलिस्तां करने को एक ही उल्लू काफी है, हर शाख पै उल्लू

बैठा है अन्जामे गुलिस्तां क्या होगा? इस शेर को अपनी गज़ल गीति में कुछ इस तरह से उतारा है –

उद्याने यस्मिन् सान्द्रतरौ
प्रतिशाखमुलूका वल्गन्ते
कल्याणं तस्य कथं भविता
सुषमा क्व वसन्तस्यागमने

(मधुपर्णी–27/4)

वर्तमान राजनीति में अवगुणियों की एक लम्बी ज़मात है। सभी एक दूसरे के दुश्चरित्र का पर्दाफाश करने को उतावले हैं ऐसे में सबके आवरण उतारे जा रहे हैं। जैसे प्याज लहुसन का पारस्परिक विवाद दोनों की दुर्गन्ध को ही प्रदर्शित करता है, सद्गुणों को नहीं। वस्तुतः व्यक्ति अपनी बुद्धि के आधार पर ही अपने वाक्कौशल को व्यक्त करता है भले ही वह आलोचना हो अथवा प्रणति, वह सबमें अपने चरित्र की दुर्बलता के बेलबूटे चित्रित कर देता है।

कवि दोहरे चरित्र के प्रत्येक व्यक्तित्व को समाज का कलुष मानते हैं चाहे वह राजनेता हो अथवा आडम्बर युक्त पण्डे–पुजारी। उन्हें इस दोगलेपन से घृणा है। धर्म को तोड़ मरोड़ कर अपने सुख के लिये प्रयोग करना उन्हें पीड़ा देता है। कण्ठ में माला और गेरुए कपड़े पहने तथाकथित पण्डितों का एक बड़ा समूह है। ये जनभावनाओं से खिलवाड़ करते हुए उसका शोषण करते हैं।

आज सम्पूर्ण विश्व आतंकवाद की देहरी पर खड़ा है। युद्ध के भीषण परिणामों से परिचित होने पर भी अपने–अपने प्रभुत्व के मंच ढूँढ़े जा रहे हैं। देश विदेश में बढ़ते बेरोजग़ार हमारे युवाओं को दिग्भ्रान्त कर रहे हैं। जो युवा शक्ति राष्ट्र की स्तम्भ है वही भरभराकर ढह जाने के कगार पर खड़ी हुई है। आत्मघाती दस्ते तैयार किये जा रहे हैं, खुद मरकर दूसरों को मारने का फैसला। आखिर क्या चाहिये? अन्त में कहाँ जायेगा यह रास्ता? हम कैसे विश्वबन्धुत्व को विकसित करें? अनेकों प्रश्न हमारी विश्व चेतना पर दस्तक दे रहे हैं। इसमें अभिराज का सुझाव है कि यदि प्रतिष्ठा एवं वर्चस्व की इस लड़ाई में बैर की यह लोहे की जंजीरें पारस्परिक प्रेम एवं समझौते से काटी

जाएं तो विश्वहित की बात की जा सकती है –

परुषाऽऽयसी च नूनं सापत्न्यशृंखला
प्रीत्यैव तां निकर्तय बन्धो! शनैः शनैः

(मत्तवारणी–38/9)

यहाँ द्वेष जन्य बैर भाव सापत्न्य शब्द से व्यक्त किया गया है। पत्नी का सपत्नी से जो बैर होता है वह प्रभुताजन्य होता है। इसमें पति पर अपने विशिष्ट अधिकार की लड़ाई है। यह प्रभुता व्यक्तियों में हो अथवा राष्ट्रों में, जब प्रभुत्व का अहंकार, एकाधिकार की लिप्सा समाप्त हो जायेगी तो राष्ट्रीय सीमाएं अन्तर्राष्ट्रीय बन जायेंगी। इसके लिये प्रेम की ऐसी कर्तरी की आवश्यकता है जो इन शृंखलाओं को काटकर विश्वबन्धुत्व का सन्देश मानवमात्र को दे सके।

अभिराज की विशेषताओं के पुञ्ज को यदि एक शब्द में कहने की शर्त हो तो कहा जा सकता है कि वे 'बेवाक' हैं। वास्तव में उनकी समस्त कृतियों में उनके व्यक्तित्व की पारदर्शिता झलकती है वे जो कहते हैं, वही करते हैं। बाह्य आडम्बर न तो उनके चरित्र और व्यक्तित्व में है और न ही वे ऐसे व्यक्तियों से प्रभावित होते हैं।

ग़ज़ल के 'कैन्वस' पर यद्यपि अन्य व्यक्तियों ने भी अपने रंगों को उतारने का प्रयास किया है परन्तु वह उतना स्पष्ट नहीं है। जनार्दन प्रसाद मणि की 'गोखराणां का कथा' यद्यपि गज़ल के समीपवर्ती है परन्तु गीत और गज़ल के मध्य की क्षीणतर रेखा का स्पर्श करते हुये।

इच्छाराम द्विवेदी के 'प्रश्नचिह्नम्' शीर्षक में लगभग 31 गज़ल संगृहीत हैं। जो भिन्न–भिन्न विषयों को अंगीकृत करके लिखी गई हैं जिसमें कहीं अपने देश की निदाघ कथा है तो कहीं सामाजिक मूल्यों के पतन का निदर्शन है। परन्तु इन गज़लों को पढ़ने पर विशुद्ध गज़ल की अनुभूति नहीं होती। इनमें न तो उर्दू शायरी की नज़ाकत है और न ही उसकी लयात्मक गति। कई स्थान पर छोटी बहर की

1. 'गोखराणां का कथा'
2. प्रणवरचनावली, पृष्ठ–417
3. प्रणवरचनावली, पृष्ठ–418

गज़लें बहुत ही सपाट और नीरस प्रतीत होती है। हाँ यह अवश्य है कि कुछ गज़लों में उनका प्रयास सराहनीय है। 'चन्दनत्वं गताः' की गेयता प्रभावित करती है।

गन्धदानं भुजंगाकुले भूतले
यैः कृतं ते स्वयं चन्दनत्वं गताः
ज्वालितं जीवनं यैः परीक्षाग्निमना
सर्वदा ते जनाः काञ्चनत्वं गताः

(प्रणवरचनावली, पृष्ठ–427)

प्रायः प्रणव की गज़लों में भी प्रेम एवं वियोग के स्थान पर सामाजिक विद्रूपताएँ ही जीवित हैं। राष्ट्रीय प्रेम समाज के गिरते मूल्य, चारित्रिक पतन एवं कुछ मिथकीय प्रयोग कवि ने अपनी गज़लों में किये हैं। सम्भवतः इसका उद्देश्य गज़ल के नवीन आयामों को प्रस्तुत करना रहा होगा।

कजरी

ठेठ मिर्जापुरी कजरी को संस्कृत में उतारने का उपक्रम अभिराज की अलौकिक कारयित्री प्रतिभा की ही देन है। उनकी सृजनशीलता का एक विशिष्ट गुण यह है कि वह अपनी रचना के बीज उसी क्षेत्र की भूमि में ही बोते हैं अतः भावरूपी फल में वही रंग और गन्ध दिखाई देते हैं। यह उनकी ही सारस्वत साधना का फल है कि आज संस्कृत में हम लोकगीतों की माधुरी का आस्वादन कर सकते हैं। मंच पर सर्वाधिक रूप से सराही जाने वाली कज़री 'रौति कोकिला' में चौपाल की संस्कृति, ढोलक की थाप, तालियों की लयबद्धता सहसा ही कानों में गूँजने लगती हैं –

रौति कोकिला मदालसा रसालतरौ
गोपिता तमालतरौ रे
क्षणं पल्लवे निलीय
मञ्जरीरसं निपीय
स्तौति सम्मुखं वसन्तकं रसालतरौ
गोपिता तमालतरौ रे (वाग्वधूटी, पृष्ठ–63)

कजरी के स्पष्टीकरण में अभिराज ने अपना मन्तव्य इसी पृष्ठ पर देते हुये कहा है कि ब्रजप्रदेश में 'रसिया', बुन्देलखण्ड में 'लंगुरिया' गीत जिस प्रकार सोद्देश्य गाया जाता है उसी प्रकार पूर्वोत्तर प्रदेश के जनपदों में वर्षा के समय कजरी गाई जाती है। इसमें प्रकृति चित्रण के साथ–साथ विरही कामनियों द्वारा निर्दयी प्रियतमा को उलाहने दिये जाते हैं।

यथा – **मुञ्च कोपने! मृषैव कृतं मानं रे**
मुञ्च मुञ्च कोपने! व्यलीकमानं रे
दूरदेशतोऽनुधाव्य
कान्त आगतोऽनुभाव्य
साम्प्रतं न युज्यतेऽपरं प्रमाणं रे

(वाग्वधूटी, पृष्ठ–67)

राधा कृष्ण के 'मान' के बिना विरह काव्य अधूरा सा लगता है अतः एक कजरी अभिराज ने नन्दनन्दन के लिये भी लिखी है। जिसमें उनका ऊखलबन्धन, वेणुवादन, माखनचोरी और धूल में विलुण्ठित बालचापल्य वर्णित है।[1]

चैत्रक

उत्तर प्रदेश के ग्रामीण अञ्चल में चैत्रमास में पति के विरह में प्रिया अपनी चिन्ता को लक्ष्य करके जो गीत गाती है उसे 'चैता' अथवा चैत्रक कहते हैं। अभिराज ने क्षेत्रीयता को स्मरण पथ में रखते हुये इस प्रकार के लोकगीतों का बहुत ही सहजता से निर्वहन किया है –

विधुमभिसरति कुमुदिनी रे मातः किमु करवाणि
प्रोषितपतिका विरहिणी रे मातः किमु करवाणि
पवनो वहति मलयगिरि सूतः
रेवातटगतवञ्चुलपूतः
वितरति सुममधु नलिनी रे मातः किमु करवाणि
प्रोषितपतिका विरहिणी रे मातः किमु करवाणि

1. वाग्वधूटी, पृष्ठ–66

रौति रसालतरौ कलकण्ठी
श्रुति कुहराय भवति ननु शुण्ठी
न खलु भवामि कुशलिनी रे मातः किमु करवाणि
प्रोषितपतिका विरहिणी रे मातः किमु करवाणि[1]

परन्तु कभी–कभी यह संयोगावस्था में नई फसल की अगवानी करते हुये भी गाया जाता है। वस्तुतः इस छन्द, की लोकधर्मी विधा ने संस्कृत साहित्य में भी अपनी उपस्थिति को इस प्रकार दर्ज कराया है। यद्यपि इसका प्रयोग संस्कृत भाषा में बहुत ही अल्प मात्रा में मिलता है लेकिन फिर भी नवप्रयोगों के प्रतिमान में विभिन्न विधाओं का परिशीलन संस्कृत को सार्वजनीन सिद्ध करने की वकालत करता है। इसमें हमारी मिट्टी की सौंधी महक है एवं सामान्य व्यक्ति के करीब पहुँचने का संकल्प भी।

लोरी

शिशु के सिर पर माता का स्नेही स्पर्श जब शब्दों का आकार लेता है तब वह लोरी बन जाता है। यह गीत प्रत्येक भाषा, प्रत्येक समाज में अपने–अपने शब्दों के गीतबन्धों द्वारा गाया जाता है। लोरी के गायन में बालसुलभ चेष्टाएँ, क्रीड़ाएँ, चाँद–तारे, परी, दूध बताशे और न जाने क्या–क्या समाहित हो जाता है। माता के स्नेहिल रस बिन्दु बालक को रससिक्त कर देते हैं। कहीं इसे 'लयेरिका' और कहीं 'लोरीगीतम्' कहा गया है। यद्यपि इसका प्रयोग भी संस्कृत साहित्य में बहुत कम दिखाई देता है परन्तु यह विद्यमान अवश्य है। अभिराज की इस लोरी में बालपन खिलाखिलाकर हँस रहा है –

अणित मणितनामन्यौ मयका खलु
द्वि वराटिके प्राप्ते
ते च पुनर्मङ्गललाभार्थं
गङ्गाधारायां प्रवाहिते
गङ्गा मह्यं ददो बालुकां

1. वाग्वधूटी, पृष्ठ–61,62

सा च मया भर्जकाय दत्ता
लाजा मह्यं ददौ भर्जको
लाजास्ताश्च मया समर्पिता
..
जीवतुतरां प्रियो मे वत्सः
वर्षायुष्यं शतप्रमाणम्
विलसतु मे लयेरिकागानम्

(मधुपर्णी, पृष्ठ–132)

लोरी में यद्यपि बालसुलभ चेष्टाएँ वर्णित की जाती हैं परन्तु इसका दीर्घ वितान जब पूर्णता की ओर अग्रसर होता है तब यह प्रौढ़ हो जाती है और जाते–जाते बालक के शतायु होने की मंगलकामना कर जाती है।

डॉ0 राधा वल्लभ त्रिपाठी ने भी 'लोरीगीतम्' शीर्षक से इस लयेरिका को गाया है। परन्तु इनकी लोरी में कथातत्व न होकर ममता का उच्छवास है।

भद्रे निद्रे धीरे तीरे त्वमवतर मानससरसि नः
शोकविमुद्रे मीलय नयनयुगदलमलं जनस्य
अवतर भगवति निद्रे सुखं मया त्वत्कृते च समास्तृतः
नवशाद्वलसुकुमारः स्रस्तर इव नयनपुटः स्वस्य
दीने हीने दुःखाकुलिते श्रमेण च निस्सहगात्रेऽत्र
दयसे त्वमेव शुभ्रे श्रमिकेऽपि कर्षकजने वापि।

(सन्धानम्, पृष्ठ–101,102)

डॉ0 त्रिपाठी की लोरी में वैयक्तिक संवेदना के साथ–साथ सामाजिक निष्ठाओं का भी संकल्प है। वे केवल अपने बालक की उनींदी आँखों में निंदिया उतारने की प्रतीक्षा नहीं कर रहे अपितु सभी दीन–हीन दुःख से पीड़ित श्रमिक, कृषक के श्रमपीड़ित गात्र हेतु निद्रा का आह्वान करते हैं। वस्तुतः अभिराज की लयेरिका में कथा की गीति है और त्रिपाठी की लोरी में समाज की संवेदना है। इसके अतिरिक्त

डॉ0 राधा वल्लभ त्रिपाठी ने प्रश्नगीत[1], विक्रयगीत[2], ध्रुवगीत[3] आदि लिखकर गीतविधा को परिपुष्ट किया है।

लोरी को एक शिशुगीत के रूप में प्रस्तुत करने वाले हर्षदेव माधव ने उसमें चटक–चटका की कहानी पिरोकर हृदयाकर्षक बना दिया है यद्यपि यहाँ पर लोरी वाला मातृत्व कहीं नहीं दिखाई देता है परन्तु बालमन को बाँधने वाला प्रवाह इसमें अवश्य परिलक्षित होता है–

चटको राजा,
चटको राज्ञी,
चटकः काम्यः
चटका सुमुखी ....
चटक क्रीडति
चटका पचति
चटको भ्रमति
चटका खादति .... (तव स्पर्शे स्पर्शे, पृष्ठ–42)

यहाँ नर और मादा चिड़िया के पारस्परिक अनुराग में बालमन की अनुभूति, उत्सुकता निरन्तर उल्लास को जन्म देती है।

भास्कर भट्ट ने शिशुगीत को ओतुगीतम को नाम दिया है। कर्नाटक में लोरी को ओतुगीतम कहा जाता है। इसमें कृष्ण की लीलाऐं और उन पर किया गया दुलार भी वर्णित होता है –

ओतो! ओतो! मोहनकेतो क्व नुखलु यातोऽसि?
आहुतोऽसि, नासि, कुतस्त्वं आखुं गृहीष्व
जानामि त्वां पयसश्चोरं प्रवरं निलयेषु
माता नित्यं त्वत्तोभीता द्वारं पिद धाति
गेहे गेहे दध्यन्नादि स्वदितं भवता किं
पायं पायं पयसः पूरं पूरितमुदरन्ते

(विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम पृष्ठ–179)

---

1. सन्धानम्, पृष्ठ–97
2. सन्धानम्, पृष्ठ–105
3. सन्धानम्, पृष्ठ–99

कव्वाली (काव्याली)

अर्वाचीन संस्कृत छन्दों में कव्वाली को गज़ल की भाँति स्वीकार किया है। यद्यपि यह भी उर्दू, फारसी की भूमि से ही उत्पन्न और परिवर्धित है परन्तु संस्कृत साधकों ने अत्यन्त आत्मीय भाव से उसे अपने कलेवर में उतारा है। नवप्रयोग की सार्थकता को अपने कृतित्व से सिद्ध करने वाले अभिराज ने 'मृद्वीका' में 'काव्याली' के नाम से अभिहित करते हुये कव्वाली को संस्कृत भाषा में गीतिबद्ध करके अपनी अर्वाचीनता एवं प्रयोगधर्मिता को सिद्ध किया है –

प्रीतिरास्वद्यते प्राणैः
गीतिरास्वद्यते कर्णैः
शक्तिरास्वद्यते देहैः
भक्तिरास्वद्यते स्नेहैः
घनान्धकारे बलिदीपिकेव बलाहके चञ्चलचञ्चलेव।
मधौ प्रफुल्ला नवमालिकेव प्रतीयते प्रीतिरियं पुराणी।।

(मृद्वीका, पृष्ठ–74)

परन्तु 'काव्याली' का बहुत अधिक प्रचलन संस्कृत गीतकाव्य में नहीं दिखाई देता। कव्वाली के स्थान पर कवियों में गज़ल अधिक लोकप्रिय है।

लावनी

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री द्वारा गीतिविधा में अनेकों नवप्रयोगों को लेखबद्ध किया। इसमें 'लावनी' भी एक क्षेत्रीय विधा का गीत है। भागवत में रासलीला के ब्याज से कामदेव के पराजित होने की कथा है। भट्ट जी ने 'रासलीलायां मदन विजयः' इस शीर्षक से 'लावनी' को लिखा है –

जयति जगदानन्दनकारी / माधवो मनसिजमदहारी
गोपिका जनजीवनधारी / सकलनिजभक्तीभीतिहारी।

(गीतिवीथी, पृष्ठ–10 / 1)

गालिगीति

ब्रजक्षेत्र में 'गाली' गाने का प्रचलन है। इन गालियों में प्रेम और आत्मीयता का पुट होता है। यह शादी के अवसर पर पारस्परिक

सम्बन्धियों में प्रगाढ़ता करने के लिये गाई जाती है। इसमें व्यंग्य और हास्य का सन्तुलित भाव होता है। यहाँ पर अवज्ञा के स्थान पर प्रेम की प्रबलता होती है और इसी प्रेम के वशीभूत होकर गाली देने वाला और गाली पाने वाला दोनों ही रससिक्त हो जाते हैं। भट्ट जी ने कृष्ण के लिये ही इसका प्रयोग किया है। कृष्ण क्योंकि ब्रजशिरोमणि हैं और राधा से उनकी प्रीति है अतः ब्रजनारियों द्वारा ठिठोली आवश्यक भी है और स्वाभाविक भी –

जयति नवरासविहारी / अहो भक्तजनदुरितनिवारी
असुरनिकरपरिपीड्यमान–वसुधाभरहारी रे ....
सुरभितनववनमालाधारी / ललितलुलितमृदुकुन्तलभारी
स्मरशरपरवशहृदयनवव्रनार्यभिसारी रे ....

(गीतिवीथी, पृष्ठ–12,13)

हरिदत्त शर्मा ने भी 'गालिगीति' का मनोहारी प्रयोग किया है।

स्वागतगीत

भारतीय परम्परा में 'अतिथि देवो भव' की भावना जन–जन के हृदय की पूँजी है। 'स्वागतगीत' इसी विनम्रता का प्रस्फुटन है। आज भी जब कोई मंचीय कार्यक्रम होता है तो उसमें एक स्वागत भाषण अथवा स्वागत गीत प्रस्तुत किया जाता है। इस गीत में 'अतिथि' का चरित्र, उसका पद, उसकी प्रतिष्ठा वर्णित होती है। इसके साथ ही उनके आगमन से स्वयं का गौरवान्वित होना और कार्यक्रम में उनकी गरिमामयी उपस्थिति का वर्णन होता है। इसको प्रस्तुत करने का उद्देश्य अतिथि की वाचिक स्तुति होता है। भट्ट जी के स्वागतगीत का एक अंश दृष्टव्य है –

स्वागतं भवतामुदारगुणावदातसचेतसाम्
स्वागतं सुरभारतीसेवा समाहित चेतसाम्
दर्शनेन भवादृशामिदमद्य नन्दति मानसम्
स्वागतं पुरतः स्वयं वत संदधाति सुमेधसाम्
भास्वतः किरणैरितः प्रविषह्य नीतेयं निशा
संप्रकाशमवाप्य सम्प्रति लीयते तिमिरं दिशाम्

(गीतिवीथी, 91 / 1–3)

इस प्रकार के अनेक स्वागतगीत भट्ट जी ने लिखे हैं[1]। और अन्त में यही निवेदन किया है कि यदि इन गीतों से सभ्य लोगों को आनन्द मिलता है तो यह मेरा सौभाग्य है। हर्षदेव माधव ने भी स्वागत गीत की परम्परा का निर्वाह किया है।

'तव स्पर्शे स्पर्शे' में उनके दो स्वागतगीत अत्यन्त मनोहारी एवं भावपूर्ण हैं –

स्वागतं व्याहरामो वः/स्वागतं वः सुहृज्जनाः
वर्षन्तु आशिषो दिव्याः/प्रेरयन्तु नवं पथम्।
यूयं तु राज हंसाः स्थ/सौभाग्येन समागताः
अतिथिदेवता यूयं/कुटीरे नः कृपा कृता
वाक्य पुष्पैः कृता पूजा/हृदयासनस्थापिता
दर्शनं प्रार्थनाऽस्ति नः/स्वागतं भो महोदयाः
स्वागतं वः पुनः मुदा (पृष्ठ–43)

माधव के स्वागत गीतों में सरलता के साथ गेयता का भी पुट है। यद्यपि हर्षदेव माधव मुक्तछन्द विधा के समर्थक एवं अनुयायी हैं परन्तु इन गीतों में उन्होंने गीत की भावना और मृदुता का ध्यान रखा है।

ठुमरी, दादरा आदि

भट्ट जी को संगीत का विशिष्ट ज्ञान था। उनका रचनाओं में ठुमरी, दादरा आदि अनेक संगीत की रागरागिणी मिलती हैं। कहीं देशमल्लराग[2] में गीतिबद्ध करके उन्होंने अपने को संस्कृतज्ञ के साथ–साथ संगीतज्ञ भी सिद्ध किया है। ठुमरी के बोल ब्रजभाषा से प्रभावित हैं प्रायः कवि ने ब्रज संस्कृति को अपनी रचनाओं में प्रतिबिम्बित किया है।

ठुमरी– **कुञ्जे कुञ्जे मां बिहारी सखिरुन्धे मनोहारी**
शपथशतैरपि मुञ्चति नायम्
यमुनातटमनु चञ्चति सायम्
कपटवचनविश्वासवशादय मनुयते नुतिकारी
कुञ्जे कुञ्जे ....

ठुमरी के अतिरिक्त दादरा में भी कवि की सर्जनशीलता प्रभावित करती है।

1. गीतिवीथी, पृष्ठ 92–94
2. गीतिवीथी, पृष्ठ – 08

दादरा – **मम दैन्यं न जानासि नाथ किमु मुहुरावेदये**
पराधीन्यं न जानासि नाथ किमु मुहुरावेदये
(गीतिवीथी, पृष्ठ–08)

विविध रागों का प्रयोग

श्रीधरभास्कर वर्णेकर साहित्य संगीत कला के मूर्तिमान विग्रह कहे जा सकते हैं। उन्होंने आधुनिक संस्कृत काव्य को अनेकों रागों में आबद्ध करके अपने संगीत ज्ञान का परिचय दिया है। यद्यपि इन रागों को समझने के लिये तत्विषयक ज्ञान आवश्यक है। फिर भी काव्य की परिक्रमा करते समय इनकी प्रस्तुति अनिवार्य है। श्री वर्णेकर जी ने राग शोभावरी, राग आसावरी, राग पुरीयाधनाश्री, राग पूरिया, राग भैरवी की बहुत ही माधुर्य एवं ओज के साथ अभिव्यक्ति की है –

(1) राग शोभावरी

उदयते वतन्त्रताशुभदिनम्
पारतन्त्र्यमयचिरतमस्विनी
चित्तवित्तबलबुद्धि–शोषिणी
कालनिशा सा याता विलयं
विकसति नवजीवनम्।। उदयते...
(विंशशताब्दी..... पृष्ठ–140)

(2) राग आसावरी

अयिभारतजननि त्वमेव मम देवता
त्वमेव मम देवता देवते! त्वमेव माता पिता
श्वासे श्वासे श्वासोच्छवासे तवैव संचिन्तनम्
तवैव संचिन्तनम् सर्वथा तवैव गुणगुंजनम्
त्वदेकमयमिदमन्तःकरणं त्वमेव हृदये स्थिता
त्वमेव मम देवताः ....
(विंशशताब्दी..... पृष्ठ–141)

(3) राग पुरीयाधनाश्री

जयतु सकले भूतलेऽस्मिन, प्रबलतममतुलं भारतम्
शमितसकलद्वेषदावम्। भजतु जनता बन्धुभावम्
वर्धताम एकात्मता सा। सर्वथैव हि सन्ततम्

जयतु सकले ....

(विंशशताब्दी..... पृष्ठ–143)

(4) रागपूरिया

उत्तिष्ठत उत्तिष्ठत वीरा, जाग्रत जाग्रत रे
समागता रिपुसेना क्रूरा, चलत चलत समरे
खड्गं प्रखरं, शूलं तीव्रं धत्त करे करवालम
शङ्खध्वानं प्रणवनिनादं कुरुत महाप्रवलम्

(विंशशताब्दी..... पृष्ठ–143)

(4) राग भैरवी

विश्वबन्धुता चिरं विजयताम्
एकात्मता दृढं वर्धताम्
जगदखिलं कुर्वती पावनम्
सुप्रसन्नमानन्दकाननम्
परममङ्गलं लोकजीवनम्
सुधासरिदियं सदा प्रवहताम्

(विंशशताब्दी..... पृष्ठ–146)

आचार्य सम्पूर्णदत्त मिश्र ने भी केदार राग को 'चन्दा देश पिया के जा' इस गीत की तर्ज पर अपनी कविता में प्रयोग किया है।[1] उन्होंने एक अन्य स्थान पर कहरवा की सरगम देते हुये 'वरदकपर्दिगेहिनीगीतम्' को प्रस्तुत किया है। यह गीत रागाश्रित होने के कारण उनके संगीत ज्ञान का परिचय देता है –

कपर्दिनि! कुरु वरदं वरदम्
सेवे जगति यथा सुखपूर्वं शिशिरं वा शरदम्
कुर्वन्काव्यमवद्यविरुद्धं विद्रोहस्वरदम्
सदसि दधामि पदं स्वच्छन्दं दुःशासनभयदम्
कपर्दिनि ....

(विंशशताब्दी..... पृष्ठ–294)

1. विंशशताब्दी.., पृष्ठ 293

घनाक्षरी

हिन्दी के प्रसिद्ध छन्द 'घनाक्षरी' को अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने संस्कृत में अत्यन्त ही भव्यता के साथ उतारा है। इस छन्द की गति–यति के साथ उन्होंने पूर्णतः न्याय किया है। पढ़ते समय किसी भी पंक्ति में विशृंखलता अथवा गतिभंग दोष का अनुभव नहीं होता अपितु उसके मूल बन्ध का ही एहसास होता है।

हृदये समुपैति पदं वर्धते शरीरे यत्
नयनाभ्यां नितरां चकास्ति चारुचरणम्
अधरे बिम्बप्रतिमे स्मितकैस्तनुते सुषमां
पदयोर्विदधाति मन्दमन्दं गजगमनम्

(मृद्वीका, पृष्ठ–76)

विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र के भी घनाक्षरी छन्द का प्रौढ़त्व सराहनीय है। प्रौढ़ता के साथ–साथ उसमें अलंकारों के चुटीले प्रयोग और गति यति का सन्तुलन और भी मनोहारी प्रतीत होता है –

कलित कदम्बनिकुरम्बकेलिकुञ्चनघने
पुलिने कलिन्द जायाः लघु–लघु सा विभाति
ललितवनाली परिवेष्टते नु वृन्दावने
नव्यामेव शोभामावहन्ती तरसा विभाति
वलितनिरभ्रताम्रतारकित तारापथ
सञ्चारामन्दचन्द्रसारसरसा विभाति
सरति समीरे सखि यामुने गाभीरे नीरे
धीरे बलवीरे शरदेषा सहसा विभाति

(आधुनिक संस्कृत साहित्य का इतिहास,
सप्तम खण्ड, पृष्ठ–346)

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री का घनाक्षरी प्रयोग दृष्टव्य है –

यस्य पदगुम्फं चिरकालाद् रसयन्तो बुधा
नित्यनवसन्तोषं भजन्तो न ह्युदासते

यस्य श्रव्यकाव्य तथा भव्यं दृश्यकाव्य चाऽपि
सूरिजनश्राव्यं नात्र संशयः प्रकाश्यते।

(संस्कृत के युग पुरुष
—मञ्जुनाथ, पृष्ठ—95)

सवैया

नवछन्द विधाओं के ऊपर ब्रजभाषा का प्रभाव अधिकांशतः दिखाई देता है। प्रायः कवियों ने ब्रजभाषा के छन्दों को वैसी ही मधुरता से उतारा है। संस्कृत भाषा की मिठास में जब ब्रजभाषा छन्द की चाशनी घुल जाती है तो आस्वादन और भी मधुर हो जाता है। शरदऋतु को विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र ने 'सवैया' में उतारकर अत्यन्त मनोहारी बना दिया है —

यमुनावटमञ्जुलकुञ्जघने घनसाररसावलिते विपिने
विपिने नवनीरजगन्धयुते युतपंकजकोषमिलिन्द जने
जनमानसमानिनी मोदमुदे मुदिता धरपानपुटे कमने
कमने ननु रासरसे सुविभाति शरत् सखि नैशसरत्पवने

कुंडलियाँ

कुंडलियाँ हिन्दी भाषा की एक लोकप्रिय विधा है। 'गिरिधर की कुंडलियों' में नैतिक मूल्यों के अनेक बिम्ब खींचे गये हैं। डॉ0 वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी ने भी ब्रजभाषा के छन्दों को आत्मसात कर अपने काव्य में प्रायः इनका प्रयोग किया है। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री अपनी बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने अपने समय की राजसी व्यवस्था से आबद्ध होने के फलस्वरूप ब्रजकविता के लेखन को प्रारम्भ किया परन्तु बाद में यह स्वान्तः सुखाय में परिवर्तित हो गया। भारतवर्ष के विकास और विश्वबन्धुत्व की भावना को उन्होंने 'कुंडलियाँ' छन्द में प्रस्तुत किया है —

आर्यवसुमती सर्वतः प्रथम विकासमवाप
ततः सकललोकालये संविद्बीजमुवाप
संविद बीजमुवाप सकलकल्याणं विदती

जगति सभ्यतां दधौ विश्वमैत्रीमवदधती
मानवताद्युतिजागराय जगदेक धृतिमती
द्वीपे द्वीपे दीप्तिमदादियमार्य वसुमति

(संस्कृत के युग पुरुष
—मञ्जुनाथ, पृष्ठ—88)

डॉ0 वीरभद्र मिश्र की व्यञ्जनापरक कुण्डलियों में एक सरल सहज गेयता दिखाई देती है। यथा —

दिल्लीनगरी सत्यतो मायानगरी मित्र
तस्य तस्य चित्रा गतिः यो यो गच्छति तत्र
यो यो गच्छति तत्र महातुन्दं स स लभते
पुरा निनिन्द यदेव हन्त तत सर्वं कुरुते
'वीरः' कथयति—तत्र समेषामेका झिल्ली
एको रागः ''कथं पदाप्तिः'' धन्या दिल्ली।

(विंशशताब्दी..... पृष्ठ—511)

चतुष्पदी (चौपाई)

संस्कृत को आधुनिक और जीवित भाषाओं के वर्ग में स्थापित करने के लिये संस्कृत लेखकों ने उसके चहुँमुखी विकास का संकल्प किया। जो छन्द लोकधर्मी होने के कारण लोकप्रिय थे संस्कृत भाषा ने उन्हें आत्मसात करके काव्य सृजन का सूत्रपात किया गया, न केवल दक्षिण भारतीय भाषाओ में प्रयुक्त 'नर्कुटक' और अश्वधारी आदि छन्दों का संस्कृत में प्रयोग किया अपितु क्षेत्रीय छन्दों को भी अपने काव्य का विषय बनाया। परिणामतः संस्कृत भाषा ने प्रत्येक क्षेत्र को अपने प्रकाश से दीप्त कर दिया। 'चौपाई' को 'चतुष्पदी' के नाम से उन्होंने अपने काव्य में उतारा।

महितमहाकवि मौलिविनिहता/जयति कालिदासाऽतुलकविता
दिव्यशक्ति—शंसिनि सुविलासे/माद्यति रसिकमनो यदुपासे

(संस्कृत के युग पुरुष
—मञ्जुनाथ, पृष्ठ—96)

स्कन्धहारीयम्

वर यात्रा के प्रसंग में डोली (शिविका) को जो सेवक उठाकर चलते हैं वे अपने श्रम के परिहार के लिये जिस गीत को समवेत स्वर में गाते हैं उसे अभिराज ने 'स्कन्धहारीयम्' कहा है। वास्तव में इसका शाब्दिक अर्थ भी यही है। यह गीत उत्तर प्रदेश में भी इसी प्रकार से गाया जाता है। लोकभाषा में इसे 'कँहरवा' भी कहते हैं –

नभसि विभाति चमत्कृतचन्द्रो भाति चन्द्रमसि छाया
सरसि विभाति सरागकमलिनी कमलिन्यामलिजाया
भाति भवने वधूटी षोडशी सदङ्गना
भाति गगने मुदी सतारका निरञ्जना

(वाग्वधूटी, पृष्ठ–28)

'स्कन्धहारीयम्' से सेवकों का अपना आनन्द एवं श्रम का विस्मरण तो होता ही है। इसके अतिरिक्त नववधू भी अपने मायके का बिछोह भूलकर आनन्दित होती है। मार्ग कब बीत जाता है पता ही नहीं चलता।

सोहर

अभिराज राजेन्द्र मिश्र वास्तव में लोकधर्मी विधाओं के श्रेष्ठ कवि हैं। आपने विभिन्न अञ्चलों से लोकगीतों को संकलित करके उसी अनुहार में संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है। 'सोहर' गीत की ऐसी विधा है जो मंगलमय अवसरों पर साभिनिवेश गाई जाती है। अभिराज ने वाग्वधूटी में इसका भी उल्लेख किया है[1]। अभिराजयशोभूषणम् में इसे परिभाषित करते हुये कहा है कि –

पुत्रजन्मविवाहादिमङ्गलावसरे पुनः/गीयते ननु नारीभिर्गीतं सूतगृह्यभिधम्

(पृष्ठ–267)

लोकगीत

ब्रज क्षेत्र में प्रचलित लोकगीतों को संस्कृत में यथावत रूप से उतारकर जन–जन में लोकप्रिय बनाने का श्रेय ब्रज के मूर्धन्य साहित्यकार वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी को है उन्होंने इस प्रकार के अनेकों

1. वाग्वधूटी, पृष्ठ – 73

लोकगीतों को संस्कृत की ऊष्मा से और भी आकर्षक बना दिया है, एक प्रसिद्ध गीत है –

मैं तौ गोवर्धन कूं जाऊं मेरे वीर नाय मानै मेरौ मनुआ

संस्कृत रूपान्तर

अहं तु गोवर्धनं गमिष्यामि, मनुते नैव मनो मे

(ब्रजगन्धा)

इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत भाषा की लोकप्रियता और जन–जन के कर्णमाधुर्य के लिये कुछ संस्कृत गीतियों को फिल्मी धुन आधारित करके लिखा। उनकी एक प्रसिद्ध सरस्वती वन्दना विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय रही। जिसकी मूलधुन थी – 'तेरी प्यारी प्यारी सूरत को किसी की नज़र ना लगे' उस पर सरस्वती वन्दना का यह रूप दृष्टव्य है –

धनसारतुषार सुहारसिते वरवीणा निनादकरी पाहिमात!
मधुमञ्जुलतामधुमञ्जुलता सुतनौ सुतनौ सुतनोतुतता
सततं सतता सुमहास्ययुता मकरन्दसुधाश्रितरागरता
सितवारिजवारिजवेशवृते वरवीणा निनादकरी पाहिमात!

(ब्रजगन्धा)

लोकगीतों की इसी परम्परा में श्रावणगीत, रसिया बटुकगीत आदि का उल्लेख भी आधुनिक संस्कृत काव्य में मिलता है –

श्रावणगीत

भारतीय संस्कृति में विभिन्न ऋतुओं का स्वागत बहुत ही भव्यता से किया जाता है। श्रावण की ऋतु आते ही जहाँ वर्षा की शीतलता ग्रीष्म संतप्त अंगों को आनन्दित करती है वहीं दूसरी ओर विरहिणी नायिकाएँ अपने प्रिय का आह्वान करती हैं। सावन के महीने में झूले पर बैठकर गीत गाती हुई नायिका को हरिदत्त शर्मा कुछ इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं –

शृणु मे मातः!
श्रावणमासोऽयायातः
नाद्य प्रेयानायातः
स्फुरति गगनतलेदामिनी
शप्तं तेन गमनकाले सखि!

नचिरागमनं नूनम्
प्रिय! पश्य विरहे वर्धिष्यत उभयोः प्रेम प्रसूनम्
विस्मृतिगर्तं नीता रे, ते ते शपथाः पीता रे
दग्धा विरहदहने कामिनी (गीतकन्दलिका, पृष्ठ–14)

डॉ0 नलिनी शुक्ला ने प्रकृति के आलम्बन रूप में श्रावण मास का वर्णन किया है। जिसमें मेघ गर्जन के साथ मोर पंख उठाकर नाच रहे हैं – **घनघनगर्जन–नादितमुरजः श्रावण आगत एषः**
नृत्यति विह्वलमुग्धशिखाबल उन्नतपुच्छसुवेशः
(विंशशताब्दी..... पृष्ठ–581)

रसिया

आचार्य बाबूराम अवस्थी ने रसिया को 'रसिका' के नाम से अभिहित किया है। यह गीत भी ब्रज प्रदेश में उत्सवों के समय गाया जाता है। इसे लोकगीत की ही एक विधा कह सकते हैं –

मङ्गलदिनमिदमद्य शिशुर्गेह खेलति रे
ए हो शीघ्र चलतुसखि नन्दभवनमभिनन्दति रे
नीरं नयति नवनीतं हरति दधि याचति रे
ए हो वस्तुक्षिपति जनचित्त हरति विधुमिच्छति रे
(विंशशताब्दी..... पृष्ठ–300)

हरिदत्त शर्मा रसिया के माध्यम से कृष्ण द्वारा गोपियों को यमुना विहार का आमन्त्रण दे रहे हैं –

यमुनापुलिने विहरति माधवो रे
चल सखि कुञ्जं, काननकुञ्जं, चल सुकुमारि ....
(गीतकन्दलिका, पृष्ठ–18)

बटुकगीत

बटुकगीत को लोकभाषा में 'बरुआ' भी कहा जाता है। यदि सूक्ष्म रूप में देखा जाए तो यह चरवाहों द्वारा गाया गया गीत है। पशु चराते समय मनोरंजन के लिये इसे गाया जाता था। आचार्य बाबूराम अवस्थी ने कवि और गौ के वार्तालाप द्वारा इसे प्रस्तुत किया है –

कवि – अरे अरे श्याम सुरभिके किमिति परिखिद्यसि रे?
किं तव तनयो न मिलति न तृणमधिगच्छसि रे?

गौ – तनयो ममास्ति समीपे सुतृणमपिरोहति रे
स्वामी मे महता महेन स्वसुतमुपनेष्यिति रे
यज्ञे ममैव घृतं बहु दुग्धं लगिष्यति रे
षड्रसभोजनपूर्तिः कथं नु भविष्यति रे
(विंशशताब्दी..... पृष्ठ–302)

बाउलकाव्य

बंगालदेश में भक्तिकाव्य के रूप में 'बाउलकाव्य' लिखा गया। जिसमें ईश्वर के प्रति अपनी भक्ति, समर्पण और श्रद्धा को व्यक्त किया गया। हर्षदेव माधव के बाउलकाव्य का एक उदाहरण दृष्टव्य है –

अथ किम्! मम समीपे नौकाऽऽसीत्
किन्तु समुद्रभयं मे चेतसि वर्तते स्म
मया नोपयुक्ता सा
वायुस्तु सानुकूल आसीत्
किन्तु हृदयमासीन्मृण्मयम्
ध्रुवतारकोऽपि नेत्रयोः पुरतः प्रकाशते स्म
किन्तु
मनः मसृणतटासक्तमासीत्
मनसो मनुष्य!
तव शब्दोऽपि श्रुतः
(मृगया, पृष्ठ–44)

यद्यपि इस प्रकार की कविताएँ अनेकों ने लिखी हैं परन्तु उसे विशेष रूप से बाउलकाव्य के नाम से अभिहित नहीं किया गया है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में लोकधर्मी छन्दो ंके द्वारा एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। जिसमें छन्दों की मसृणता और नवीनता पर दृष्टि केन्द्रित की गई। इस अवधि में नये भावबोध के साथ रूमानियत और स्वच्छन्द मनःस्थितियों के चित्रण की प्रवृत्ति विकसित हुई और इसी से नवगीत विधा का जन्म हुआ। ओगोटि परीक्षित शर्मा ने ललित गीता लहरी, राधावल्लभ त्रिपाठी ने धरित्रीदर्शनलहरी, निदाघलहरी, प्रावड्लहरी, जनतालहरी आदि लिखकर पूर्ण 'लहरीलीलायितम्' खण्ड का ही सृजन कर दिया। उन्होंने ढपोलशंखाष्टकम् एवं शुभ्रशंखाष्टकम् जैसे

अष्टक भी लिखे। इसके अतिरिक्त रुद्रदेव त्रिपाठी ने भी गायत्रीलहरी, बदरीशलहरी, भैरवलहरी आदि लहरी काव्यों की रचना की। संस्कृत में मांझियों के गीत, डिस्को गीत आदि लिखकर एक नई परम्परा की शुरूआत की गई। इसी से मिलती जुलती विधा संगीतिका की है जिसमें अभिनय के साथ–साथ गेयता भी होता है। अतः यह दृश्य श्रव्य दोनों दृष्टि से सफल विधा कही गई है। इसमें छन्दों को प्रयोग करते समय उसकी सरलता एवं कोमलकान्त पदावली को स्मरण में रखा जाता है।

इसी प्रकार 'नाट्यप्रगीत' कविता की भी भावभूमि होती है इसमें किसी पात्र के मुख से काव्य की अभिव्यक्ति होती है। इसमें प्रायः कवि आत्मसम्भाषण जैसी उक्ति प्रस्तुत करता है कभी यह उक्ति व्यक्ति विशेष द्वारा अभिनीत होती है तो कभी संवादात्मक शैली में पेश की जाती है। राधावल्लभ त्रिपाठी जी का 'गीतधीवरम्' इसी प्रकार का काव्य है जिसमें कवि ने प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष तीनों स्वरूपों में 'धीवर' को प्रस्तुत किया है।

अभिराज की इस प्रकार की अनेकों गीतियाँ मिलती हैं –

चन्दनं वन्दनं नोऽधिकं रोचते/तापितं शापितं मे मनः क्षोभते

(पृष्ठ–37)

वेष्टितं चन्दनं क्रूरकाकोदरैः/दुर्विषं गन्धवाहे क्व यामो वयम्?

(मधुपर्णी, पृष्ठ–31)

जगन्नाथ पाठक की कापिशायनी में कवि का एकान्त चिन्तन, मन का विषाद और जीवन की फक्कड़ता बहुत ही मार्मिक है –

मधुपानमिदं हि मत्तता परिणामोऽस्य तदिष्टमेव मे

(कापिशायिनी, पृष्ठ–46)

अवगुण्ठनविह्वले क्वचित्प्रणयोऽपि क्रियतेऽवगुण्ठितः

(कापिशायिनी, पृष्ठ–12)

बनमाली बिश्वाल की 'अग्नि' कविता में नाट्यात्मक भावोद्रेक है –

अहमस्मि जठरस्य क्षुधा
अहमस्मि आग्नेयास्त्रस्यग्निमयी वर्षा ....

बद्धश्चास्मि गान्धारी नेत्रयो (व्यथा, पृष्ठ–01)

अन्यत्र **नहि कवे/अश्रु नाहि रचय कविताम्**
प्रवहतां दुःखकष्टे व्यथाञ्च यन्त्रणाम/कवितायां तव

(व्यथा, पृष्ठ–72)

हर्षदेव माधव की गीतियों में नाट्यप्रगीत कविताओं का बाहुल्य है। उनकी रचनाओं में प्रयुक्त मिथक और संवाद नाट्यप्रगीत कविता की अन्विति से सुसज्जित है। 'बृहन्नला' का समस्त परिवेश इसी चमत्कृति से युक्त है –

नदी समुद्रयो! का त्वम्?/तटिनी
कुत्र पर्वते स्वामिन्?
मनस्विनी कुशला त्वं? अथ किम्
कुत्र नाथ? गर्तेऽस्मिन् ....

(रथ्यासु जम्बूवर्णानां शिराणाम्, पृष्ठ–31)

इस प्रकार आधुनिक छन्द योजना में नाट्य प्रगीत कविता का भी एक विस्तृत फलक है।

वैदेशिक छन्दों का प्रयोग

छन्दो विधान में बीसवीं शताब्दी में नवीन प्रयोगों का वर्चस्व रहा। क्षेत्रीयता के प्रभाव से युक्त छन्द प्रायः लोकप्रिय होते गये। आधुनिक कविता ने एक नये युग का सूत्रपात किया। जिसमें ब्रजभाषा के छन्दों के साथ–साथ उर्दू साहित्य के प्रभाव से गज़ल और रुबाइयां लिखी गईं। इसी शताब्दी में ही पश्चिम के प्रभाव से अनेक विदेशी छन्दों का संस्कृत में पदार्पण हुआ। जिसमें सानेट, हाइकू, तान्का, सीजो आदि प्रमुख हैं।

सानेट

संस्कृत में अनेकों नाट्यकृतियों के रचनाकार श्री वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने संस्कृत कविता का सानेट छन्द से परिचय कराया। सानेट अंग्रेजी कविता का प्रसिद्ध छन्द है। एक सानेट में चौदह पंक्तियाँ होती हैं और एक ही छन्द में एक कविता पूर्ण हो जाती है। भट्टाचार्य जी ने अपने सानेट संग्रह को 'कलापिका' के नाम से कलकत्ता (1969 ई0) से प्रकाशित कराया। शेक्सपियर के सानेट

विधान का प्रभाव इस संग्रह पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। पहली एवं तीसरी में तथा दूसरी और चौथी पंक्ति में अत्यानुप्रास का निर्वाह और छन्दोविधान की रक्षा भी कवि ने यहाँ की है। वीरेन्द्र कुमार जी ने सॉनेट का संस्कृत नामकरण 'संस्तबक' किया है। ये समस्त 'संस्तबक' उनके पूर्ण समर्पण एवं साहित्य साधना का परिणाम है। उन्होंने अंग्रेजी के इस छन्द को उसी के विधान में संस्कृत भाषा का उत्तरीय पहनाकर अपनी कल्पना और भाषा सौष्ठव के समन्वय का पूर्णतः निर्वाह किया है। मानवदेह में तीर्थ की संकल्पना सांगरूपक अलंकार के माध्यम से अपने इस संस्तबक में की है।

रात्रिन्दिवं मे देहमन्दिरेऽस्मिन् सञ्चिन्त्य विदेहरूपं
पूजार्चनार्थं वर्तते हि चेतोदेव्या ननु वाञ्छितायाः
प्रज्ज्वाल्य दीपं कल्पनाप्रतीकं स्निग्धञ्च हृदार्तिधूपं
हुत्वा च तस्यै प्रेमचन्दनाक्तं पुष्पं मे कामनायाः

(संस्कृत साहित्य, बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ–104)

इस प्रकार भट्टाचार्य जी ने सॉनेट को संस्कृत साहित्य में उतारकर विदेशी छन्दों की रचनाधर्मिता का सूत्रपात किया।

इसी श्रृंखला में हर्षदेव माधव ने सॉनेट को उसी भावभूमि में लिखकर संस्कृत साहित्य को विश्वचेतना से जोड़ा है। यद्यपि हाइकू माधव का प्रिय छन्द है परन्तु 'सॉनेट' को भी उन्होंने उतनी ही खूबसूरती से अपने साहित्य में उतारा है –

गता सा तन्वङ्गी तरुणी द्रुतगम्या स्मितवती।
इतो विद्युततुल्या (करगृहीतपद्मा श्रीरथवा)।
इदानी हा विद्युत क्षणिकस्फुरणादूर्ध्वमिव तु।
मनोघट्टध्वान्तं पुनरपि रुणद्धि जलदवत्।।
गता सा बिम्बोष्ठी हरिणनयना मन्दगमना।
शनैः मन्दं मन्दं वपुषि धृतकौसुम्भवसना।
इदानीं मद्गात्रं मधुऋतु–समाप्तौ तरुमिव।
जहाति चैतन्यं व्यथयति शिशिरो नु दुःखदः।।
गता सा रम्भोरू रमणी तटिनीवत्.........सरभसं
गत दूरे...दूरे... सुमुखी कृतकन्दर्पनिलया

इदानीं क्षुब्धोऽहं नदीजलविदीर्णस्तट इव
दिशः सर्वाः शून्या......... युग इव क्षणो दग्धहृदयः
गता सा किन्तु मे स्मृतिखचितदेशे निवसति
सदाऽऽयन्ती सुभ्रूर्मनसि, हृदयं तां हि जपति

(निष्क्रान्ता सर्वे, पृष्ठ–109)

हर्षदेव माधव प्रयोगधर्मी कवि कहे जाते रहे हैं। प्रत्येक छन्द, प्रत्येक विधा के साथ नये–नये प्रयोग करना उनकी जादूगरी है। वे कुछ भी लिख सकते हैं। शब्दों के खेल से कहीं नीचे गिरते शब्द चित्रकाव्य बन जाते हैं तो कहीं शब्दों का ऊँचा नीचा लेखा–जोखा उसे ग्राफ काव्य का रूप दे देता है। कहीं मदारी और जमूरे के संवाद कविता कह उठते हैं तो कहीं समुद्र और नदी टेलीफोन पर बात करते दिखाई देते हैं, कहीं पहेली है तो कहीं रिक्त स्थानों की पूर्ति, कहीं शब्दों का मेल करने का खेल कविता बन जाता है। अतः माधव कोई भी छन्द को सीधे–सीधे लिखने वाले कवि नहीं हैं। जहाँ सॉनेट 'सा गता' में उन्होंने चौदह पंक्तियां लिखकर उसकी गति यति का पूर्णतः निर्वाह किया है वहीं छन्दोविधान के दायरे में रहकर भी उन्होंने अन्य स्थान पर 'सॉनेट' का वार्तालाप रूप प्रस्तुत किया है[1]। इसमें प्रिय और प्रियतमा का पारस्परिक संवाद है। प्रिया अपनी रूपराशि पर गर्वित है अतः उसे लगता है कि प्रियतम का स्नेह भ्रमर सदृश है जो फूल के म्लान होने पर नष्ट हो जाता है परन्तु प्रियतम का प्रत्युत्तर बहुत ही सटीक है कि हे प्रिया यौवन श्री भले ही नष्ट हो जाये परन्तु स्मृतियों की सुगन्ध सदैव बाँधती है। अतः यदि उन यादों को संजोकर रखा जाए तो व्यक्ति जीवन भर उसी ऊष्मा में जीता है। 'स्मृति सुगन्ध' के सदृश ही माधव ने 'पुष्पं परन्तु' सॉनेट भी लिखा है ये दोनों ही सॉनेट संवादात्मक शैली में लिखे गये हैं। 'पुष्पं परन्तु' में प्रिया को आशंका है कि प्रिय भ्रमर द्वारा भुक्त पुष्प के समान उसकी देह को ही चाहता है और आनन्द के उपरान्त उसे त्याग देता है परन्तु हर्षदेव कहते हैं कि वास्तव में भ्रमर को तो पल भर का सुख मिलता है परन्तु पुष्प का तो जीवन ही सफल हो जाता है।

1. तव स्पर्शे स्पर्शे, पृष्ठ – 10

प्रिया — सत्यं नहि प्रियतमो ननु वञ्चकस्त्वं
गुञ्जारवेण भ्रमसि भ्रमरोऽसि कान्त।
चाटुशतं वदसि षटपद! पुष्पकर्णे
चुम्बितुमिच्छसि कथं कुसुमस्य गात्रम।।
किन्तु प्रयच्छति यदा हृदयं प्रसूनं
त्वं लुब्धको झटिति चोरयसि सुगन्धम्।
स्वार्थं विचारयसि विस्मरसि च स्नेह
मन्यत्र भोक्तुमथ यासि च पुष्पदेहम्।।

प्रिय — व्यर्थाधिक्षिप्तं इह हे रमणि! मधूपः
पुष्पं परन्तु सखि! वञ्चयतीति सत्यम्।
आकर्षयत् मधुकणेन हि मूर्खभृङ्गं
प्राप्नोति तद्विनिमयेन प्रिये! त्वधिकम्।।
किञ्चित् सुखं हि लभते मधूपस्तु मूढः
पुष्पं परन्तु सफलं भवतीति पश्यः।।
(तव स्पर्शे स्पर्शे, पृष्ठ—12)

डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी ने यद्यपि बहुलता से इस छन्द का प्रयोग नहीं किया है परन्तु 'सन्धानम्' के लक्ष्य में सॉनेट आ ही गया है। उन्होंने दो सॉनेट सन्धानम् में लिखे हैं[1]। इससे प्रतीत होता है कि डॉ0 त्रिपाठी अर्वाचीन छन्दोविधान के ऐसे सहयात्री हैं जो देशी विदेशी सभी छन्दों का सहज प्रयोग करने में सिद्धहस्त हैं। उनके गद्य में ही आधुनिकता का संचरण नहीं है अपितु काव्य की गति भी समयानुकूल सज्जित होती है। 'अन्वेषणम्[2]' सॉनेट में यति और गति का पूर्ण निर्वाह करते हुये चौदह पंक्तियों में उसे नियमबद्धता से समायोजित किया है। परन्तु एक बात निश्चित रूप से आधुनिक संस्कृत कवियों में दिखाई देती है कि इस प्रकार के नवप्रयोग उन्होंने अपनी बहुआयामी प्रतिभा को सिद्ध करने के लिये ही किये हैं। उनमें उनके काव्य की स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिमता दिखाई देती है।

1. सन्धानम्, पृष्ठ — 44
2. सन्धानम्, पृष्ठ — 43

हाइकु

जापानी काव्य विधा का सफल प्रयोग 'हाइकु' कहा जा सकता है। इसमें 17 अक्षरों का प्रयोग करके सूत्र के सदृश भावाभिव्यक्ति होती है। यह अक्षर 5—7—5 के क्रम में तीन पंक्तियों में होते हैं इस विषय में झीणाभाई देसाई कहते हैं "पाँच—पाँच की पहली और तीसरी पंक्ति से सधने वाला संवाद एवं बीच की टेढ़ी पंक्ति मानो दो पलड़ों को सन्तुलित रखने वाला केन्द्र! एक बार इस आकार से हमारी रसवृत्ति अभ्यस्त हो जाए तो फिर उसमें से नये—नये उन्मेष जन्मने लगते हैं। यह भी हाइकु सृष्टि का एक अनूठा आनन्द है[1]।"

डॉ0 अरुणोदय जानी हाइकु के विषय में कहते हैं कि — **पादत्रयात्मके सप्तदशाक्षरेऽस्मिन पंक्ति 5—7—5 संख्याका वर्णा सन्तिः। अतः 'हाइकु' इत्यपरपर्यायस्यास्य सत्तरी, सत्तराक्षरी, त्रिदलम् इति नामान्तराणि। 'हर्षदेवस्तु एतस्य' बिल्वपत्रम् इवान्वर्धकं नाम कल्पयति[2]।** हर्षदेव माधव हाइकु की तीन पंक्तियों को त्रिगुणात्मक विश्वव्यापकता के साथ रखते हैं और 'हाइकु' को बिल्वपत्र कहना पसंद करते हैं।

हाइकुकाव्यमपि त्रिचरणमयं तस्यापि त्रीणि चरणानि वर्तन्ते, अतः सूचयति त्रिगुण समन्वितं विश्वदर्शनप्रभुत्वम्। हाइकु—होऽकु—सत्तरी —सत्तराक्षरी—त्रिदलं—बिल्वपत्रं इत्यादि बहूनि नामानि वर्तन्ते हाइकुमहोदयस्य। किन्तु बिल्वपत्रमेवाहं कथयिष्यामि[3]।

वस्तुतः हाइकु में कवि स्वयं कुछ नहीं कहता छोटा सा यह त्रिदल सब कुछ कह जाता है। यद्यपि सुभाषितों में भी अन्योक्ति भाव को कम शब्दों में व्यक्त किया जाता है परन्तु उनका काव्य उद्देश्य केवल सदाचार एवं उपदेश की सर्जना करना होता है जबकि हाइकु में क्षण भर की संवेदना सम्पूर्ण जीवन का दर्शन समझा जाती है। वास्तव में इसमें बिम्ब—प्रतिबिम्ब का संयोजन बहुत प्रभावी होता है।

हर्षदेव माधव ने हाइकु के लक्षण इस प्रकार निर्देशित किये हैं

1. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ — 79
2. सुरभारती(1984), पृष्ठ — 17
3. संविद् नवे0(1983), पृष्ठ—41

1. चमत्कृति – ऐसी चमत्कृति जिसमें ध्वनि हो।
2. लाघव – ऐसा लाघव जो शब्द स्वामी ही साध सके। लाघव हो परन्तु काव्यार्थ के लिये हानिकारक न हो।
3. जिसमें काव्य की विविध वाक्छटाएँ भरी हों तथा कल्पना वैभव हो।
4. उसमें प्रकृति सहित सर्व विषय स्वीकार्य हों।
5. हाइकु स्वयं एक सौन्दर्य का अनुभव है।
6. हाइकु में स्वतन्त्र होने पर भी किसी भी छन्द के साथ योजना की जा सकती है[1]।

वस्तुतः कल्पना की सृष्टि से युक्त होने के कारण हाइकु कल्पनावादी कवियों के लिये एक श्रेष्ठ छन्द योजना है। परन्तु यह कल्पना परम्परिक न होकर नवीनता लिये होती है मेघ का इन्द्रधनुष के कंघे से बाल संवारना दृश्यकल्पन की मनोहारी योजना है –

इन्द्रधनुषः
प्रसाधनी मेघः केशान्
संस्कारयति।

(ऋषे क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ–15/161)

'हाइकु' में टेलीग्राफिक भाषा का प्रयोग होता है। इसमें एक वाक्य शब्द में और एक खण्ड वाक्य में समाहित हो जाता है। यही उसका वैशिष्ट्य है और यही अर्थगौरव भी। परन्तु 'हाइकु' के 'भावक' का सूक्ष्मदृष्टा होना आवश्यक है जिससे वह अन्तःस्थल में प्रवेश कर सके। इस प्रकार जापानी काव्यविधा 'हाइकु' सूचन, ध्वनि और व्यञ्जना प्रधान काव्य कला का सूक्ष्म शिल्प है। इसमें कम से कम शब्दों में काव्य सिद्धि की जाती है। अतः 'हाइकु' के पाठक को बहुत ही धैर्य के साथ उसकी भावभूमि पर उतरना पड़ता है। इसमें बिम्ब, प्रतीक एवं मिथकों द्वारा गागर में सागर समाने की कला का प्रयोग किया जाता है। जब भी इसे अन्योक्ति, व्यंग्य और कटाक्ष के साथ उतारा जाता है तब यह और भी वेधक बन जाता है।

घुणा खादिता
ग्रन्थाः/कपोताः सुप्ताः पुस्तकालये। (ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–32/317)

1. संविद् नवे0(1943), पृष्ठ 42–44

ग्रन्थों में घुन का लगना और पुस्कालय में अनेकों कबूतरों का सोना वहाँ की जनशून्यता को दर्शाता है। यह शून्यता घुन खाई किताबों के कारण थी अथवा व्यक्तियों के द्वारा उपयोग में न लेने के कारण किताबों में घुन लगा यह भावक की भावयित्री प्रतिभा पर निर्भर है। कारण कई हो सकते हैं सम्भवतः वे पुस्तकें बहुत उपयोगी नहीं हैं, पुस्तकालय शहर से बहुत दूर है, सरकारी अनुदान के अभाव में कर्मचारियों की नियुक्ति नहीं हो पा रही अथवा ग्रन्थालय का वातावरण प्रतिकूल है। इन सब बातों को यह हाइकु अपने में सहेजे हुये है आप जैसा सोचते हैं वैसा ही अर्थ उसमें से निकाल सकते हैं। एक अन्य हाइकु भी दृष्टव्य है –

कॉलेज कन्या
सौन्दर्य मधुकोशः
रूपस्य प्रपा

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–49/501)

महाविद्यालय की लड़कियाँ जो अपने पारदर्शक वस्त्रों के कारण 'रूप की प्याऊ' बन गई हैं। यहाँ देखने वालों की भावना कामुकता में बदल रही है। उन लड़कियों के सौन्दर्य में 'मधुकोश' का आकर्षण है। यह कोश किसी भी भ्रमर को अपने पास आने से रोक नहीं सकता क्योंकि उसकी सुगन्ध, उसका पराग सार्वजनिक होता है। अतः उड़ते हुये भ्रमरों का उस पर मँडराना फिर मौका मिलते ही रसपान करके उड़ जाना इस भाव को व्यञ्जित करता है। यहाँ प्रेम की उत्कट प्रतिष्ठा न होकर वासना का प्राबल्य है। कामसन्तुष्टि ही जिसका लक्ष्य है इसमें आकर्षण का कारण भी बाह्य सौन्दर्य है जो अस्थिर होता है फिर उससे उत्पन्न आकर्षण अथवा प्रेम स्थाई कैसे हो सकता है। इसके साथ ही वह लड़की 'रूप की प्याऊ' बन जाती है जिसको भी रूप को भोगने की पिपासा हो वह उसका उपभोग कर सकता है। यह पिपासा सन्तुष्टि पर्यन्त चलेगी अतः कब कैसे और कितनी बार यह निर्धारित नहीं है। यहाँ कवि की दृष्टि कॉलेज कन्या के भौंड़े अंग प्रदर्शन तक ही केन्द्रित नहीं रही अपितु उसका असंयत आचरण भी उसमें शामिल है। सजना, सँवरना लड़कियों का शौक हो सकता परन्तु आधुनिकता

के नाम पर अपना प्रदर्शन करना मर्यादा को तोड़ना है। छोटा सा यह हाइकु आज बालक बालिकाओं के चारित्रक पतन की पूरी कहानी बयाँ करता है।

हर्षदेव माधव ने 'हाइकु' की विविधता से भी पाठकों का परिचय कराया है। वे परम्परागत छन्द–शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, वसन्ततिलका आदि को भी 'हाइकु' के स्वरूप में उतारने हेतु प्रयास कर रहे हैं। भले ही इसके लिये छन्दों को खण्डित करने का दोष भी उन पर लगाया जाता रहा है परन्तु छान्दस तत्व को दृष्टि में रखकर उन्होंने इस चुनौती को स्वीकार करके प्रयोगशीलता को निभाया है और ऐसे प्रयोगों द्वारा हाइकु में व्याप्त सम्भावनाओं की ओर संकेत भी किया है।

शिखरिणी –

गतः सूर्यो हा!
धिक्! तिमिरमभितः
रे! कमलिनी!

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–6/53)

शार्दूलविक्रीडित –

ईर्ष्यत्यत्र न.........
वीक्ष्य वदनं पुष्पं
जड़ं श्रूयते।।

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–6/54)

स्रग्धरा –

वृक्षाग्रे
पश्य
शुष्के
विकचनव
शशीकुड्मलम्

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–6/55)

वसन्ततिलका –

वृष्टेः समाप्ति
रथ दर्दुरनाद
एव .....
शिष्टोऽत्र

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–6/56)

वस्तुतः नवचेतना के संवाहक हर्षदेव माधव भाव एवं शिल्प के धनी हैं अतः उन्होंने जापानी छन्द 'हाइकु' को भी भारतीय परिवेश में लिखा है। वात्सायन के कामसूत्र की अभिसारिका जब इस लघुछन्द में कैद की जाती है तो कितनी तरल हो जाती है –

अभिसारिका
हस्ते दीपः/नेत्रयो
राग्नेयकीटः

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–4/33)

रात में उपपति के पास जाने की उत्कण्ठा आँखों में जुगनू की चमक उत्पन्न करती है हाथ में नन्हा दीपक जो हथेली की ओट में भी सुरक्षित नहीं है तेज वायु से कभी भी बुझ सकता है। नायिका के नेत्रों में विविध भाव जुगनू की चमक के समान स्पन्दित हैं। कभी किसी के देख लेने का भय तो कभी मिलन का आनन्द। दीपक आशा का प्रतीक है और जुगनू अस्थायित्व का। वस्तुतः एक छोटा सा हाइकु एक पूरी प्रेम कथा का गवाह बन जाता है। यही है बिम्ब प्रतिबिम्ब और कवि की संवेदनात्मक दृष्टि का प्रवाह।

यद्यपि अन्य कवियों ने भी 'हाइकु' पर कुछ प्रयोग किये हैं परन्तु माधव के द्वारा लिखे गये हाइकु बहुत ही स्वाभाविक एवं मुखर हैं।

तान्का

'तान्का' की गणना ऊर्मिकाव्य में की जाती है। इसमें हृदयगत भावों को तरंगित रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जहाँ शब्दों के इन्द्रजाल और अलंकार प्रधान शैली के स्थान पर शब्द संयोजन का जादू होता है। जापान में 'हाइकु' के अतिरिक्त काव्यस्वरूपों को 'वाका' कहा जाता है इस 'वाका' में तान्का सबसे छोटा स्वरूप है। इसमें पाँच पंक्तियाँ और 31 अक्षर हैं, लगभग चौथी सदी से इसका आरम्भ हुआ एवं सातवीं सदी में तान्का के रूप में स्थिरता मिली। आज भी जापान में वर्ष के प्रारम्भ होते समय उसके स्वागत में 'तान्का' ही पढ़ा जाता है।

डॉ0 धीरूभाई पारीख का 'तान्का' के विषय में मन्तव्य है –

1. तान्का मानवीय भावों की सादी सरल भाषा में अभिव्यक्ति है।
2. कभी सर्जक का सपाट भाव कथन।
3. प्रकृति के चित्रों द्वारा संकेत देकर भावाभिव्यक्ति साधने की कुशलता।
4. कभी प्रेमियों द्वारा तान्का का प्रयोग करके प्रणय की स्वीकृति–अस्वीकृति प्राप्त करने का यत्न।
5. जादुई प्रभाव वाली काव्य प्रकृति।
6. मानव हृदय के सच्चे भावों को वाणी प्रदान करने वाले 'तान्का' में शब्द की अधिकतर गूढ़ शक्ति है एवं स्वयं प्रकृति को भी प्रभावित करने की उसकी शक्ति है[1]। (हाइफन, जून–1942)[1]

डॉ0 मधु कोठारी तान्का को हाइकु का Extended Form कहते हैं एवं चित्रकला के इकत्तीस बिन्दुओं द्वारा चित्र उतारने की युक्ति भी। उनके मतानुसार तान्का के तीन लक्षण हैं –

1. कल्पना तत्व

2. संघट्टीकरण

3. सूचन (हाइफन, पृष्ठ–46,47)[2]

'तान्का' में 5–7–5–7–7 श्रुति की पाँच पंक्तियों का प्रयोग किया जाता है। सम्भवतः साहित्य विलास के रूप में इसका प्रयोग पादपूर्ति के लिये भी किया जाता था। जैसे 5–7–5 की तीन पंक्तियाँ प्रस्तुत करने के बाद दो पंक्तियाँ 7–7 की रचना प्रतिपक्षी को करनी होती है। परन्तु उन पंक्तियों का सम्बन्ध पूर्व पंक्तियों के विषय से अवश्य जुड़ा होना चाहिये था। 'तान्का' को कहीं कहीं तंका, तन्का, टांका आदि भी कहा जाता रहा है। परन्तु हर्षदेव माधव इसे 'तान्का' ही कहते हैं। हर्षदेव माधव के 'तान्का' में मानवीय संवेदनाओं के अनेकों चित्र बिखरे हुये हैं। स्त्री की विवशता को सधे शब्दों में उन्होंने इस 'तान्का' में व्यञ्जित किया है। जिसमें मृत हिरणी पत्नी के हृदय में जीवित हो जाती है। हिरणी की विवशता शिकारी की पत्नी की विवशता बन जाती है –

1. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ – 86
2. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ – 87

हरिणी हता
व्याधेन निष्ठुरेण
सायं खादिता
सा पुनश्च श्वसिति
व्याधवध्वा वक्षसि (ऋषे क्षुब्धे चेतसि–64/60)

शिकारी हिरणी को मारकर खा गया परन्तु वही हिरणी पत्नी के वक्षस्थल में श्वाँस लेने लगी। यहाँ न तो शाब्दिक चमत्कार है और न आलंकारिक सौन्दर्यबोध। यहाँ तो भावानुभूति का उत्ताल सागर है। इन छन्दों को जानने के लिये उनका आनन्द लेने के लिये श्रेष्ठ हृदयी पाठक होना अनिवार्य शर्त है। इस तान्का में शिकारी का हिरणी को मारना उसकी रोजी रोटी का प्रश्न नहीं है क्योंकि वह अपने आस्वादन के लिये उसे मार रहा है। निष्ठुर शब्द से प्रतीत होता है कि वह दाल रोटी से भी उदरपूर्ति कर सकता था परन्तु निष्ठुर होने के कारण वह हिरणी के प्रति और अपनी पत्नी के प्रति क्रूर है उनकी भावनाओं से अन्जान है उसे केवल अपने आनन्द से प्रयोजन है अतः सांयकाल हिरणी को खाते समय सम्भवतः उसने मदिरापान भी किया हो यही कारण है कि वह अपनी पत्नी के साथ कामक्रीड़ा में रत हुआ तब उसकी लाचारी से विमुख होकर अपने सुख को उसमें ढूँढ़ता रहा। उसी मृत हिरणी की श्वांसें, उसका कम्प, उसकी बेचारगी शिकारी की पत्नी के शरीर में भी विकसित हो रही है। सम्पूर्ण घटनाक्रम में शिकारी की क्रूरता और उसकी पत्नी की विवशता ध्वनित होती है। क्योंकि वह स्त्री शिकारी की कामपूर्ति का और हिरणी उदरपूर्ति का साधनमात्र बनकर रह गई है। उनकी सुनने वाला कोई नहीं कि आखिर वो क्या चाहती है।

प्रेम को नितान्त नवीन रूप से परिभाषित करते हुये इस तान्का में नेत्रों के मिलने को इसका कारण बताया है, यह मिलन प्रेम रोग है जिसे माधव ने नेत्रव्याधि कहकर आँखों को ही इसके लिये जिम्मेदार ठहराया है।

गवाक्षे मुखम्
गवाक्षेऽस्ति वसन्त

गवाक्षे चन्द्रः
वैद्यराजो वदति
अयं ते नेत्रव्याधिः (ऋषे क्षुब्धे चेतसि–61)

इस तान्का में एक छोटी सी प्रेम कहानी छिपी है। सामने वाली खिड़की में चाँद का होना वसन्त की आगवानी के लिये पर्याप्त है। यह चाँद केवल इसलिये ही नहीं है कि वह बहुत खूबसूरत है अपितु लोकलाज का ध्यान रखते हुये वह शाम के धुंधलके में खिड़की पर आकर खड़ी हो जाती है। उसके अंगों में सुकुमार यौवन वसन्त सा प्रफुल्लित है अब प्रेम में इन आँखों द्वारा ही प्रथम अनुभूति की जाती है अतः कवि ने इसे नेत्रों का दोष बताया है। इसके अतिरिक्त एक कहावत है कि सावन के अन्धे को हरा ही हरा दिखाई देता है, भी 'नेत्रव्याधि' शब्द को प्रमाणिक सिद्ध करती है। दरअसल प्रेम की पीड़ा अनुभूतिजन्य होती है। किसी के द्वारा समझाये जाने पर भी उससे विरत नहीं हुआ जा सकता। इसके अतिरिक्त एक तथ्य यह भी हो सकता है कि सामान्य सी बाला यदि मन को भा गई है तो लोग कुछ भी कहें, वह चाँद, वसन्त सब कुछ हो सकती है। इसे वैद्यराज अर्थात विद्वानों द्वारा 'नेत्रव्याधि', अन्धापन, बावलापन, दीवानगी, समर्पण कुछ भी कहा जा सकता है। परन्तु जो एक बार हृदय में स्थापित हो जाता है उसे निकालना बहुत कठिन है।

इस प्रकार हर्षदेव माधव के तान्का काव्य में नितान्त लाघवता से सशक्त अभिव्यक्तियाँ दिखाई देती हैं। ध्वनि और व्यञ्जना के समग्र संयोजन द्वारा उनमें अनेकों पारदर्शी बिम्बों की योजना की गई है। आधुनिक सभ्यता से माधव खुश नहीं हैं। इस सभ्यता का ओछापन उन्हें अखरता है। वे न तो स्वयं प्रदर्शन करते हैं और न ही इस प्रदर्शन से प्रभावित होते हैं –

आशु पुष्पिता
बोगन पुष्पलता
गन्ध रहिता
यथा हि अर्वाचीना
प्रसृताऽस्ति सभ्यता (ऋषे क्षुब्धे चेतसि–66)

यह निर्विवाद सत्य है कि जो वस्तु, भाव, विचार जितनी शीघ्रता से उत्पन्न होते हैं उतनी ही शीघ्रता से नष्ट हो जाते हैं। प्रायः जिनमें अशुद्धता है उनमें स्थायित्व नहीं होता। जिस प्रकार 'बोगनविलिया' फूल की बेल शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती है और बिना प्रयास के ही पल्लवित और पुष्पित हो जाती है परन्तु उसमें सुगन्ध नहीं होती , फूलों में स्थायी भाव नहीं होता। सुगन्धरहित सुबह उगते हैं और शाम को झर–झर गिर जाते हैं। उनके उगने और गिरने दोनों में ही स्थायित्व नहीं है। इसके अतिरिक्त उसका गन्धहीन होना मानो अर्वाचीन सभ्यता के संस्कारहीनता की ओर संकेत करता है। जिस प्रकार गन्ध हीन पुष्प भ्रमर, व्यक्ति अथवा आभूषण प्रिय बालाओं के लिये निरर्थक होता है उसी प्रकार अर्वाचीन सभ्यता में न तो स्थायित्व है और न ही संस्कारों की सुगन्ध। ऐसी निरर्थक सभ्यता बोगनविलिया के पुष्प की भाँति क्षणिक और परम्परारहित होती है।

इस प्रकार आधुनिक साहित्य में होने वाले निरन्तर प्रयोगों के फलस्वरूप विदेशी छन्दों ने भी संस्कृत में जो अपना स्थान बनाया है वह संस्कृत भाषा की श्रीवृद्धि की ओर संकेत करता है। हर्षदेव के तान्का काव्य का बाह्य रूप अर्थात आकार तो विदेशी है परन्तु उसकी आत्मा भारतीय है। उनके कल्पन प्रतीक और मानवीय संवेदनाओं के अनेकों चित्र इस छन्द का प्राण हैं। माधव की समस्त अभिव्यक्तियाँ व्यञ्जनाओं और ध्वनि का अद्भुत संयोग कही जा सकती हैं। इस छन्द के प्रयोग में भी अन्य कवियों ने अपने लेखन कौशल को प्रस्तुत तो किया है परन्तु हर्षदेव के तान्का का स्वरूप अधिक हृदयग्राही है क्योंकि उनके वैदेशिक छन्द सप्रयास नहीं लिखे गये हैं अनायास ही देवी पराम्बा के आदेश का अनुपालन करते हुये कवि ने इन छन्दों को भारतीय आलोक में लिखा है।

सीजो (सिजो) काव्य

सीजो काव्य दक्षिण कोरिया की काव्य विधा है। इसका उत्स सिल्ला साम्राज्य (668–936) के प्राचीनतम गीत ह्यांगका एवं कोर्यो राज्य के गद्य शैली के काव्यों में दृष्टिगत होते हैं। इसमें अर्वाचीन कोरिया के पम्परागत मूल्यों, उस देश के सौन्दर्य, लोगों की आकांक्षाएँ

तथा राष्ट्र की विविध लाक्षणिकताओं की गहन अभिव्यक्ति हुई है। सीजो काव्य में वर्णों की संख्या न्यूनाधिक हो सकती है परन्तु कड़ी तीन पंक्तियो की ही होती है। श्रीकृष्ण विहारी संक्षेप में कहते हैं कि–

पुराने कोरियाई सीजो तीन टाँगों वाले होते हैं उनमें 43 से 45 तक अथवा 42 से 46 तक अक्षर हो सकते हैं। परन्तु माधव ने सीजो काव्य रचना की पहल करते हुये 1987 में सीजो काव्य का परिचय सुरभारती में इस प्रकार किया है –

"सीजो इत्याख्यः काव्यप्रकारः मया दक्षिणकोरियादेशस्य काव्य साहित्यदानीतः। अयं काव्यप्रकारोऽतीव प्राचीनो वर्तते। अयं प्रकारः स्वरूप दृष्टया, विषयवस्तु निरूपण दृष्टया अपूर्वोऽस्ति। अस्मिन् काव्यप्रकारे कोरियादेशस्य सौन्दर्यं जनानाभावेगः, राष्ट्रभावना, वीरता, परम्पराप्राप्तं गौरवं एतत् सर्वं कविभिः प्रकटीकृतम्"

सीजो काव्यलक्षणानि –

1. त्रिपङ्क्तिमयं इदं काव्यस्वरूपमस्ति।
2. अत्र पञ्चचत्वारिंशत् (45) संख्यका वर्णाः निश्चिताः कृताः।
3. प्रत्येक 'सिजो' काव्यं स्वयं सम्पूर्णमस्ति।
4. अत्र त्रयश्चत्वारो वा वर्णसमूहाः सन्ति।
5. प्रथमपङ्क्.तौ वस्तुनिरूपणप्रारम्भः, द्वितीयपङ्क्.तौ कथावस्तु विकासः, तृतीयपङ्क्.तौ कथितव्यं वक्रता च चमत्कृति पूर्णा समाप्तिः अत्र केन्द्र स्थाने वर्तते।
6. अस्मिन् काव्यप्रकारे कविः स्वमनोभावान् चारुरूपेण स्फुटीकरोति।

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ–105,106)

हर्षदेव माधव ने सीजो काव्य में 15+15+15 अक्षरों की तीन पंक्तियाँ मिलती हैं। आपने गीत, गज़ल तथा अछान्दस तीनों ही काव्य स्वरूपों को इस छन्द से जोड़ दिया है। गज़ल के आवर्तन में प्रयुक्त सीजो दृष्टव्य है –

काकभ्रातः! गच्छदूरं
गच्छदूरं मे गृहात्।
कोऽपि वीरो यो गतोऽस्ति

नैव निवृतो रणात।
व्योम्नि गृधाः। हा! हतास्मि
कङ्कणं भ्रष्टं करात्

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–75/41)

गीत का प्रयोग –

कुम्भस्नाने मग्नाः सर्वे
क्लिन्नशरीरा याताः।
धावन्ति गायन्ति स्नान्ति
किं स्नाताः खलु स्नाताः?
मयि मृत्तिका गर्भे
गङ्गाया धारा जातः।

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–70/3)

इस प्रकार के काव्य में पंक्ति की प्रासबद्धता से कभी–कभी संगीत का तत्व जुड़ जाता है और गेयता में स्वाभाविकता का समावेश हो जाता है। यथा –

अश्वा जाताः जातो वायुः
जातः सूर्यो मनसि
शैलाः/नद्यः/वृक्षाः/आशाः!
वसन्ति मे रहसि
मृदः प्रत्यणु मयि
त्वमसि–तत् त्वमसि

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–70/2)

यहाँ पर मनसि, रहसि, त्वमसि आदि शब्दों में अन्तिम ह्रस्व 'इ' के कारण होने वाली प्रासबद्धता से गीत की लय सी जुड़ जाती है। कहीं कहीं छान्दस प्रयोग द्वारा भी सीजो को माधव ने अपनी तूलिका से उकेरा है। नये प्रयोग नई सम्भावनाएँ सभी मिलती हैं इस अर्वाचीन कवि में।

छान्दस प्रयोग का सीजो छन्द –

दूरंगतास्ते विजयस्य शब्दाः
दृष्टो न सः।

ससैनिका अश्वरथाः प्रयाताः
दृष्टो न सः।
प्रतिनिवृत्ताः मनसि विलापाः
वीरो गतः।।

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–75/43)

भाव की दृष्टि से सीजो काव्य प्रायः देशभक्ति, युद्ध, देशप्रेम के कारण बलिदान आदि भावनाओ एवं संवेदनाओं के पटल पर ही लिखे गये। हर्षदेव ने भी युद्ध विषयक सीजो का सृजन किया। युद्ध के विविध भाव सीजो की छाया में सजीव हो रहे हैं –

कोऽपि वीरः क्षालयति
निर्झरे करवालम्।
अन्तर्हिता वृक्षच्छाया
रक्त रक्तं शैवालम्
शृणोत्युच्चकर्णो हयः
रुदन्तं च शृगालम्

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–74/37)

प्रस्तुत काव्य में योद्धा द्वारा रक्त से सनी तलवार का धोना, जमी हुई काई में मिलता हुआ रक्त और सियारों के चीत्कार को सुनता हुआ ऊँचे कानों वाला घोड़ा, युद्ध की विभीषिका ओर भयावहता को चित्रित करता है। यह निश्चित है कि युद्धविराम की स्थिति हो रही है परन्तु जो अवसाद और विनाश युद्ध ने मनुष्य को दिया है उससे पशु भी आहत हैं।

एक अन्य स्थान पर उस सिपाही की मनोवेदना को दर्शाया है जो युद्ध से पीठ दिखाकर लौटा है। युद्धभूमि में कुण्ठित हुये अपने शस्त्र को धिक्कारते हुये कहता है कि हे मेरे शस्त्र तूने युद्ध में मेरी बहादुरी का साथ क्यों नहीं दिया –

भित्तिमाश्रित्य मे खड्गो
निद्रायते दिनेषु
रुजयति मामिदानीं
वक्षसो विवरेषु

किं कृतं हा धिक् शस्त्र।
त्वया युद्धक्षणेषु

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–75/40)

यहाँ दीवार पर उँघती तलवार धिक्कार के योग्य है। क्योंकि कर्मविमुख सदैव निन्दा का पात्र होता है। एक श्रेष्ठ योद्धा को जब युद्ध से पलायन करना पड़ता है तब वह वेदना से भर जाता है।

यद्यपि सीजो काव्य में देशप्रेम और युद्ध के अनेकों चित्र बिखरे हुये हैं लेकिन माधव ने इसमें प्रणय का वर्णन करते हुये अमरूकशतक और शृंगारशतक को दोहरा दिया है –

लज्जा पलायिता दूरं
नीवीबन्धः शिथिलः।
पुष्पैः सह विकीर्णोऽस्ति
केशपाशः कुटिलः
बाहुपाशे नायाति मे
नाथोऽस्ति रे ग्रहिलः

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–73/26)

मुक्त छन्द कविता

छन्द कविता का नाद्मय सौन्दर्य है जिस प्रकार नदी के तटवर्ती भाग नदी के जल को एक निश्चित सीमा में प्रवाहित होने के लिये बाध्य करते हैं उसी प्रकार छन्द भी कवि की काव्यधारा को नियन्त्रित करते हैं। छन्द को काव्यविधान के लिये उपयुक्त शब्दों की लययुक्त व्यवस्था भी कहा जा सकता है। परन्तु पिछले तीन चार दशकों से संस्कृत में न तो अल्पविराम, यति और विराम का लिहाज है और न ही संगीत ओर लय की व्यवस्था। केवल गद्य को पद्य में समेट लेना ही मुक्तछन्द की परिभाषा बनती जा रही है इस विषय में प्रो0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय का कथन है

"किन्तु प्रायेण हिन्दी भाषायां संस्कृते च मुक्तछन्द इत्स्यार्थमेव नाभिजानन्ति, ते यथा कथिञ्चत् गद्ये लिखन्ति, तदेव छन्दोमुक्तिं मन्यते, किन्तु तत्तु वस्तुतः काव्यादेव मुक्तिं ददाति।" (दृक्–2, पृष्ठ–134)

सम्भवतः वे मुक्तछन्द के विरोधी नहीं हैं अपितु छन्दोमुक्ति् से आहत हैं। कुछ अर्वाचीन कवियों ने प्रचलित छन्दों के चक्रव्यूह को तोड़कर मुक्तछन्द का प्रश्रय लिया है। इस नवप्रयोग ने उन्हें न केवल राष्ट्रीय अपितु अन्तर्राष्ट्रीय पीठिका प्रदान की है। आधुनिक कवियों ने परम्परावादी विषयों को नवीन छन्दों के प्याले में उतार कर विषयों का सामयिक आस्वादन कराया है। परन्तु मुक्त छन्द का अभिप्रायः शब्दार्थों से खिलवाड़ करना और गद्य के रूप में कविता लिखना कदापि नहीं है क्योंकि मुक्त छन्द की भी अपनी सीमाएँ हैं जिससे कविता की आत्मा बनी रहे। सम्भवतः यह छन्दोबद्ध काव्यलेखन से भी गुरुतर कार्य है।

शास्त्रीय छन्दों में जो कवि रचना करते हैं उनकी लय और गति नियन्त्रित होती है अतः रसोत्पादन हेतु उन्हें गूढ़ प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। इस विषय में दृक् के द्वितीय अंक के सम्पादकीय में डॉ0 शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि "यह तो निर्विवाद है कि कविता के आस्वादन में उसके लय–तत्त्व की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, लय–तत्त्व कविता का प्राण है। परन्तु केवल 'पिङ्गल' और 'केदारभट्ट' को कंठस्थ करने और नियत मात्राओं तथा वर्णों के जोड़ तोड़ पूर्वक वर्षों के अभ्यास से ही कविता में लय अथवा छन्दोमयता लायी जा सकती है, यह तथ्य विवेक के निकष पर खरा नहीं उतरता दिखता।"

मुक्तछन्द की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में यह प्रयोगवादी साहित्य के आँचल में परिष्कृत एवं परिवर्तित हुआ है। इस प्रवृति के साहित्य में या तो हमारा आक्रोश व्यञ्जित है अथवा प्रशस्ति का बखान किया गया है। प्रयोगवादी साहित्य का आविर्भाव भी सर्वप्रथम फ्राँस में हुआ। इससे पारम्परिक काव्य सिद्धान्तों की अवहेलना हुई। 1900 ई0 तक फ्राँस में मुक्त छन्द का प्राधान्य हो गया। यह मुक्त छन्द प्रतीकवादी आन्दोलन की आनुषंगिक सृष्टि का प्रतिफलन था। इसी के आस–पास इंग्लैण्ड में पाउण्ड ने बिम्बवादी सिद्धान्त की स्थापना की। वस्तुतः यूरोप की बिम्बवादी विचारधारा प्रतीकवादी विचारधारा का ही विकसित रूप थी।

प्रयोगवादी कवियों का अभिमत है कि समाज में परिवर्तन के

साथ ही साहित्य की मान्यताओं में परिवर्तन आवश्यक है। नवीन सामाजिक परिस्थिति और चेतना के सन्दर्भ में पलने वाला व्यक्ति जिस प्रकार के जीवन–स्पन्दनों को हृदयंगम करता है उसे मूर्त रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिये भाषा में नयी अभिव्यक्ति क्षमता का संचार करना पड़ता है। इसके लिये उसे शब्दों, छन्दों, लयों, ध्वनि–प्रतीकों, बिम्बों आदि पर प्रयोग करके अपने लिये अभिव्यक्ति माध्यम की खोज करनी पड़ती है। यह अभिव्यक्ति माध्यम उसके नवीन भावबोध का सेतु होता है।

पिछले दो दशकों की कविताएँ अस्तित्ववादी चिन्तन और अतियथार्थवाद की साहित्यिक धारा से भी जुड़ी हैं। यह चिन्तन परम्परागत छन्दों के बन्धन को अस्वीकृत करके मुक्तछन्द की प्रवृत्ति की ओर बढ़ रहा है। यद्यपि कुछ कवियों द्वारा किया गया यह छान्दस नवप्रयोग अपरिष्कृत एवं निरंकुश है। परन्तु कुछ कवियों ने इसके आन्तरिक अनुशासन का सतर्कतापूर्वक पालन किया है। डॉ0 शिवकुमार मिश्र कहते हैं कि "कविता में छन्दोमुक्त का अर्थ यह नहीं कि इसका कोई अनुशासन ही नहीं होता है। छन्दोमुक्त कविता में यह अनुशासन बाह्य या यान्त्रिक न होकर आन्तरिक होता है वस्तुतः यह लय गत ही है। यह लय हर भाषा में अलग–अलग होती है क्योंकि प्रत्येक भाषा की वर्णयोजना पृथक–पृथक होती है। छन्दोमुक्त शैली में लिखने के लिये उसे भाषा की सहज लय, छन्द और प्रवाह को पहचानना अनिवार्य है किन्तु यह होता है अत्यन्त कठिन। ...... मुक्त छन्द में रचना करना विदित छन्दों के समान ही सतत अभ्यास की माँग करता है। बहुत कम ही रचनाकार मुक्तछन्द वाले काव्य में लयात्मक/छन्दोमयात्मक अनुशासन का पालन कर पाते हैं[1]।" ऐसे सार्थक एवं सफल मुक्तछन्द प्रयोगधर्मी कवियों में केशवचन्द्र दाश, हर्षदेव माधव, महाराजदीन पाण्डेय, राजेन्द्र नानावटी, बनमाली बिश्वाल, वीरेन्द्र भट्टाचार्य, रवीन्द्रकुमार पण्डा एवं नवीन हस्ताक्षर के रूप में प्रवीण पण्ड्या का नाम लिया जा सकता है। यद्यपि अन्य अनेक कवियों की विस्तृत सूची आज विद्यमान है। परन्तु मुक्तछन्द के

1. अर्वाचीन संस्कृत साहित्य–दशा और दिशा, पृष्ठ–77,78

अभिनव प्रयोगधर्मी ये कवि मुक्तछन्द में चमत्कृत एवं प्रभावपूर्ण कविताएँ लिख रहे हैं।

केशवचन्द्र दाश ने मुक्त छन्द के माध्यम से जीवन की विसंगतियों, परम्परा एवं आधुनिकता के द्वन्द का सफलतापूर्वक चित्रण किया है। उनका चिन्तन समाज की समस्याओं से प्रारम्भ होकर औपनिषदिक चिन्तन में समाहित हो जाता है। जीवन की रिक्तता और व्यर्थता की गहरी वेदना उनके शब्दों में उतर आती है। उनकी प्रत्येक रचना में कोई न कोई दार्शनिक दृष्टि एवं तार्किकता अवश्य रहती है। उनके काव्य का भावबोध नितान्त नवीन है। वे आज भौतिकता के स्वच्छन्द प्रदर्शन से व्यथित हैं –

निधि भवनस्य/अलिन्दे यथा/श्रूयते भौतिकता स्वरः/
विक्षिप्तदीनतासु च/चीत्करोति/शैलकल्पक्षपा/कमहं
श्राविष्यामि/प्रसूतिकाव्यथां मम?[1]/

वह स्वयं को फेंकी हुई गेंद के रूप में नहीं देखते जो उछलकर फिर पृथ्वी का स्पर्श करेगी। वह तो आत्मा में स्वयं को विलीन करने का स्वप्न पाल रहे हैं उस मोक्ष की कामना कर रहे हैं जो श्रेष्ठ योगियों को भी दुर्लभ है –

नाहं निक्षिप्तकन्दुकः/प्रत्यागमिष्यामि/भूतलं संस्पृश्य
परमेको मिमिलिषुः/आषाढ़स्य बिन्दुः।[2]

इस प्रकार उनके बिम्ब एवं उपमान सर्वथा नवीन हैं। कहीं–कहीं पर कवि ने इतने प्रौढ़ भावों को शब्दों की वेणी में गूंथा है कि सामान्य पाठक उसे व्याख्यायित करने में बगलें झाँकने लगता है –

संसारो निमज्जति स्वयं
अवैखरीलीलामालिकासु
हास्यं यथा चुम्बिष्यदधरे
त्वमवभाससे यदा[3]

उनकी कुछ कविताएँ उनके आत्मालाप को व्यक्त करती हैं। ऐसा

1. ईशा, पृष्ठ – 4
2. ईशा, पृष्ठ – 1
3. अलका, पृष्ठ–2

प्रतीत होता है मानो वे श्रीमदभगवद्गीता के 'स्थितप्रज्ञ' जैसी स्थिति को प्राप्त कर चुके हैं अब वही आत्मा है वही परमात्मा है और यह संसार मिथ्या है इसकी स्पृहा उनके असीम अनुभव में शामिल नहीं है।

मेघकथा न पृच्छमाम्
अहं हि स्वयं दूतो मम नगरस्य
अहं च स्वयं प्रभु न कस्य किङ्करः[1]।

अन्यत्र भी – **अनभिज्ञशरीरतो मम**
मनो विगलति
यथा कश्चिद् व्यस्कप्रणवः, वृत्तित्यक्तब्राह्मणस्य मुखात्[2]।

वस्तुतः केशवचन्द्र दाश की कविताएँ गम्भीर एवं आध्यात्मिक विषयों में अधिक मुखरित हुई हैं उनकी 'निशीथनिश्वास' की यामिनी, 'निसङ्ग. परिभाषा की रहस्यमय अनुभूति, 'कीटझंकार' का सन्नाटा और 'मौनस्मितम्' की विवशतापूर्ण मुस्कराहट उन्हें लीक से हटकर लिखने वाला रचनाकार स्वीकार करती है[3]। उनके मुक्त छन्द में भावों की गुरुता भले ही हो परन्तु छन्दों की उन्मुक्तता, स्वच्छन्दता वहाँ नहीं पायी जाती।

अभिराज को अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का युगपुरुष कहा जा सकता है। साहित्य की कोई भी विधा हो, शिल्प का कैसा भी रहस्य हो अभिराज राजेन्द्र मिश्र के लिये कहीं कुछ भी श्रमसाध्य नहीं है। माँ सरस्वती के वरद पुत्र होने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त है अतः छन्दसृजन में भी उन्हें किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती अपितु शब्दों की माला कहीं गीत, कहीं गज़ल, सोहर, कजरी, रसिया आदि बनकर छान्दस नवप्रयोग को जन्म देती है। उन्होंने आधुनिक साहित्य के मुक्तछन्द से भी उतनी ही आत्मीयता से सम्बन्ध जोड़ा है। आपने अपनी रचना 'मधुपर्णी' में गज़ल और गीत के साथ एक खण्ड मुक्तछन्दों में भी लिखा है। इसमें लगभग अट्ठारह कविताएँ हैं जिनमें कहीं तो कवि की आत्माभिव्यक्ति है तो कहीं 'लोरी' के ब्याज से अपने

1. अलका, पृष्ठ–46
2. अलका, पृष्ठ–8
3. अन्धस्रोतः, पृष्ठ–1,36,51,24

बचपन की स्मृतियों की तारतम्यता है। कभी कवि मिट्टी का घोड़ा बन जाता है तो कभी विशाल आकाश, कभी सूखे वृक्ष की व्यथा को आशावादी दृष्टिकोण में परिवर्तित कर आश्वस्त करता हुआ सुहृद, तो कभी महाराणा प्रताप रोहसेन, बाणभट्ट जैसे जगतप्रसिद्ध श्रेष्ठ चरित्रों को प्रस्तुत करता हुआ सूत्रधार। शिल्प की दृष्टि से उन्होंने मुक्तछन्द के अनुशासन को स्वीकार करते हुये अपनी रचनाओं के साथ न्याय किया है। उनके मुक्तछन्दों में विषयगाम्भीर्य के साथ–साथ प्रौढ़त्व का निदर्शन भी है। उन्होंने राजनीति पर कटाक्ष करते हुये 'हवाला काण्ड' की चर्चा कुछ इस प्रकार की है –

काण्डात्काण्डं प्ररोहन्ती
राजनीतिदूर्वा
हवालाकाण्डमधिरूढ़ा
तत्संस्पर्शाच्च विषाक्ता सञ्जाता
सम्प्रति
दूर्वाभोजिनो
राजनेतृकृष्णसाराः
विषमूर्छिताः
प्राणव्यथां सहमानाः
स्वनियतिं प्रतीक्षन्ते ....

(मधुपर्णी, पृष्ठ–90)

मुक्तछन्द की दृष्टि से 'उपालम्भोरोहसेनस्य' कविता एक श्रेष्ठ रचना कही जा सकती है इसमें रोहसेन का उलाहना और रदनिका की व्यथा है। भाव की दृष्टि से इसमें एक मज़बूर भारतीय जनता है जो आज भी भारतवर्ष के शकारतन्त्र में रदनिका के आश्वासन को सच मानने वाले रोहसेन के समान 'सोने की गाड़ी' की प्रतीक्षा कर रही है जबकि इस प्रतीक्षा में वह अपनी 'मृच्छ कटिकम्' को भी खो चुकी है। रोहसेन न जाने कितनी बार मृत हुआ परन्तु हर बार माता के वात्सल्य और स्वर्ण की गाड़ी की प्रात्याशा ने उसे मरने नहीं दिया।

रदनिके नाऽहं मृतः
एषोऽहं रोहसेन

शपे त्वद्वात्सल्येन
नाहं मृतः
स्वर्णशकटिकाप्राप्त्याशया
मृतोत्पन्नः मृतोत्पन्न, मृतोत्पन्नः
दशवारं, विंशतिवारं, पञ्चविशंतिवारं
पूर्व मृतः
पश्चात्समुत्पन्नः

(मधुपर्णी, पृष्ठ–100/4)

यह कविता नहीं माता के प्रति दृढ़ विश्वास 'जननी पुनः नाऽनृतं भाषते' को व्यक्त करती है तो कहीं क्षुत्क्षाम कण्ठ से स्वर्णशकटिका की प्रतीक्षा करते रोहसेन के मिथक को जीवित करती है। गलियों में भ्रमण करते योगलम्पट एवं वसन्तसेना का गला दबाने वाले शकार आज भी जीवित हैं राजतन्त्र ऐसे ही लोगों की मुट्ठी में है अतः न्याय कौन देगा? इस अरण्यरोदन का क्या प्रयोजन? कौन पौंछेगा दुर्बल दीन के आँसू? वस्तुतः इस रचना में देश की राजनीति, सामाजिक विषमताएँ और वैचारिक विद्रूपताएँ 'मृच्छकटिकम्' के पात्रों द्वारा रेखांकित की गई हैं। इसी प्रकार 'वसन्तसेना' 'पत्रं श्रीबाणभट्टस्यं', 'महाराणाप्रतापसिंह प्रति' आदि रचनाएँ अपने देशकाल के साथ वर्तमान समस्याओं की भी संवाहक है।

परन्तु कहीं–कहीं पर अभिराज का 'गीतकार' मुखरित हो उठा है वह मुक्तछन्द में भी गीत की लय को समावेशित किये हुये है। यथा –

मृतघट्टोऽहं मृतघट्टोऽहं
जीवतां जनानां घृणास्पदं
प्रेतानां वंशीवाटोऽहम्
मृतघट्टोऽहम्।

(मधुपर्णी, पृष्ठ–92)

वास्तविकता यह है कि अभिराज परम्परागत छन्दों के सर्जक पहले हैं और मुक्तछन्द के रचनाकार बाद में। अतः उनकी कविताएँ छन्दोबद्धता से तो मुक्त हैं परन्तु लय, संगीत और शास्त्रीय नियमों से मुक्त नहीं

हैं। उनके मुक्तछन्द में भी यति व्यवस्था है। लय और यति के अभाव में कविता गद्य बन जाती है। अतः आन्तरिक अनुशासन को मानने वाले अभिराज की मुक्तछन्द रचनाएँ लयानुरोध से यति, गति विराम आदि का पालन करके लिखी गई हैं। पंक्तियाँ भावानुसार छोटी बड़ी हो गई हैं परन्तु उनकी आत्मा विदित छन्दों के समान ही अनुशासित हैं। उनका यही अनुशासन उनकी कविताओं में गेयता का समावेश करता है –

अहमस्मि कविः
शारदात्मजः
क्रान्तप्रतिभो नवरसरुचिरः
शब्दब्रह्मोपासनारतः
अभिरुचितसृष्टिवेधाश्चतुरः
स्वाधीनोपायोऽपराजितः
परिभूश्च स्वयम्भूः स्वयम्प्रभु
कविरस्मि जगतत्रयविलक्षणः

(मधुपर्णी, पृष्ठ–133)

वस्तुतः अभिराज राजेन्द्र मिश्र पारम्परिक एवं मुक्तछन्द दोनों के ही प्रयोग में बेजोड़ हैं। इसी सन्दर्भ में बनमाली बिश्वाल को भी मुक्तछन्द का सफल सर्जक कहा जा सकता है। वे गम्भीर विषयों के साथ–साथ आधुनिक हास्य व्यंग्य को भी इस छन्द में सहजता से समेट लेते हैं। उनकी 'वेलेण्टाइन डे सन्देशः' विषयवस्तु और छन्द दोनों की दृष्टि से पूर्णतः अर्वाचीन कही जा सकती है। वे पुस्तकों में रखे सूखे गुलाब को देखकर आहें नहीं भरते और न ही मेघ और भ्रमर में अपने दूत का आकार ढूँढ़ते हैं वे तो युगानुरूप भाषा में इन्टरनेट, संगणक और ई–मेल संकेत की बात करते हैं –

वेलेण्टाइनदिवसेऽद्य/कर्तुमीहे संगणकयन्त्रस्योपयोगम्
परमहं विवशोऽस्मि/अन्तर्जाल मध्ये,
अन्विष्यामि न प्राप्नोमि/प्रिये तव ई–मेल–सङ्केतम्[1]

1. वेलेण्टाइन डे संदेश, पृष्ठ – 44

'प्रियतमा' काव्य संग्रह उनकी प्रेयसी को समर्पित प्रेम पुष्प गुच्छ हैं जिसे समर्पित करते हुये कवि अपनी प्रेम की पवित्रता का विश्वास दिलाना चाहता है।

प्रियतमे! गृहाण मे प्रीतिपुष्पगुच्छम् नाहमस्मि प्रवञ्चकः
हृदयं मे स्वच्छम्[1]।

वे संयोग वियोग दोनों को अवश्यम्भावी मानते हैं अतः सम्पूर्ण संकलन में प्रीति का आस्वादन विरह के अन्तिम गीत की स्मृति को ध्यान में रखकर ही किया गया है क्योंकि समय प्रबल होता है वह मिलन के साथ विछोह भी रच देता है।

समयोऽत्र रचयति/प्रेम्णः/प्रीतेः पदम्।
समयोऽपि रचयति प्रणयस्य महाकाव्यं/
रचयति विरहविच्छेदम्[2]।

व्यथा में बिश्वाल की प्रौढ़ काव्यकला दिखाई देती है। भाव, भाषा एवं छन्द की दृष्टि से यह संकलन उनके स्थापित होने का संकेत देता है। इसमें कहीं हृदय की वेदना है और कहीं प्रिया के रूप में प्रकृति का व्यञ्जनामय रूप, कहीं दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति है तो कहीं दारुब्रह्म की श्रद्धा। इस रचना का प्रारम्भ वैश्वानर देव की स्तुति है जो जठराग्नि, आस्त्रेयाग्नि, क्रोधाग्नि के अतिरिक्त द्रौपदी का आग्नेयसंकल्प, शिव के तृतीय नेत्र की भस्माग्नि अथवा कवि की सशक्त लेखनी की ओजस्विता भी हो सकती है[3]। 'घास' की व्यथा दलित वर्ग की व्यथा है जो शिव के शिरोभाग पर समर्पित होने की महत्त्वाकांक्षा लिये हुये है –

जन्मजाता महत्त्वाकांक्षा मे/
शम्भोः शिरो भूषयाम्यवश्यम्[4]

बिश्वाल के मुक्त छन्द में एक प्रवाह है पाठक इस प्रवाह में बिना गेयता के बह जाता है। यहाँ उनके छान्दस् सौष्ठव की गरिमा है। भाषा छन्द की अनुगामिनी होकर इतनी सरलता से गतिमान रहती

1. प्रियतमा, पृष्ठ – 38
2. प्रियतमा, पृष्ठ – 80
3. व्यथा, पृष्ठ – 01
4. व्यथा, पृष्ठ – 02

है कि भाव को कहीं भी दुभाषिये का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। विज्ञापन में नारी के अशोभनीय रूप के चित्रण से व्यथित कवि का एक चित्रात्मक अन्तर्द्वन्द दर्शनीय है –

किं विज्ञाप्यते/नारीणां यौवनम्/उत किञ्चिद् विपणीयं वस्तु? पुरुषाणाम क्षौरोपकरणं/नारी देहस्तत्रापि माध्यमः/पुरुषाणाम् अधोवस्त्रम्/विज्ञाप्यते हन्त! नारी देहे/विज्ञाप्यते केशतैलम् परं हन्त! विज्ञापनं युवतीनां वत्तुलस्तनयोः/न जाने च किं वा विज्ञाप्यते/नारीवक्षोऽथवा स्वर्णहारः[1]।

वस्तुतः बनमाली बिश्वाल की कविताओं में विषय गाम्भीर्य के साथ–साथ छन्द और लय का परिनिष्ठित रूप दिखाई देता है। इस प्रकार शिल्प की दृष्टि से आधुनिक कवि परम्परागत छन्दों के मोहजाल से मुक्त हो चुका है उनका स्थान अब गज़ल, कव्वाली, कवित्त, छप्पय, बरवै सोरठा, सोहर, लावनी, कजली जैसे हिन्दी एवं लोकभाषा के छन्द ले चुके हैं। इस प्रकार तथ्य और कथ्य दोनों ही स्तरों पर कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा अपना विस्तार कर रही है। इसी श्रृंखला में सर्वाधिक प्रयोगधर्मी के रूप में आज भी जो कवि संस्कृत क्षितिज पर अपनी ऊर्मियां बिखेर रहा है वह हैं डॉ0 हर्षदेव माधव। माधव की काव्य रचना मुक्तछन्द के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी चेतना कही जा सकती है। संस्कृत कविता के नये बिम्ब के लिये कवि ने छोटे–छोटे 'हाइकू' छन्द को माध्यम बनाया है। मुक्तछन्द में 'हाइकू' एक छन्द नहीं विधा है। इसमें अभिव्यक्ति की नवीनता है। यह अपनी सूक्ष्मता के कारण ही प्रतीक, बिम्ब आदि के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है –

अभिसारिका
हस्ते दीपः
नेत्रयोराग्नेय कीटः।

प्रस्तुत हाइकू में दीपक अभिसारिका के हाथ में प्रियतम से मिलने की उत्कट अभिलाषा का प्रतीक है और आँखों में जुगनू का होना प्रेम की तरलता, उत्साह, चंचलता और मिलन के विश्वास को सूचित करता

1. व्यथा, पृष्ठ – 61
2. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–4/33

है। मुक्तछन्द को लय और गेयता के बन्धन से मुक्त मानने वाले कवियों को हर्षदेव माधव की कविताओं की गति देखनी चाहिये जिसमें छन्दोबद्ध काव्य से अधिक प्रवाह है। उपमान और उपमेय का विलक्षण तादात्मय उनकी सूक्ष्म कविता में मुस्करा उठता है –

कॉलेजकन्या ग्रन्थालयेः/दुग्धोत्सुकाः सुश्री मार्जायः[1]।

कॉलेज कन्या की प्रवृत्ति कहने के लिये 'सुश्री' शब्द पर्याप्त है। यही छन्द की गुरुता है और 'हाइकू' का वैशिष्ट्य भी। माधव के छान्दस् नवप्रयोग से कोई भी विषय अछूता नहीं है। जीवन की छलना, जीविकोपार्जन का दर्द जब गाणितिक संज्ञाओं में उतर आता है तो काव्य नवीन ऊँचाइयों का स्पर्श करने लगता है –

ऑफिस – चिन्ता X गृहिणी + उपनेत्र ÷ क्षय = जीवितम्[2]

केवल तुकबन्दी द्वारा की गई रचनाएँ चिरंजीवी नहीं होतीं। कुछ कवि मुक्तछन्द का उपहास करके शब्दों की जादूगरी से संस्कृत कविता को तोड़ मरोड़ देते हैं परन्तु ऐसी कविताएँ तात्कालिक प्रभाव भी नहीं छोड़तीं। उनकी यह बाजीगरी सतही जिज्ञासुओं को भले ही चमत्कृत कर दे परन्तु उसमें स्थायित्व नहीं हो सकता। कवि माधव मात्र छः शब्दों में जीवन–मरण की वह व्याख्या कर देते हैं जिसे कई पृष्ठों में भी व्याख्यायित नहीं किया जा सकता –

मृत्यु कपालं धृत्वा/भ्रमति समयप्रेतः[3]।

इस छन्द में मृत्यु और समय का ऐसा तालमेल है कि पाठक को मृत्यु की अनिवार्यता समझाने की आवश्यकता नहीं है। यह छन्द इस प्रकार होता तो कितना विकृत प्रतीत होता –

मृत्यु कपालं धृत्वा
समय प्रेतः गत्वा
जीवन हरणं कृत्वा

वस्तुतः मुक्तछन्द के प्रयोग में माधव बेजोड़ हैं। उन पर एक विशिष्ट लेख (मुक्तछन्द के सन्दर्भ में ही) दृक XII में प्रकाशित किया जा चुका है।

1. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ–54
1. ऋषेः क्षुब्धे चेतसि, पृष्ठ–06
3. कालोऽस्मि, पृष्ठ–37

रवीन्द्र कुमार पण्डा ने मुक्त एवं छन्दोबद्ध दोनों प्रकार के प्रयोग अपनी रचनाओं में किये हैं। उर्वी, शतदलम् उनकी छन्दोबद्ध रचनाएँ हैं। और नीरवझर में मुक्तछन्द का नवप्रयोग उनकी प्रौढ़ता को प्रदर्शित करता है –

सखे! सर्वमत्र
न किञ्चिदस्ति तत्र
जीवनं पत्रमिव
पतिष्यति को जानाति कुत्र?[1]

यद्यपि यहाँ अत्र, तत्र, पत्र एवं कुत्र में समानधर्मी ध्वनि निकल रही है लेकिन फिर भी कविता की तीक्ष्णता कुछ अलग ही व्यञ्जित होती है। कवि पण्डा भी जीवन और मृत्यु के प्रश्न को हर्षदेव माधव की भाँति हल करने के प्रयास में हैं परन्तु उनकी दृष्टि उपमान की दृष्टि से भिन्न है –

बीजरूपेण/आगतोऽहम्
वृक्ष रूपेण गच्छामि
तेनैव त्वां/किं जीवनमिति प्रश्नं[2]

परन्तु कहीं–कहीं सतही रचनाएँ प्रभावहीन प्रतीत होती हैं लेकिन वहाँ पर छन्द का प्रश्न नहीं है वहाँ विषयवस्तु की परिनिष्ठता, परिपक्वता, बोधगम्यता का अभाव दिखाई देता है। उसमें कहीं भी चमत्कारजन्य प्रभुता दिखाई नहीं देती –

अत्र स्वर्गः/अत्रैव नरकः।
अत्र खाद्यम्, अत्र क्षुधा/अत्र क्षयस्य शोकः,
अत्र चन्दनम्, अत्रैव किंशुकः।
अत्र बीजात् पुष्पं, पुष्पात् फलं/
फलात् संवर्धते विषस्य पादपः।[3]

निश्चित रूप से इस प्रकार के छन्दों का प्रयोग विचारणीय हो सकता है ऐसा मुझ अल्पज्ञ का मत है। मुक्तछन्द में एक नवोदित हस्ताक्षर के रूप में प्रवीण पण्ड्या का उल्लेख भी किया जा सकता है। जिनकी

1. नीरवझर, पृष्ठ – 08
2. नीरवझर, पृष्ठ – 74
3. नीरवझर, पृष्ठ – 05

'ज्योतिर्ज्वालनम्' काव्य संग्रह हर्षदेव माधव की परिपाटी का समर्थन करता प्रतीत होता है। इस युवा कवि की अन्तर्ज्वाला लगभग पैंतीस कविताओं में व्यक्त हुई है। जिसमें नेता, नारी, महात्मा, गोधराकाण्ड, स्वतन्त्रता न्यायपथि आदि मिश्रित रचनाएँ हैं और सत्यम्, आश्चर्यम्, पृच्छति रुदति कुरुक्षेत्र, दोषवस्तु चन्दस्यैव आदि प्रतीकात्मक एवं बिम्बात्मक कविताएँ हैं। अधिकांश कविताओं में कवि ने दृढ़ता से परिष्कृत भाषा शैली में अपनी बात रखी है। 'अग्ने रूपद्वयम' कविता आध्यात्मिकता का पुट लिये हुये है –

हृदयस्य ज्वाला/न भवति श्मशानस्य हुताशनो/
यो जाज्वल्यमानोऽपि/याति परां शान्तिम्
अविशष्यते तत्र/शीतलं भस्म[1]**।**

यद्यपि अनेक प्रतिष्ठित कवियों ने भारतभूमि की दशा में खण्ड काव्य तक लिख दिये हैं परन्तु इस वेदना पर मुक्तछन्द में लिखी गई प्रवीण पण्ड्या की यह एक कविता बहुत अधिक प्रभावित कर जाती है –

मदीये राष्ट्रे/पथभ्रष्टो जायते
दानस्य पात्रम्/किं भारतमिति संज्ञामात्रम्?
निस्तेजो राष्ट्राननं, नैवाऽऽभा देशस्य कायायाम्
कथं स्वच्छन्दाश्चछात्राः/नैव गुरोश्छत्रच्छायायाम्
युगभ्यो धूमाच्छादिता समास्ते यज्ञवाट्/किन्तु नैवास्तङ्गतः सत्याग्निसम्राट्/
भवेयुः कुतर्काणांमध्ये, व्यथितस्तर्कवितर्का
विषधराणां साम्राज्ये[2]**।**

आधुनिक राष्ट्र एवं पतनशील शासकों का कैसा चक्रव्यूह है जिससे 'भारत' अब केवल संज्ञामात्र बनकर रह गया है। इसके अतिरिक्त नित्यप्रति प्रकाशित नूतनकाव्य संग्रह, पुरस्कृत रचनाएँ एवं पुरस्कृत कवि क्या वास्तव में इसके पात्र हैं यह 'कवर्वेदना' मानो कवि की अपनी वेदना है।

1. ज्योतिर्ज्वालनम्, पृष्ठ – 48
2. ज्योतिर्ज्वालनम्, पृष्ठ – 27

नाहम् प्रेषयिष्यामि,
पत्रिकाषु रचनाः प्रकाशनार्थम्
यतो नैव, प्रकाशिता भवन्ति कविता
प्रकाश्यते नूनम् कवय[1]ः

वस्तुतः विदित छन्दों की लीक से हटकर मुक्तछन्द में रचना करने का साहस भी चुनौती भरा है। यह कवि के लिये तलवार की धार पर चलने के समान है। विदित छन्द में एक लय एवं गति होती है जिसकी मधुर ध्वनि के सहारे पाठक एवं श्रोता आनन्दित हो जाते हैं इसके साथ ही उसका एक निश्चित काव्यशास्त्र है जिसकी आधार भूमि पर उसका निर्माण किया जा सकता है परन्तु मुक्तछन्द के लिये लघुतम कलेवर में अल्पतम शब्द संयोजन से गहन भावों का प्राणाधान करना बहुत ही दुःसाध्य कार्य है। जिन कवियों ने मुक्तछन्द की रचना में आन्तरिक अनुशासन पर दृष्टि रखी है उनकी रचनाएँ पारम्परिक न होते हुये भी गेय हैं। वास्तव में मुक्तछन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है वही उसे छन्द सिद्ध करता है अन्यथा प्रवाहहीन रचना प्रभावहीन हो जाती है। अतः आज कवि को मुक्तछन्द के 'ब्रेकर' को पहले समझ लेने की आवश्यकता है अन्यथा वह दिन दूर नहीं जब गद्य, पद्य अथवा जहाँ रुचिकर लगे ऐसा लिख देने वाला हर तीसरा व्यक्ति स्वयं को कवि सिद्ध कर देगा। इसलिये मुक्तछन्द पर भी काव्यशास्त्र के अनुशासन की आवश्यकता है जिसके लिये संस्कृत के श्रेष्ठ साधकों में से किसी की तो पहल करनी ही होगी।

भङ्गीभणितियाँ

अर्वाचीन संस्कृत काव्य पारम्परिक प्रतीकों से ऊपर उठकर लिखा जा रहा है। वैसे तो संस्कृत काव्य में अलंकारों के परिप्रेक्ष्य में वक्रोक्ति का विधान सदैव से किया जाता रहा है परन्तु उस विधान में जो 'टाइप्ड' शैली थी उसे हटाकर अर्वाचीन काव्यकारों ने भङ्गी भणितियों का प्रयोग किया है। यद्यपि वहाँ भी होती वक्रोक्ति ही है परन्तु उसके प्रतीक और बिम्ब परम्परागत न होकर नवीन होते हैं। जिससे काव्य की गहन संवेदनात्मक अनुभूति पाठक स्वयं अनुभव

1. ज्योतिर्ज्वालनम्, पृष्ठ – 12

करता है। वहाँ पर प्रयुक्त वर्ण विन्यास जो अनकहा कह जाते हैं वही चमत्कार की सर्जना कही जाती है। जब कवि पृथ्वी के भूकम्प की चर्चा करते हैं तो वहाँ उनके मन का जो कम्प है, परिवार के बिखर जाने का जो भय है वह पृथ्वी के कम्प से भी अधिक होता है। इसमें मनोरथों के ध्वंसावशेषों की पीड़ा होती है। भौतिक भूकम्प तो सरकारी सहायता और अनुदानों द्वारा सहाय्य होते हैं परन्तु उसकी आत्मिक पीड़ा तो जीवन भर रुलाती है। यही भङ्गीभणिति है जो काव्य को पोषित करती है।

अर्वाचीन काव्य जगत के श्रेष्ठ पुरोधा अभिराज भङ्गीभणितियों के प्रयोग में सिद्धहिस्त हैं। आपका लेखन ही नहीं अपितु वक्तव्यों में भी इन भणितियों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। आपके द्वारा की जाने वाली सामान्य चर्चा भी इनके प्रयोग से विशिष्ट हो जाती है। 'शालभञ्जिका' की विषयवस्तु व्यंग्य प्रधान है। अतः इन गज़लों में अनेक स्थान पर विषयवस्तु की तीक्ष्णता बहुत ही प्रभावित करती है।

समाकृष्याऽङ्कपाल्यां सान्त्वयति बधिरं सदयमन्धः
भविष्यं पश्य बन्धो! साधु यद्यातं तु तद्यातम्

(शालभञ्जिका–70/5)

अन्धे द्वारा बहरे को उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन देना तो ठीक है परन्तु जिन अन्धे और बहरों की ओर संकेत है वह तिर्यक है। उसी में भङ्गीभणिति अनुभव की जा सकती है। क्योंकि जो स्वयं छलकपट की रतौंधी से दृष्टिहीन हों वह निष्ठुर, निर्दयी और मानवता के क्रन्दन से अनभिज्ञ बधिर क्रूर को क्या उपदेश दे सकता है। वास्तविकता भी यही है हम नीतिविहीन अधकचरे ज्ञान से अपने लिये यश बटोरने का प्रयास कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दृष्टव्य हैं –

प्राणमूल्यैरवाप्तम्मया जीवनम्
क्षौममूलं सखे! मामवेहि क्षुमाम्

(शालभञ्जिका–34/1)

क्षपितं विलीनसंज्ञं यज्जीवनं स्वगेहे
ख्यातोऽभवत्स राष्ट्रे चम्बलबलस्समस्ते

(शालभञ्जिका–138/2)

अभिराज समाज की बिडम्बनाओं से आहत हैं उन्हें बार–बार प्रतीत होता है कि हमारे समाज में पात्र–कुपात्र की पहचान नहीं है। यदि कुपात्र को पद प्रतिष्ठा मिल जाती है तो वह यशस्वी और ज्ञानी हो जाता है। ऐसे लोगों की बहुलता है यहाँ। ऐसे में देश का कल्याण कैसे हो सकता है।

उद्याने यस्मिन् सान्द्रतरौ
प्रतिशाखमुलूका वल्गन्ते
कल्याणं तस्य कथं भविता
सुषमा क्व वसन्तस्यागमने (मधुपर्णी–27/4)

इसी विषमता को अन्यत्र भी व्यक्त किया है –

कनकपञ्जरस्थिता वायसा दधिभक्तं भोज्यन्ते
जर्जरकण्ठाः शुकाः सारिका असकृन्निर्भर्त्स्यन्ते
धेनूः समुत्सार्य सूकर्यो नीयन्ते बहुमानम्

(मधुपर्णी–33/2)

यहाँ पर कवि का चिन्तन जब मुखरित होता है तो वह जिस विशिष्ट भाव भंगिमा को आत्मसात करके अपने स्वरूप को व्यक्त करता है वही उसकी भङ्गी भणिति है। वह तिरछापन, पैनापन काव्य की आत्मा होती है। इससे रचनाओं में जो नवीनता और सहजता की बानगी दिखाई देने लगती है वह सहृदयी पाठकों के अन्तः स्थल को झंकृत कर देती है। अभिराज की सामान्य व्याख्यान शैली भी इन्हीं भणितियों में आश्रय पाती है। उनके इसी प्रभाव से प्रभावित हुये राधावल्लभ त्रिपाठी ने शालभञ्जिका की भूमिका में कहा है कि बेबाक कथन के द्वारा अभिराज की कविता की अलग पहचान बनती आई है। साफ़गोई सदैव उनकी भंङ्गीभणिति सहेली बन कर रही है। शालभञ्जिका में यह साफ़गोई पारदर्शी हो गई है।

डॉ० जगन्नाथ पाठक अपनी चुटीली अभिव्यक्तियों, उक्तिभंगिमाओं और कथ्य के वैचित्र्य से पाठकों पर अपनी एक गहरी छाप छोड़ते हैं। एक भावना विशेष को प्राञ्जल भाषा में पाठकों तक पहुँचाने का कवि का प्रयत्न सफल हुआ है। भले ही वह उनकी 'आर्यासहस्रारामम्' हो, 'कापिशायिनी' के चषक हों अथवा 'विच्छित्तिवातायनी' के आमन्त्रित

करते वातायन हों। उनकी रचनाओं में स्वभावोक्ति होते हुये भी वक्रोक्ति है, युगीन विद्रूपताओं पर प्रहार होते हुये भी बेबाक प्रस्तुति है। उक्ति भंङ्गी की विचित्रता किसी न किसी बहाने उनके शब्दों में उतर आती है –

मम हृद्भिक्षापात्रे स्मितकुसुमानीह कानिचित्सन्ति
बहु मन्ये परमेतान् अश्रुकणान् केनचिन्निहितान्

(आर्यासहस्रारामम्–2/7)

कवि अपने हृदयरूपी भिक्षापात्र में मुस्कानों के फूलों के स्थान पर किसी के दो अश्रुकणों को अधिक मूल्यवान समझता है। राजनैतिक बिडम्बनाएँ चहुँ ओर व्याप्त हैं साहित्यकार का शोषण हो रहा है कवि को अपनी कविता बेचने स्वयं बाजार जाना पड़ रहा है। आचरणहीन नेता देश को कहाँ ले जा रहे हैं –

शास्त्राचारविहीनाः सन्ति समाजस्य हन्त नेतारः
तुरगार्हं रथमधुना कर्षन्त्येते खराः कतिचित्

(विच्छित्तिवातायनी–19/162)

इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिकता देश का अभिशाप है और आज सम्पूर्ण देश इसकी आग में जल रहा है। कवि इसे मानवता के लिये कलंक मानते हैं। वे चिन्तातुर हैं, भयातुर हैं और अस्तित्व के लिये संघर्षरत अपने भारत के भविष्य के विषय में किंकर्तव्यविमूढ़ भी।

म्रियते न कोऽपि हिन्दुर्न च यवनः साम्प्रदायिके कलहे
म्रियते मनुष्य एवेत्यनुभूतिर्जायते न कथम्

(विच्छित्तिवातायनी–43/383)

इस प्रकार पाठक जी की भङ्गी भणितियाँ गागर में सागर के समान बहुप्रभावी हैं।

राधावल्लभ त्रिपाठी ने अपने एक काव्य संग्रह का शीर्षक ही 'सन्धानम्' रखा है। इसमें जीवन के अनेक अनसुलझे प्रश्न हैं, मन से एकाकी हो जाने की व्यथा है और समाज के गिरते मूल्यों के प्रति वक्रोक्तिजन्य टिप्पणी है। 'जीवनवृक्ष' नामक कविता की पैनी उक्तियाँ कहीं भी सीधी सपाट नहीं हैं, टेढ़ेपन को लेकर अनकही बात कहती है –

नैवाहं कामये दीर्घं मरणं तु शनैः शनैः
पत्राणां चैव पुष्पाणां विट्पाद गलनं शनैः
वरं नश्यामि सहसा ज्वालाभिः कवलीकृतः
विकीर्णः कणशः सद्यो विलीये वलये भुवः

(पृष्ठ–10)

यहाँ निरर्थक दीर्घ जीवन की चाह नहीं अपितु सार्थक अल्प जीवन की साधना है। डॉ0 त्रिपाठी बहुत ही स्पष्टवादी और सत्यदृष्टा कवि हैं। उनका कृतित्व ही नहीं अपितु व्यक्तित्व भी पारदर्शी है। परन्तु जब समाज में फैली विद्रूपताएँ उनके समक्ष आ कर खड़ी हो जाती हैं तो वे बिना किसी चाटुकारिता के गहरी चोट देते हैं। परम पुरुषार्थी साधक के रूप में उनकी भंङ्गीभणितियाँ बहुत ही तीखे प्रहार करती हैं। आडम्बरधारी व्यक्तित्व उनसे तिलमिला उठते हैं।

डॉ0 पुष्पा दीक्षित अपने व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में बेजोड़ हैं। अतः उनके काव्य में उनकी स्पष्टवादिता कभी वक्रोक्ति के माध्यम से तो कभी विचित्र भंङ्गीभणितियों के माध्यम से दिखाई देती हैं। गेरुए वस्त्र पहनने वाले पाखण्डी साधुओं के लिये उनके हृदय में कोई श्रद्धा नहीं है क्योंकि वे जानती हैं कि यह वस्त्र परिवर्तन एक दिखावा है–

वीतरागता यदा तदा गृहं वनायते
त्वं प्रतीयसे यदा तदा जगत् तृणायते
ये कषायवाससोऽपि मानसे कषायिताः
ते विशन्ति यत्र तत् तपोवनं रणायते।

(विंशशताब्दीसंस्कृतकाव्यामृतम पृष्ठ– 667)

अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के साधक हर्षदेव माधव भी अपनी भंङ्गीभणितियों के लिये ही अधिक जाने जाते हैं। बातों का पैनापन उनके काव्य की आत्मा है। वह छोटे–छोटे हाइकूओं से तीक्ष्ण तीरों का सन्धान करने में सिद्धहस्त हैं। पुरायत्र स्रोतः नामक काव्य संग्रह में सैनिकों द्वारा की गई भूमिरक्षा, देशरक्षा का संकल्प इसी प्रकार के परिसंवादों की झाँकी है –

यावत् पर्यन्तम्
एकः सैनिको जीवति

तावत पर्यन्तम्
देशो न म्रियते
सैनिकस्य रुधिरेण
देशे पाटलपुष्पाणि प्ररोहन्ति
किन्तु तानि
कस्यापि नेतुः कण्ठं
मण्डयति, बत

(पृष्ठ–80)

'मृत्युशतकम्' में माधव मृत्यु और यमराज से भी परिहास में उस व्यञ्जना की ओर संकेत कर जाते हैं जिसे वह अपने काव्य में उतारना चाहते हैं –

अविहा !
किमियदेव मे पुण्यं
यमराज!
यत्
स्वर्गे ह्यप्सरसो भवेयुः
न भवेदुपनेत्रं मे

(पृष्ठ–1/6)

मृत्यु पर एक और बिम्ब युक्त भणिति दृष्टव्य है –

अहं मधुमक्षिका
जीवितं, मधुच्छत्रं
मृत्युलोर्ष्टगुटिका

(पृष्ठ–78)

यह संसार मधु जैसा मीठा, मोहयुक्त और आवेष्टित करने वाला है। परन्तु जैसे ही मृत्युरूपी मिट्टी का ढेला इस जीवनछत्र पर पड़ता है वैसे ही सब कुछ यथावत छोड़कर मधुमक्खी की भाँति जाना होता है। इसी प्रकार –

लङ्कायाम्, एको विभीषणोऽपि
आसीत्

और

रामायणकाले,
राक्षसा वने निवसन्ति स्म
शनैः शनैः
वनानि छिन्नानि
अतः वराका राक्षसाः ....

(मृगया, पृष्ठ–17)

ऑफिस में कार्य की उदासीनता कैसे राष्ट्र को निर्बल बना रही है। उसके आर्थिक पोषण को रोक रही है –

आसन्दी रिक्ता
कार्यालये/शरीरं
रुग्णं राष्ट्रस्य

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–32/313)

कार्यालयस्य
व्यस्ता मक्षिकाः श्रान्ताः
पञ्चवादने

(ऋषेः क्षुब्धे चेतसि–47/485)

यहाँ भी कार्यालय में वास्तव में क्या कार्य होता है? इस ओर व्यंग्य किया गया है। बस पाँच बजने का इन्तजार और चाय नाश्ते में समय समाप्ति की प्रतीक्षा ही उनका कार्य है। ऐसी भणितियों के कारण ही माधव हाइकू सम्राट बन सके।

बनमाली बिश्वाल भी वास्तविकता से जुड़कर लिखने वाले लेखक हैं। उनकी छन्दों की धार ही नहीं अपितु कथाओं का पैनापन भी उनके तीक्ष्ण विचारों का परिचायक है। 'घास' सब कुछ सहती है, उगती है, नष्ट हो जाती है परन्तु टूटती नहीं उसमें जिजीविषा है कम प्राप्त होने पर भी अधिक प्राप्ति की प्रत्याशा है। वह पुष्प से हीन भले ही रहे परन्तु सम्पूर्ण पृथ्वी का श्रृंगार वही करती है –

दलितं, प्रपीडिंत, निष्पेषितम्
अहं घासपुष्पम्
घासे मम जन्म स्थितः

घासे हि विलयः

(व्यथा, पृष्ठ–02)

इच्छाराम द्विवेदी के काव्य में भङ्गी भणितियों के प्रसंग उतने सहजग्राह्य नहीं हैं कहीं–कहीं अनायास कोई प्रसंग तीक्ष्ण बन जाता है –

नीरक्षीरनिर्णयेषु वायसा निमन्त्रिताः
हंसकाः प्रयान्ति कर्दमेषु हन्त साम्प्रतम्

(प्रणवरचनावली–433)

जनार्दन प्रसाद मणि ने भी कुछ रचनाओं में अपने विचारों की पैनी धार को कुछ असरदार बनाने का प्रयास किया है परन्तु यह प्रयोग सायास दिखाई देता है –

काकैर्बकैर्नुनु पेचकैर्महिते सभाया मण्डपे
रे शारदे तव विज्ञहंससुभाषितानां का कथा

(निस्यन्दिनी–53/9)

वास्तविकता तो यह है कि कवि का स्वभाव प्रायः व्यञ्जनापरक ही होता है अतः लघुभंङ्गिमाएँ काव्य की आत्मा होती हैं परन्तु भङ्गीभणिति से काव्य का श्रृंगार करना एक अलग धारा है। अतः व्यञ्जना तो प्रायः अधिकांश कवियों के कृतित्व में सजती रही है परन्तु शब्दों की भङ्गीभणितियों से अपने काव्य अलंकृत करने वाले कवि अंगुलिगण्य हैं।

अष्टम अध्याय
अलंकार योजना

प्राचीन साहित्य में अलंकारों को काव्य का प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया गया था। संस्कृत में साहित्यिक आलोचना का सूत्रपात अलंकारों की महत्ता प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति से ही हुआ। कभी अलंकार ही काव्य का प्राणतत्त्व माने जाते थे। परन्तु धीरे–धीरे अर्वाचीन संस्कृत साहित्य की धारा ने इस प्रकृति को मुख्य धारा से हटाकर सहायक तत्त्व के रूप में स्थापित कर दिया।

शिल्प के स्तर पर आज का कवि अलंकारों के मोहपाश से मुक्त हो चुका है। वह उनके पारम्परिक प्रयोग के स्थान पर कुछ नवीन करने में विश्वास रखता है। अतः संस्कृत कविता को सजाने का उपक्रम बीत चुका है। प्रसिद्ध विचारक दयानन्द भार्गव भी वर्तमान रचनाधर्मिता के विषय में कहते हैं –

"कवि (संस्कृत) भाषा के शृंगार के उपकरण कोश, व्याकरण अन्य साहित्य से तो बटोर सकता है, व्यवहार, जीवन और समाज से नहीं। परिणामतः वह भाषा को जड़ आभूषणों से सजा सकता है जीवित अलंकरणों से नहीं। संस्कृत कामिनी के निवास के लिये पत्थर के प्रासाद उपलब्ध हैं किन्तु मिट्टी की सौंधी सुगन्ध उसे दुर्लभ है।" (दृक–1, पृष्ठ–8)

यदि तात्विक दृष्टि से विचार किया जाये तो यह सत्य है कि अलंकारों की अलंकृति में रसांगता का भाव निहित होता है और जो किसी न किसी रूप में व्यंग्य ध्वनि से जुड़ा होता है। काव्य में अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें अलंकार रसचर्वणा में सहायक होते हैं। परन्तु जहाँ पर स्वाभाविक सौन्दर्य की चर्चा की जाये वहाँ अलंकारों का प्रयोग अतिभार को व्यञ्जित करता है। संस्कृत कविता की अर्वाचीनता अथवा आधुनिकता कवि की अभिव्यक्ति से सिद्ध होती है। सामाजिक विषय को अपनी कविताओं में उतारने पर कवि की स्वतः स्फूर्ति और आवेग अलंकार और रस की अपेक्षा नहीं रखता अपितु दृश्यमान पदार्थों और घटनाओं के विवरण पर दृष्टि रखता है।

अतः अलंकार और रस योजना के प्रसंग तज्जन्य नवीनता के साथ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। अलंकारों के प्रयोग में परिवर्तन की जो बयार बही है उससे संस्कृत साहित्य की नई पौध विकसित हो रही है। अलंकार का प्रयोग तो आधुनिक कवि अपने काव्य में कर रहा है परन्तु कुछ परिवर्तनों को स्वीकार करके वह अपनी नव्य दृष्टि, नये प्रतिमानों को आइने में कैद कर रहा है। अलंकारों की यह योजना निम्नलिखित रूपों में अपनी परिवर्तनशीलता सिद्ध कर रही है –

(1) उपमानों में नवीनता

अर्वाचीन काव्य में एक विशाल ब्रह्माण्ड समाया है। अतः आज के कवि के वर्ण्य विषय में विश्व की चेतना समाहित है। पल–पल बदलते परिदृश्य, विषयों की नवीनता, वैज्ञानिक तकनीक से हो रहा मानव परिचय आज के साहित्य में भी उतर रहा है। फिर 'लोकशास्त्रवेक्षणात्' की बात मम्मट भी तो कहते हैं जब लोकशास्त्र का विस्तार होने लगे तो फिर कवि की कल्पना उसके उपमान कैसे सिमट सकते हैं। उनका फलक भी विस्तृत हो जाता है और कवि के उपमानों में नवीनता आने लगती है। वैसे भी अर्वाचीन कवि में कुछ लीक से हटकर कर गुजरने का जुनून है वह अपनी शब्द सामर्थ्य से काव्य में नये प्राचीरों का निर्माण कर रहा है। अतः संस्कृत भाषा अपने नवीन उपमानों से कमनीय और युगानुरूप दिखाई दे रही है।

यह उपमान भिन्न–भिन्न अलंकारों में अपने सौन्दर्य का अत्यन्त चारुचिक्य बोध कराते हैं। राधावल्लभ त्रिपाठी के 'गीतधीवरम् में नवीन उपमानों के अनेक प्रयोग दिखाई देते हैं। यमक का एक उदाहरण दृष्टव्य है –

सरस धीवर इव सुधीवर/स्वागतं ते स्वागतं (पृष्ठ–42)

यहाँ प्रथम धीवर का अभिप्रायः धीवर से ही है परन्तु दूसरे 'सुधीवर' का सन्धि विच्छेद सु+धीवर के स्थान पर सुधीवर से है जो सहृदयी विद्वानों को इंगित करता है। इसी प्रकार जगन्नाथ पाठक की कापिशायिनी में –

गगनं मधुवेश्म किं शशीं।
मधुकुम्भः किमयं समुद्गतः। 'कापिशायिनी'

आकाश में चन्द्रमा का सौन्दर्य सन्देह अलंकार द्वारा व्यक्त किया जा रहा है। यहाँ चन्द्रमा मधु का कुम्भ है। वैसे भी चन्द्रमा अमृतमय तो है ही और अपनी अमृतमय किरणों से औषधियों को विकसित करता है परन्तु कवि द्वारा यह चन्द्रमा है अथवा मधुकुम्भ यह सन्देह पाठकों को गुदगुदाता है। यद्यपि मध्यकालीन साहित्य में अमृतकलश के रूप में चन्द्रमा को स्वीकार किया गया है फिर भी 'मधुकुम्भ' में अस्पृश्य सौन्दर्य दिखाई देता है।

इस प्रकार अर्वाचीन काव्य में रूढ़ और परम्परागत उपमानों से अलग नवीन उपमानों के प्रयोग से एक ताजगी का एहसास होता है। राजेन्द्र नानावटी श्रृंगार में डूबे नायक–नायिका की काम क्रीड़ा में, आनन्द में नया उपमान कुछ इस प्रकार प्रयोग करते हैं –

किलयोपात्राया वक्षसि खेलन्तः/सर्पफणा यथा/
प्रसर्पन्तु ममाड्गुल्यः/तव वक्षसि।

(मरीचिका, पृष्ठ–11)

यहाँ मुख्य बात है उंगलियों द्वारा वक्षक्रीड़ा की। उन्हें फण के नवीन उपमान से जोड़कर काम के एक विशिष्ट पक्ष से जोड़ा है। इस क्रीड़ा में आनन्द और रोमाञ्च दोनों को कवि ने समेट लिया है।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने भी चन्द्रमा के अमृतकलश से पृथ्वी पर दुग्ध का प्रस्रवण कराया है –

चन्द्रकुम्भच्युतक्षीरभारोच्चय
प्राप्तसाम्या धरामूर्णुते चन्द्रिका

(मत्तवारणी–78/2)

चन्द्रमा की चाँदनी के दूधिया भाव को दूध से इतर और क्या उपमा दी जा सकती है। अभिराज ने अनेकों उदाहरणों में भिन्न–भिन्न उपमानों का प्रयोग किया है परन्तु वे उपमान एकदम विपरीतार्थक एवं आश्चर्यबोधक नहीं हैं। क्योंकि उनका मानना है कि काव्यानन्द में 'हर्डल्स' उत्पन्न करके आनन्द पैदा करना बेमानी है। अतः वे केवल शाब्दिक क्रीड़ा को आलंकारिक सौन्दर्य नहीं मानते। उनके श्लेष, यमक एवं अन्योक्ति के अनेकों उदाहरण नवीन उपमानों द्वारा काव्य का श्रृंगार कर रहे हैं –

उदाहरणार्थ –

विकचपाटलपुष्पकदम्बकं ह्यु परिसारितकङ्कणपाणिना
मुकुलजालमुपेक्ष्य विचिन्वती वरतनू रतनूपुरकावभौ।

('जानकी जीवनम्' 6/6)

यहाँ रतनू 'रतनू' की समानक्रम में आवृत्ति होने पर भी अर्थ की भिन्नता के कारण यमक अलंकार है। प्रथम में वरतनू अर्थात सुन्दर कामिनी तथा दूसरे में रतनूपुर अर्थात मुखर नूपुर वाली, यह अभिप्राय व्यक्त होता है।

भास्कराचार्य त्रिपाठी के एक ही पद में अतिश्योक्ति, रूपक लाट्योपमा, अनुप्रास आदि की छटा दिखाई देती है –

दुग्धाब्धिः कृतस्नेगेहे विलुलितमथुरा दुग्धधारा मुखाब्जे
मुग्धाभिर्गीयमानं स्वरगृहमभितो मड्गलं दुग्धगन्धि।
दन्ताली दुग्धमुग्धा कलितकिलकिला दुग्धसौख्यानि दुग्धे
मृत्कूटे दुग्धरागं भणति वसुमती स्नाप्यते दुग्धपूरैः

(मृत्कूटम् पृष्ठ–06)

हर्षदेव माधव नवीन उपमानों के प्रयोगजन्य कवि कहे जा सकते हैं। उनकी कविताओं में सायास अथवा अनायास इस प्रकार के प्रयोग आ ही जाते हैं।

अधुना/अयोध्यायां मनुष्या न वसति/
वसन्त्यत्र विषादखण्डाः (निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–70)

यहाँ अपहनुति द्वारा अयोध्या के विषाद को व्यक्त किया गया है। विषादयुक्त मनुष्य मानो विषाद, दुःख और कष्ट का प्रतिरूप बन गया है।

बनमाली बिश्वाल के काव्य में भी इस प्रकार की अलंकार योजना दिखाई देती है। प्रेम की पीड़ा प्रेमी और प्रेमिका में समान रूप में मरुद्यानवत दिखाई देती है।

तव स्थितौ मम स्थितिर्मरुद्यानमिव (व्यथा, पृष्ठ–08)

उनका मिलना मरुद्यानवत बन जाता है जो दोनों के लिये समभाव का सूचक है उनका विरह मरुभूमि में जल की खोज जैसा व्याकुल कर देने वाला है –

त्वद्‌विरहात्परं प्रिये!
त्वयि मे यत् प्रेम,
तदवश्यं मरुभूमौ
जलस्यान्वेषणम्

(प्रियतमा, पृष्ठ–43)

नये उपमानों का प्रयोग बिश्वाल ने अनेकों स्थान पर किया है नेत्र के काजल से सन्ध्या का आभास और खुले बालो में छिपा हुआ मुख अमावस्या के चन्द्रमा की प्रतीति करा रहा है[1]। मुख में चन्द्रमा का उपमान यद्यपि बहुत प्राचीन है परन्तु बालों का मुख को ढक लेना पारस्परिक मिलन बेला की स्मृति से जब जुड़ जाता है तब नये भावबोध ा को जन्म देता है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र एक नया ताजगी भरा उपमान मन को छू जाता है –

आपत्तिश्चेत् प्रियतमे!
भवितुं मे मनसोऽधीश्वरी,
त्वत्प्रीतिसागरं तर्तुं
काचिद् भव विश्वस्या मे तरी

(प्रियतमा–44)

मन की अधीश्वरी अपनी प्रिया के प्रेमसागर को पार करने को प्रिया का विश्वास ही नौका बन सकता है। यहाँ विश्वास रूपी नौका द्वारा प्रेमसागर को पार करने की कल्पना नितान्त नवीन और आकर्षक है। सत्य है, प्रेम पारस्परिक विश्वास से ही जन्म लेता है, उसी में श्वांस लेता है और अन्ततः उसमें ही अपने भविष्य का स्वप्न संजोता है यही प्रेम की अन्तर्दृष्टि है। कवि ने विश्वास को नौका बनाकर आलंकारिक सौन्दर्य की सृष्टि की है। काव्यार्थ के स्फुरित होने में अनुभव द्वारा युक्तिपूर्वक विचित्रता उत्पन्न की जाती है। कहने का अभिप्रायः यह नहीं है कि उस काव्य में युक्ति होती ही नहीं है। वहाँ पर वह उपस्थित तो होती है परन्तु अनुभूति कराने के लिये उपमानों का चमत्कार अवश्य होता है। समय के साथ–साथ कवि प्राचीन उपमानों को छोड़कर नवीन उपमानों का प्रयोग अपने काव्य में इसलिये भी कर

1. प्रियतमा, पृष्ठ–46

रहा है। जिससे वह युगानुरूप साहित्य का सृजन कर सके। रुढ़िगत उपमानों का प्रयोग करते समय उसमें निहित व्यञ्जना भी पुरानी लगती है। पाठक उस व्यंग्यार्थ तक पहले भी कई बार जा चुका होता है अतः उसमें उसकी विस्मयात्मक स्थिति नहीं बन पाती। फलतः आध ुनिक कवि का प्रयास यही होता है कि वह विसंगति में संगति की खोज करे। यह संगति इन विसंगत वस्तुओं में किसी एक ही परिव्यापित द्वारा उसे भासित करती है। केशवचन्द्र की कविता में इसी प्रकार का नवीन प्रयोग नये रस के साथ है –

शिशिरसिक्तघासस्य कपोले
त्वमवतरसि
कस्मिन्नेक शवस्य सम्माने
बुदबुदस्य उपमाने.......अभिमाने
कालो दोलायते
वैराग्यस्य हलाहले.....कोलाहले
विषयस्य आग्नेयहिल्लोले
आन्दोलन काले.........विकले
अन्धभिक्षुमनुसरत्खञ्जककुरस्य
उल्ललितलाले
त्वमवतरसि पुनः
तन्द्रालुबालकसय जृम्भालुकपोले
(कविद्वादशी पृष्ठ–77)

यहाँ 'त्वम्' पद में स्त्रीलिंग है अथवा पुल्लिंग यह स्पष्ट नहीं है। संस्कृत में स्त्री पुरुष दोनों के लिये क्रिया के रूप में लकार एक जैसे होते हैं। इस स्थिति में केशवचन्द्र दाश की इस कविता का सम्बोध्य प्रेयसी भी हो सकता है और परमपुरुष परमात्मा स्वरूप ब्रह्म भी। कवि की दृष्टि में दोनों अभिन्न हैं अतः कविता में अस्पष्टता रखी गई है। तुम उतरती हो की पुनरुक्ति एक ओर श्रृंगार का बोध कराती है वहीं दूसरी ओर वैराग्य उत्पन्न करती हुई शान्त रस में डुबो देती है। यहाँ शव का सम्मान और बुदबुद का उपमान जीवन की नश्वरता की ओर संकेत करता है जो पाठकों को शान्तरस की ओर ले जाता है। यहाँ काल का विवर्तन और वैराग्य हलाहल भी इसी का बोधक है।

हिल्लोल, आन्दोलन, चपलता, आवेग औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं जो शृंगार और शान्त दोनों के ही भिन्न–भिन्न भावों को व्यक्त करते हैं। लंगड़े कुत्ते की लार वीभत्स होने के कारण जुगुप्सा का विभाव बन जाती है, तन्द्रालु बालक का जम्भाई लेता कपोल वात्सल्य का विभाव हो सकता है इन सब पर परमसत्ता अथवा प्रेयसी का अवतरण होता है। यहाँ भले ही वह प्रेयसी हो अथवा परम ब्रह्म। उनकी अनुभूति कमल, पल्लव, मलयानिल आदि में न होकर शव के सम्मान में, बुदबुद के उपमान में, अन्धे भिखारी के पीछे लंगड़ाते कुत्ते के मुंह से गिरती लार में हो रही है। फलतः ऐसा प्रतीत होता है जैसे आधुनिक काव्य में काव्यार्थ बोध भी जटिलता को प्राप्त हो रहा है उसमें विरोधी तत्त्वों द्वारा, नवीन उपमानों के प्रयोग से उसे अर्वाचीन बनाया जा रहा है। विसंगतियों से युक्त उपमान पारम्परिक न होकर चमत्कार पूर्ण एवं अन्योक्तिपरक है। प्रवीण पण्ड्या की 'कति कूपा' कविता में अपहनुति अलंकार द्वारा नये उपमानों का प्रयोग करते हुये राष्ट्र की स्थिति को चिन्हित किया है। यहाँ मानवता से प्रारम्भ हुआ कूप राष्ट्र, प्रान्त, जाति, गोत्र, कुटुम्ब से होता हुआ न जाने कितने अनन्त कूपों में विभक्त हो जाता है। कवि को कोई भी ऐसा देश दिखाई नहीं देता जहाँ केवल मानवता को स्वीकार किया जाये। भेदभाव के ब्याज से मानव शोषण बन्द होना चाहिये[1]। कहीं–कहीं कुछ ऐसे उपमानों का प्रयोग भी मिलता है जो परस्पर उपमेय उपमान दोनों रूपों में परिगणित हो जाते हैं। माधव की यह रचना इसी रूप को व्यक्त करती है –

शिशुचरणधूलिधूसरां शाटीं विलोक्य
रजोभिरस्पृष्टा स्वच्छा शाटी रोदिति।

यद्यपि यहाँ प्रत्यक्ष रूप में कोई उपमान और उपमेय नहीं है परन्तु यहाँ बच्चे की चरणरज से धूसधूसरित साड़ी का मातृत्व प्रबल है जो स्वच्छ साड़ी की मातृत्वहीनता पर विजयी हुआ है। एक मलिन साड़ी स्वच्छ साड़ी से अधिक सम्माननीय हो गई। यहाँ एक साड़ी का रोना अथवा दूसरी का गर्वित होना भावगत उपमान और प्रमेय के अन्तर को

1. उद्बाहुवामनता, पृष्ठ–64

स्पष्ट कर रहा है। साड़ी की साड़ी से उपमा। एक मलिन एक स्वच्छ। अप्रत्यक्ष रूप में यह पुत्रवान और पुत्रहीन की तुलना है। वस्तुतः इस प्रकार के नवीन प्रयोग अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के आत्मतत्व हैं। यद्यपि यहाँ प्राचीन काव्य में एक ही वस्तु के उपमान और उपमेयत्व को अनन्वय अलंकार कहा गया है। परन्तु यहाँ दो वाक्यों में पारस्परिक उपमान और उपमेयत्व का भाव होने उपमेयोपमा अलंकार की नवीनता यहाँ पाठक को बाँधती है।

(2) सजीवारोपण अलंकार

जब अचेतन पर चेतन का आरोपण किया जाता है तब वहाँ सजीवारोपण अलंकार होता है। इसका प्रयोग पाश्चात्य काव्य में प्रायः किया गया है। यहाँ कवि रूपक को ही विभिन्न रूपों में प्रयोग करके भिन्न–भिन्न नामों में समायोजित करते हैं। फिर यह सजीवारोपण रूपक ही तो है जिसमें निर्जीव को सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में सजीवारोपण अलंकार नाम से इसका प्रयोग नहीं किया गया है। भारतीय काव्यशास्त्र में रूपक द्वारा मानवीकरण के रूप में इसकी प्रस्तुति मिलती है। यह प्रकृति को चैतन्य रूप में प्रस्तुत करते हुये उसे जगत से जोड़ देते हैं। कवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम के चतुर्थ अंक में इसका विस्तार से प्रयोग किया है। परन्तु अर्वाचीन काव्य में इसको भावों, विशेषणों और अचेतन संज्ञाओं के साथ संयुक्त करके नवीन रूप प्रदान किया गया है। यहाँ उपमान और उपमेय की नवीनता और उसका स्वरूप इस अलंकार को जन्म देता है। माधव ने 'लज्जा' जैसे अनुभाव को संस्कृति और संस्कार की बहन बनाकर आधुनिक समाज के मूल्यच्युति की ओर संकेत किया है –

अस्माकं
संस्कृतिसंस्कारयोर्दुहिता, संयमस्य भगिनी
षोडशवर्शीया
समाजभूषणमयी
लज्जा मृतास्ति
यौवन प्रदर्शनकाले

तस्याः शोकसभा
विहिताऽस्ति
दूरदर्शने/सिनेमागृहेषु
वर्तमानपत्रेषु।
विज्ञापनफलकेषु
महाविद्यालय प्राङ्गणेषु.............।।

इस कविता में समाज में व्याप्त नग्नता, संस्कार विहीनता और लज्जाहीनता को कवि प्रस्तुत करना चाहता है। इसके दुष्प्रभावी क्षेत्रों को कविता के अन्त में उन्होंने रेखाङ्कित किया है अतः यहाँ सजीवारोपण अलंकार कहा जा सकता है। कवियों द्वारा वक्रोक्ति के रूप में भी इस अलंकार को स्वीकार किया गया है। क्योंकि समकालिक कविता में आज सौन्दर्य के प्रतिमान परिवर्तित हो रहे हैं काव्यार्थ के स्फुरित भाव को पाठकों तक पहुँचाने का दायित्व उक्तिवैचित्र्य का है।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने 'कार्गिल युद्ध' की समस्त पीड़ा को अपनी 'कार्गिलम्' इस रचना में प्रस्तुत किया है। यहाँ कार्गिल अचेतन होते हुये भी चेतन है अतः वह सोचता है, रोता है, माथा पीटता है और सच्चाई का इजहार भी करता है[1]। दूसरी ओर राष्ट्र की राजधानी दिल्ली भी सजीव है वहाँ पर होने वाली समस्त घटनाओं की साक्षी है लम्पटों को भोग देने वाली और धर्माचरण को विध्वस्त कर देने वाली है[2] –

का वा कथा तिलानां सिकताचयादपीयम्
चुच्यति निकामतैलं राष्ट्रस्य राजधानी
आन्दोल्य घोषणाभिर्लोकं नतोन्नताभिः
स्वपिति प्रगाढ़मेषा राष्ट्रस्य राजधानी

(मत्तवारणी, पृष्ठ–36)

यहाँ जीवित व्यक्ति के समान राजधानी हँसती, बोलती, सोती, जागती है। फलतः यहाँ इसी प्रकार जानकीवल्लभ शास्त्री की कविता में भी ईंट, पत्थर आदि शब्दों को भी सजीव मानते हुये उन्हें सम्बोधित किया

1. मत्तवारणी, पृष्ठ–24
2. मत्तवारणी, पृष्ठ–36

गया है यद्यपि ये प्रतीक हैं वर्ग विशेष के परन्तु नवीन प्रतिमान के साथ नये उपमान में प्रयुक्त हैं –

इष्टिकेः किमिष्टं पश्यसि? नश्यसि जीवनं समेषाम्
त्वमिव त्वन्निमत्घिणामपि सैव दशाऽभूत तेषाम्
प्रस्तर! पश्यसि किं सारं संसारान्मा विमनाभूः
प्रस्तरीविहितानिजह्वदयैर्निगतैस्तैः कृता रसा भूः
लित्ते! दीर्यसे कियन्ति त्वयि जीवनानि जीर्णानि
ह्वदयानि गच्छतान्तेषामयि तुभ्यमेव दीर्घानि

जब हम किसी को सम्बोधित करते हैं तब उसका अस्तित्व चेतन तत्त्व से युक्त होता है। अतः यहाँ जड़ के प्रति सम्बोधन में भी सजीवता है। भौतिक जगत की विडम्बनाओं से पाठक का परिचय कराते हुये केशवचन्द्र दाश कहते हैं –

निधिभवनस्य
अलिन्दे यदा
श्रूयते भौतिकतास्वरः
विक्षिप्तदीनतासु च चीत्करोति
शैलकल्पक्षुधा कमहं श्राविष्यामि
प्रसूतिकाव्यथांमम?
सन्धिसन्धानयोर्मध्ये
दोलायते स्थितिर्मम

(ईशा, पृष्ठ–04)

यहाँ 'भौतिकता' में इस अलंकार का प्रयोग करते हुये बहुत सफल प्रस्तुति की है।

बनमाली बिश्वाल के काव्य में 'घासपुष्पम्', अग्नि, मेघ आदि अनेकों ऐसी रचनाएँ हैं जो भले ही अन्योक्ति अथवा वक्रोक्ति के माध्यम से सामाजिक मूल्यों को, दलित समाज की पीड़ा को कहती रही हो पर वहाँ भी अचेतन में चेतन को प्रतिबिम्बित करने का संकल्प है–

दलितं प्रपीड़ितं निष्पेषितं
अहं घासपुष्पम्
घासे मम जन्म स्थितिः

घासे हि विलयः

(व्यथा, पृष्ठ–02)

अनाथोऽहं गृहहीनः
निःसङ्गोऽस्मि तथा चासहायः
मदग्रेऽस्ति यात्रा चासमाप्या।

(व्यथा, पृष्ठ–03

महाराजदीन पाण्डेय ने अपने 'मौनवेधम्' संग्रह में सभ्यता को भस्मासुर सदृश आण्विक अस्त्रों के साथ आसुरिक खेल में रत दिखाया है –

शस्त्रनिर्माणे प्रतिस्पर्धा
निरस्त्रीकरणसम्मेला
तृणकुटीके शिशुनामग्न्युपवन खेला
सभ्यता भस्मासुरीयति
मानयति मृत्यूत्वसवम्
शिरसि कृत्वाण्ववस्त्रपोट्टलिकाम्
स्खलन्ती रता नृत्ये
वदन्ती
अयि मां लोकय।

(मौनवेधम्, पृष्ठ–34)

इस प्रकार अनेकों कवियों ने अलंकारों के नवीन प्रयोग द्वारा कल्पन एवं उपमान योजना में परिवर्तन किया है। आधुनिक युग में ज्ञान का विस्तार होने से संस्कृत कविता समस्त प्राचीन बन्धनों को त्यागकर आधुनिक रूपा बन गई है। आज समुद्र की विशालता में संस्कृत कवि को जिप्सी यौवना की अनावृत पीठ नजर आती है उसे वह होनोलुलू की सुन्दरी के हाथों जैसा स्निग्ध लगता है और ओडिसी महाकाव्य के नायक को मिले शाप जैसा भयंकर प्रतीत होता है। अतः यह निश्चित है कि संस्कृत कवि की संवेदनशीलता में युग की प्रत्येक अनुभूति में समाज की चेतना समाई हुयी है। संस्कृत साहित्य युग बोधक होने के साथ–साथ भाव प्रभाव से समृद्ध हुआ है। काव्य में आने वाले वैश्विक सन्दर्भों ने कविता के लिये अनेकों नये द्वार खोले हैं परन्तु इसके लिये वाचक और विवेचक दोनों की अन्तर्दृष्टि में समायोजन की आवश्यकता

है, दोनों की सजगता से ही नवीन प्रयोगों को यथावत रूप में आस्वादकों तक पहुँचाया जा सकता है।

(3) अन्योक्ति का सफल प्रयोग

अन्योक्ति को कवि की अभिव्यक्तिपरक शैली भी कहा जा सकता है क्योंकि जीवन के वे कड़वे सच जिन्हें व्यक्ति कहने में संकोच करता है और जिसका स्पष्ट कथन अशोभनीय एवं अपमानजनक प्रतीत होता है उन्हीं को अन्योपदेश की रीति से कान्तासम्मित भाव को लेते हुये जब व्यक्त किया जाता है तब वहाँ अन्योक्ति होती है। बुद्धिमान व्यक्ति सदैव व्यञ्जनापूर्ण वार्तालाप को अभिधया कथन की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है। अतः भले ही वह अभीष्ट व्यक्ति की बुराई हो अथवा यशोगान इसी पद्धति से वर्णन करने पर व्यञ्जना शक्ति द्वारा प्रतिपादित अर्थ को यथेष्ट रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है। कुछ विद्वान अन्योक्ति को रूपक का ही एक रूप मानते हैं, कुछ इसे अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार से जोड़ते हैं और कुछ अन्योपदेश व्याजोक्ति एवं समासोक्ति में इसका समाहार करते हैं। परन्तु आचार्य मम्मट ने इसका बृहत्तम स्वरूप अपने काव्यशास्त्र में प्रतिपादित किया है। अभिराज राजेन्द्र मिश्र अर्वाचीन संस्कृत काव्य में अन्योक्ति काव्य के श्रेष्ठ पुरोधा हैं। आपका अन्योक्ति केवल अलंकार नहीं एक विधा है। अन्योक्ति शतकम् नामक कृति में अन्योक्ति की विविधता के दर्शन होते हैं। 'अभिराजयशोभूषणम्' में वर्णित है कि अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुतवाच्य की जो व्यञ्जनया अवगति होती है उसे अप्रस्तुत अलंकार कहते हैं अपने विविध हेतुओं के कारण वह पाँच प्रकार का होता है। इसकी जो पाँचवी सारुप्यनिबन्धना, अप्रस्तुत प्रशंसा है वही अन्योक्ति है –

अप्रस्तुतप्रशंसा सा प्रस्तुतं यत्र गम्यते
अप्रस्तुतात्पुनर्वाच्यात् हेतुभिः पञ्चधा मता
पञ्चमी सारुप्यनिबन्धाऽप्रस्तुतप्रशंसैवाऽन्योक्तिरित्याचार्याः

(अभिराजयशोभूषणम्, पृष्ठ–127)

अभिराज ने आर्या अन्योक्तिशतकम् में अन्योक्ति को विविध रूपों में, विविध वर्गों में प्रयोग किया है। पशु वर्ग की एक अन्योक्ति दृष्टव्य है–

मा वह गर्वमपारं नवतृणभारं खादन्नजापुत्र
अद्य श्वो वा भविता मरणं नूनं हि मांसार्थम् (24 / 24)

अर्थात नई नई घास का ढेर खाते हुये हे अजापुत्र (बकरे!) बहुत घमण्डी मत बनो क्योंकि आज या कल ही माँस के निमित्त निश्चित रूप से तुम्हारा वध होने वाला है।

यहाँ अभिधया अर्थ बकरे के अन्ततोगत्वा सफर की ओर भले ही इशारा कर रहा है परन्तु यह अन्योक्ति गर्व से भरे उन लोगों के लिये है जो सांसारिक सुखों के मध्य लीन होकर परलोक गमन(मोक्ष) के हेतु को भूल बैठते हैं। लौकिक भोग विलास को स्थाई मानते हुये मतवाले रहते हैं।

इसी प्रकार अन्यत्र भी –

पौरुषवति वननाथे मत्तगजोऽपि न खलु वनमुपाययौ
पश्याद्य तु गतशक्तेर्निर्भयकाकः क्षतं कृन्तति।

(आर्यान्योक्तिशतकम्–26 / 35)

पौरुषवान होने पर सिंह के समक्ष मतवाला हाथी भी आने का साहस नहीं करता वहीं शक्तिहीन होने पर कौआ भी निर्भय होकर उसके घाव को कुरेद रहा है। इससे पुरुषार्थहीन दुःखमय निर्बलता संकेतित है। अभिराज ने अन्योक्ति के सैकड़ों चमत्कार अपने काव्यों में प्रस्तुत किये हैं। भले ही वह मत्तवारणी हो, मधुपर्णी हो, शालभञ्जिका, कनीनिका आदि हो। अन्योक्ति के प्रयोग में अभिराज निस्संदेह बेजोड़ हैं।

बच्चूलाल अवस्थी प्रणीत प्रतानिनी का अन्योक्ति प्रतान खण्ड विविध प्रकार की अन्योक्तियों से युक्त है। उदाहरणार्थ –

विच्छायो हिमपातशातितदलस्तीरे तरुणां गणः
सौरभ्येण समं बत व्यपगतः सारः सरोजन्मनाम्
अद्याच्छाद्य जलाश्रयश्रियमियं दुर्दान्तसन्तानिनी
फुल्लद्रगल्ल दलद्दरिद्रकुसुमा व्याजृम्भते कुम्भिका (पृ053)

अर्थात हिमपात के कारण तीरवर्ती वृक्ष पर्णहीन हो रहे हैं कमलों का सौरभ नष्टप्राय है केवल दुर्दान्त विस्तार वाली जलकुम्भी ही विकसित है।

यहाँ भी अन्योक्तिभाव यही है कि विद्वान एवं सज्जन व्यक्तियों

के आभाहीन होने पर, उनके चले जाने पर दुष्ट व्यक्ति अपना प्रभाव फैला लेते हैं। इस अप्रस्तुत विषय को प्राकृत्य विषय में प्रस्तुत करके व्यञ्जना द्वारा कार्य, कारण, सामान्य, विशेष आदि को प्रस्तुत किया है। मञ्जुनाथ भट्ट ने भाषा और रचनाशैली में सटीक निर्वहन करते हुये प्रभावशाली काव्य रचनाएँ की हैं। एक ओर 'विरक्तिवीथिका' का प्रणयन करते हुये उन्होंने वैराग्य को अभिव्यक्ति दी वहीं दूसरी ओर राधा–माधव के मधुर भक्तिभाव में स्वयं को डुबोकर अनिर्वचनीय सुख को प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त कवि ने 21 अन्योक्तियों को भी प्रकाशित किया है जिनमें कुछ अन्योक्तियाँ पारम्परिक विषयों पर हैं तो कुछ में आधुनिक आचरण को संकेतित किया है –

रे रे दर्दुर दूरतः सरतु ते व्यर्थ प्रलापोऽधुना
मिथ्यागर्वित गर्हितात् तव भिया नायं प्रदत्ते पयः।
आकीटान्निखिलार्तिनोदनपटुर्विश्वभिजीवप्रदः
प्रावृड्वारिधरः स्वयं विजयते धाराशतैः सर्वतः

यहाँ मेघ की सुजनता है मेढ़क का गर्हित प्रलाप इसके बरसने का कारण नहीं है परन्तु मेढ़क की क्षुद्रता उसके प्रलाप द्वारा व्यक्त की जा रही है।

इसी प्रकार का उदाहरण शंकरदेव अवतरे ने भी अपने 'जीवनमुक्तम्' संग्रह में उद्घृत किया है। वे कहते हैं कि नीच व्यक्ति अपनी नीचता, पापकर्म कभी नहीं छोड़ता, जिस प्रकार गर्हित मेंढ़क सुगन्धित जल से नहलाया जाने पर स्वर्णिम सिंहासन पर बैठा देने पर भी दृष्टि बचाकर मलिन कीचड़ में कूद ही जाता है। बहुत ही सुन्दर अन्योक्ति का यहाँ प्रयोग दृष्टव्य है –

मण्डूकः स्नापितः सन् सुरभितसलिलैः स्थापितो हेमपीठे
द्रष्टुः प्रावार्य दृष्टिं पुनरपि सहसा कूर्दते कच्वरेषु
एवं नीचः प्रकृत्या शतशतगुरुभिर्दीक्षितोऽनेवारं
आत्मानं येनकेनाप्यनुचितविधिना पातयत्येव पापे।

(पृष्ठ–29)

यहाँ पर शताधिक गुरुओं से दीक्षित हुये तुच्छ व्यक्ति की तुच्छता की ओर कवि का संकेत है।

डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी की अन्योक्तियाँ बहुत ही चुटीली और व्यञ्जनापूर्ण हैं। उनके काव्य संग्रह 'सन्धानम्' मे एक खण्ड की कविता का शीर्षक ही 'अन्योक्ती' है जिसमें बहुत आकर्षक एवं हृदयग्राही अन्योक्तियों को प्रयोग किया गया है। सरकार की जलविषयक वृहत्त योजना न जाने कब तक फलीभूत होगी अभी तो चारों ओर रिक्त घड़े और जलशून्यता है। परन्तु सरकारी आँकड़े सदैव आश्वासन देते रहे हैं अतः उन पर व्यंग्य करते हुये कहते हैं –

पानीयं यदि नास्ति शून्यमिह तत् सर्वं भवेद् घट्टके
युक्त मानस शुक्तिका अपि हताः पानीयमप्राप्य यत्।
रिक्तं घट्टमवाप्य सीदसि वृथा शोकं सखे मा कृथाः
आनेतुं जलमत्र कापि बृहती सा योजना कल्पिता।

(सन्धानम्, पृष्ठ–63)

उमाशंकर त्रिपाठी, रामकरण शर्मा आदि संस्कृत काव्य सरणि के सशक्त हस्ताक्षर हैं। समाज के परम्परागत विचारों पर चोट करने में उन्हें कोई भय नहीं। डॉ0 त्रिपाठी के लिये अन्त्यज–असवर्ण एवं देश का किसान दोनों ही निरीह नहीं है अपितु संघर्ष के स्वर को मुखर करने वाले हैं। उन्होंने आज के प्रजातन्त्र पर भी रजक रासभ के सम्बन्ध के द्वारा गहरी चोट की है। रामकरण शर्मा साम्प्रतिक अधः पतन के प्रति जागरुक हैं अतः समाज के सांस्कृतिक संकट का उन्हें विशेष अनुभव है। मनुष्य की अनन्त कामनाओं को वह अशान्ति और कलह का कारण नहीं मानते। अपितु उनका विश्वास है कि कामनाएँ व्यक्ति की उन्नति का साधन है, वह परम शक्ति है अतः उसका विस्तार किया जाना चाहिये। इस प्रकार अन्योक्तियाँ और प्रतीक शर्माजी के काव्य में विविध रूपों में विन्यस्त हैं।

जगन्नाथ पाठक ने उक्ति वैचित्र्य के सराहनीय प्रयोग अपने काव्य में किये हैं। उक्तिभंङ्गी का चुटीलापन लिये उनकी अनूठी अभिव्यक्तियाँ अपने अलग आस्वाद के लिये लोकप्रिय हैं। कथ्य का वैचित्र्य ही पाठक को बाँधता है। इन्हीं अन्योक्तियों के माध्यम से उन्होंने युगीन विद्रूपताओं और विडम्बनाओं पर प्रहार किये हैं। यथा –

उद्यानेऽस्मिन्नासन् प्रविकीर्णान्येव हन्त कुसुमानि
सम्प्रति सन्दृश्यन्ते कण्टकिनः केवलं वृक्षाः
दीप त्वयि यो भारो न्यस्तोऽस्तं गच्छतेह सूर्येण
तं वह तमो निवारय यावच्छक्यं धृतस्नेहः

(आर्यासहस्रारामम्–7 / 48,53)

यहाँ दुर्जनता पर सज्जनता को प्रतिष्ठित करना कवि का उद्देश्य है। डॉ देवीप्रसादखखंडीकर ने 'अन्योक्तयः' शीर्षक से प्रभावशाली अन्योक्तियों को व्यक्त किया है। कभी वह नीम का पेड़, कभी सूर्य अथवा कभी 'लोहकान्त' बनकर किसी अन्य की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं।

नैकोऽपि भक्षयति मे फलमेतदर्थं
दुखं मनागपि न निम्बतरो विधेयम्
नूनं फलेषु तव सन्ति गुणा अनन्ता
जानन्ति यान् हि भिषजो न जनास्तु मुग्धाः।

(विंशशताब्दी.......449)

हर्षदेव माधव की अन्योक्ति का स्वरूप उनके उपमान के कारण भंङ्गीभणिति में परिवर्तित हो जाता है। उनके उपमेय और उपमान अर्वाचीन बोध को व्यञ्जनामय शैली में प्रस्तुत करते हैं। सामान्य सी बात भी अन्योक्ति के वैशिष्ट्य से विशिष्ट हो जाती है। समाज के परिवर्तित होते मूल्यों पर अप्रत्यक्ष रूप में कटाक्ष करते हुये माधव कहते हैं –

दुःशासनोऽपहरेत् / तत्पूर्वमेव / स्रंसते शाटी / दुःशासनो लज्जते / दुर्योधनश्छायाचित्रग्रहणे व्यस्तः / भीष्मा–दूरदर्शन वीक्षणरतास्सन्ति / द्रोणाचार्या वृत्तपत्राणि पश्यन्ति / कृष्णस्य दूरभाषः / यन्त्रमर्यादाक्षेत्राद् बहिर्वर्तते / शरीराद् वियुक्ता / शाटी जोषमास्ते मञ्चे।

यहाँ ऐतिहासिक मिथ प्रयोग द्वारा यह कहने का प्रयास किया गया है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य से विमुख है और असहायों का क्रन्दन सुनने वाला कोई नहीं है। यहाँ प्राचीन परम्परा के आइने में नये उपमान हमें वास्तविकता का बोध कराते हैं। सत्य भी यही है

प्राचीन काव्य से ही नये संवाद बनते हैं यही छाया और संवाद की स्थिति नये प्रतिमान को जन्म देती है।

आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री की 'काकली' काव्य कृति में अन्योक्ति का सफल प्रयोग किया गया है। अप्रस्तुत योजना अन्योक्ति का प्राणतत्त्व है अप्रस्तुत अर्थ ही कवि को अभिप्रेत होता है उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियों में 'कलिका' यह प्रस्तुत विषय है प्रधान नहीं अपितु परब्रह्म की मोहिनी माया का वर्णन करना ही प्रधान विषय है –

मञ्जुनिकुञ्जेऽस्मिन् गुञ्जद्भृङ्गानङ्गानङ्गितकाया
किमसि महीयसि, परब्रह्मणो मनोमोहिनी माया।

इस छन्द में कलिका के गुञ्जद्..... विशेषण में अमूर्त को मूर्तित करके भाव की प्रत्यग्रता को हृदयावर्जक कान्ति प्रदान की गई है।

वस्तुतः मूल्यों के बदलने से अभिव्यक्ति स्वतः बदल जाती है। बनमाली बिश्वाल की 'द्विमुख' कविता अन्योक्ति का सफल उदाहरण कही जा सकती है –

सः किं नेता?/आहोस्विन्नो भाग्यस्य विधाता??/दरिद्रेऽथ नारायणं/यस्यादर्शः गान्धिनो दर्शनम्,/वदति स असवर्ण 'हरिजन' इति ससम्मानम् (ऋतुपर्णा पृ0–32)

यहाँ प्रत्यक्ष रूप में नेता की सहृदयता प्रदर्शित की जा रही है परन्तु अप्रत्यक्ष में उसकी मक्कारी एवं दोगलेपन की ओर कवि का इशारा है।

वास्तव में कवियों की अलंकार रमणीयता में अन्योक्ति का प्रयोग अधिकांशतः कवियों का प्रिय विषय रहा है। अर्वाचीन संस्कृत काव्य में इस अलंकार द्वारा व्यञ्जनापूर्ण स्थितियों के बहुत ही सरस चित्र उन्होंने पूर्ण मनोयोग से चित्रित किये हैं।

(4) वक्रोक्ति का चमत्कार

संस्कृत साहित्य में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही मिलता है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में वाणी के चमत्कार के अर्थ में इसका प्रयोग किया है –

वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण।

बाण की यह वक्रोक्ति इतिवृत्त वर्णन से भिन्न काव्य की चमत्कारपूर्ण

शैली तथा वचनविदग्धता की ही पर्याय है। वक्रोक्ति का चमत्कार शब्द और अर्थ दोनों में ही प्राप्त होता है। वास्तव में इसका शाब्दिक अर्थ भी यही है जहाँ पर वक्र(टेढ़ापन) लिये हुये उक्ति (कथन) हो वहाँ वक्रोक्ति होती है। यह वक्रता जितनी चमत्कारपूर्ण होगी अलंकार उतना ही प्रस्फुटित होगा। कुछ काव्यशास्त्री इसे अतिश्योक्ति का ही एक रूप मानते हैं। भामह ने इसे काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया है – **"वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते"**

(का0 लं0–5/66)

अर्थात वक्र अर्थ का कथन शब्दों के लिये अलंकार का कार्य करता है।

अभिनव गुप्त की दृष्टि में वक्रोक्ति सामान्य का विलक्षण रूप है –

शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता
लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्।

अर्थात लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप में होता है उसका उस रूप में न होकर विलक्षण रूप में होना वक्रोक्ति है।

आचार्य दण्डी ने वक्रोक्ति मे अतिशय कथन का समावेश किया है काव्यादर्श में इस अलंकार को इस प्रकार परिभाषित किया है –

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना

'वामन' की दृष्टि में वक्रोक्ति सादृश्य के ऊपर आश्रित होने वाली लक्षणा ही है –

'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'।

रुद्रट उसे एक ऐसा शब्दालंकार मानते है जिसमें श्रोता शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण करके अकल्पित उत्तर देता है।

परन्तु वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक कुन्तक की वक्रोक्ति सबसे विलक्षण है। वे इसे अलंकार न मानकर काव्य की आत्मा मानते हैं –

'वैदग्ध्य भङ्गी भणिति'

कहने के कुशलतापूर्वक ढंग का नाम ही वक्रोक्ति है। जब कथन टेढ़ा

होने पर भी पीड़ा नहीं देता तब वह वक्रोक्ति, वर्णवक्रता, वाक्यवक्रता, पदोत्त्रार्धवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता के भेद से छः प्रकार की होती है।

आनन्दवर्धन ने काव्य के सौन्दर्य के लिये ध्वनि को उसकी आत्मा स्वीकार किया परन्तु कुन्तक ने वक्रोक्ति द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करके वक्रोक्ति अलंकार की प्रतिष्ठा की जिसे ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना भी कहा जा सकता है।

अर्वाचीन संस्कृत काव्य के विषयतत्त्व में सामयिक परिदृश्य को समेटने के लिये उसमें ध्वनिजन्य चमत्कार की आवश्यकता हुई। काव्य संविधान की मौलिकता, कल्पना, व्यंग्य का पैनापन और समाज की स्थितियों का चुटीलापन कवियों को आकर्षित करने लगा। फलतः आधुनिक काव्य में वक्रोक्ति का प्रयोग बहुलता से होने लगा। पं0 बच्चू लाल अवस्थी जी के छन्द में इसका प्रयोग बहुत ही स्पृहणीय है –

नेता कण्टकशोधनाय यतते स्वस्यैव मार्गस्य यत्
तस्मात् कण्टकजालमेव विकिरत्यालोकतन्त्राध्वनः
लोकोऽयं क्षतजप्लुताङ्घ्रिरधुना कार्पण्यभृद् दूयते
नेता रोदिति नक्रवाष्पविकलं तत्पीडया पीडित।

(अंका–13 / 1)

अभिराज राजेन्द्र मिश्र की काव्य शैली ही नहीं अपितु गद्य विधा भी वक्रोक्ति के प्रभाव से मुक्त नहीं है। उनके प्रायः प्रत्येक काव्य संकलन में इस अलंकार की छटा मिल ही जाती है। कहीं–कहीं तो कई कविताएँ वक्रोक्ति जीवित हैं। मत्तवारणी में उनकी अनेक गज़लों में इसका प्रयोग बहुत तन्मयता के साथ किया गया है। काम की सकामता के विषय में क्या कहा जाये वह तो पात्र अपात्र को भी नहीं देखता –

सैरिभेष्वेणिकानां रिरंसोत्थिता
धुन्धुकारी स कामस्सकामो भवेत्
देवरो भ्रातजायां निलीयेक्षते
एककक्षे वराकी क्व गेहे व्रजेत

(मत्तवारणी–62 / 1,2)

आपकी 'भुजङ्गा कथम्'? रचना वक्रोक्ति का अनुपम उदाहरण कही जा सकती है –

साधुतामाचरेयुर्भुजङ्गाः कथम्
बन्धुतां धारयेयुर्भुजङ्गा कथम्
किन्न सन्ति द्विजिह्वा समाजेऽधुना
तत तदर्थ त्रपेयुर्भुजङ्गाः कथम्

(शालभञ्जिका–60 / 1,10)

यहाँ साँप का समस्त आचरण ईश्वर प्रदत्त है फिर भला वह उस मनोवृत्ति से कैसे मुक्त हो सकता है परन्तु उस मनुष्य का क्या किया जाये जो अपनी स्वयं बनाई हुई नीतियों का आचरण करता है और मुख में विष की पोटली न होने पर भी निन्दा रूपी विष को यत्र तत्र फैलाकर पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष को जन्म देता है।

राधावल्लभ त्रिपाठी भी मनुष्य के इस दोहरे चरित्र से व्यथित हैं अतः धर्माचार्यों की उस ज़मात पर व्यंग्य करते हैं जिनकी कथनी और करनी में अन्तर होता है –

तथाकथितधर्मस्य कन्थां जर्जरतां गताम्
धारयन्नात्मना तुष्टोधर्माचार्यः सुखीयति

(सन्धानम्, पृष्ठ–58)

प्राचीन सूक्तियों को नवीन अर्थों से सुसज्जित करके नव्य रूप में प्रस्तुत करने का कवि का प्रयोग बहुत ही सराहनीय है। डॉ0 त्रिपाठी ने इस व्यञ्जना से पाठक को बहुत सहृदयता से जोड़ा है। एक ऐसी वक्रोक्ति जो वास्तव में पैने सन्धान से आर–पार हो हृदयाबिद्ध हो जाती है। क्या नारी की स्थिति आज भी पूज्यनीय है? यह प्रश्न लोलुप समाज के समक्ष कवि ने छोड़ा है।

यत्र नार्यस्तु दह्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः
अन्नं जलं बलं राष्ट्रे सतीदाहेन जायते

(सनधानम्, पृष्ठ–59)

हर्षदेव माधव प्रयोगशील कवि हैं। उनकी अलंकार योजना की नवीनता से उनका काव्यत्व सिद्ध हुआ है। वक्रोक्ति का प्रयोग माधव ने भिन्न भिन्न संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिये किया है। उनकी वक्रोक्ति

एकदम सपाट नहीं है वहाँ अर्थ निकालना होता है। विरोधाभास से युक्त एक वक्रोक्ति दृष्टव्य है –

ऊर्मिमालानां गानोन्मादस्य पृष्ठे
रोदिति दिगम्बरः समुद्रः
चन्दिकाया धवलधवलायां कान्त्यां
भस्मावलिप्तः समुद्रो जोषमास्ते
वेलानां प्रचण्डताण्डवाऽऽतङ्के.
क्षोभं विस्मृत्य
समुद्रो मार्गयति तटान्तरस्य धृतिम्।
....
समुद्रः/शुक्तिमुद्घाट्य
मृत्युरहस्यमौक्तिकम् उपायनीकरोति
जलपर्यङ्किकायां
वडवानलं स्वापयित्वा
समुद्रोऽपि जीवति
मनुष्यवत्!

(स्पर्शलज्जाकोमला स्मृतिः, पृष्ठ–4)

एक अन्तर्वेदना को मन में पुञ्जीभूत किये हुए मर्यादाबद्ध होना बहुत ही पीड़ा देता है। समुद्र की यही विवशता मानो उसे अन्दर ही अन्दर भस्मीभूत किये देती है। जल में बड़वानल की तीव्रता, उसकी विकरालता का अनुभव केवल वही कर सकता है जिसने उसे भोगा है।

बनमाली बिश्वाल के काव्य में अनेकों वक्रोक्तियाँ, सामाजिक विषमताओं और परिवर्तित जीवन मूल्यों की ओर संकेत करती हैं। देश के नेताओं का दोगला व्यवहार जनता के साथ कैसे–कैसे छल करता है –

स्वार्थान्धा ये तदनुसर्तारः
स्वार्थप्रणोदितं तेषां ममत्वमाह्वानम्
भ्रातः भ्रात।। इति सम्बोधनम्।
मुखात्तेषां निःसरति
दिवालोके कृत्रिमतास्वरः

'मम देशः मम देशवासी'
इति येषां मकरक्रन्दनम्।
छलनया धूलिं प्रक्षिपति..................
त्वमस्माकं नेता
त्वमस्माकं भाग्यस्य विधाता

(ऋतुपर्णा, पृष्ठा–32,33)

जनार्दन प्रसाद पाण्डेय 'मणि' ने भी 'निस्यन्दिनी' में कहीं कहीं समाज के प्रति अपनी कटुता को वक्रोक्ति के माध्यम से ही व्यक्त किया है। उनके द्वारा नेताओं को 'नेतृभूषण' कहना और उनके झूठे वायदों की चर्चा करना इसी प्रकार का प्रयोग है –

साफल्यदा यदि जातिराधुनिके त्वदीये भारते
हे सर्वकार! विचिन्त्यतां ननु योग्यतानां का कथा।
वैषम्यमद्रियते स्वयं समता यदीयं तावकी
हे नेतृभूषण साम्प्रतं तव जल्पितानां का कथा।

(निस्यन्दिनी–53/7,8)

प्रवीण पण्ड्या की 'शृणुसाधो कथयति कबीर[1]', 'कति कूपा[2]' इसी प्रकार की वक्रोक्तिजन्य रचनाएँ हैं। वस्तुतः अर्वाचीन संस्कृत साहित्य की सरणि में अनेकों कवियों ने इस प्रकार की कविताओं से काव्य का शृंगार किया है।

प्रकृति का मानवीकरण

प्राचीन काल से ही प्रकृति कवियों का प्रिय विषय रही है। वह काव्य में सचेतन होकर अपने विभिन्न हाव भावों को व्यक्त करती है। उसकी चेतना जब मनुष्य की चेतना से जुड़ जाती है तब वह अपने प्रत्येक क्रियाकलाप से एक आत्मीयता का बोध कराती है। वहाँ पर वह जड़ प्रकृति चेतन मनुष्य होकर सजीव हो जाती है। यही है प्रकृति का मानवीकरण। प्रकृति के मानवीकरण की इस प्रक्रिया में अनेकों अलंकारों का प्रयोग साधर्म्य के लिये किया जाता है। चलती, रुकती, बोलती, हँसती, ठिठकती, सहमती, रोती और प्रेम करती यह बाला मन

1. उद्बाहुवामनता, पृष्ठ–66
2. उद्बाहुवामनता, पृष्ठ–64

का स्पर्श करती है। उपमेय और उपमान के चमत्कारपूर्ण प्रयोग इन संवेदनाओं के साक्षी बन जाते हैं।

भारतीय साहित्य में बाह्य प्रकृति का वर्णन, आलम्बन और उद्दीपन दो रूपों में मिलता है। प्रकृति मनुष्य के भावों पर सदैव अपना प्रभाव छोड़ती है। वह उसके मनोभावों को तीव्र तथा उद्दीप्त करती है। परन्तु जब वह स्वतन्त्र रूप से काव्य में स्वयं को प्रतिष्ठित करती है तब वह विशुद्ध आलम्बन रूप में स्थित होती है। शब्दों के माध्यम से प्रकटित किये गये पदार्थ दो प्रकार से गृहीत होते हैं प्रथम अर्थ ग्रहण से, द्वितीय बिम्ब ग्रहण से। अर्थ ग्रहण में किसी भी दृश्य अथवा पदार्थ का सामान्य रूप प्रस्तुत किया जाता है, बिम्ब ग्रहण से तात्पर्य उस वस्तु के स्वरूपात्मक चित्र से है। संस्कृत साहित्य में बिम्बग्राही संश्लिष्ट स्वरूप का वर्णन अधिक मिलता है। जहाँ अनेकों नवीन कल्पनाएँ वर्णन को सजीव बना देती हैं। वर्ण्यविषय की इस प्रस्तुति के लिये कवि में निरीक्षण शक्ति का होना अनिवार्य है।

संसार के समस्त पदार्थों में चेतनता का साक्षात्कार करने वाले भारतीय कवियों की दृष्टि में प्रकृति सजीवता की मूर्ति है। हमारे कवियों ने वनश्री वनलक्ष्मी और वनदेवता की कल्पना की है। प्रकृति और मनुष्य दोनों का सम्बन्ध इतना प्राचीन है के एक दूसरे के बिना दोनों एकांगी और असहज हो जाते हैं। अंग्रेजी साहित्य में वर्डसवर्थ ने प्रकृति को सजीव मानकर उसका साक्षात्कार किया। उनके लिये प्रकृति उपदेशों का भण्डार है जो अपने अन्तर्विद्यमान आत्मा के साथ एकता स्थापित करके मनुष्य के जीवन को सुधार सकती है। प्रकृति का प्रयोजन मानव जीवन को सरलीकृत करना है इस प्रक्रिया में वह स्वयं विविध रूपों को धारण करके प्राणी के जीवन को सुसंस्कृत बनाती है, उसके सुप्त भावों को जाग्रत करती है एवं संचारी और स्थायी भावों से निःसृत रसों को उद्दीप्त करती है और यही है प्रकृति का मानवीकरण। अभिराज राजेन्द्र मिश्र की अनेकों रचनाओं में प्रकृति एवं तत्सम्बन्धी अनेको उपादानों को सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है। चन्द्रमा की चाँदनी प्रत्येक प्राणी के सुख दुःख में अपनी उपस्थिति दर्ज कराती है –

मातृवात्सल्यकल्पाऽवदाताऽखिलां
रोदसीमेव सगूहते चन्द्रिका
कान्तमिन्दुं समालिङ्ग्य रागोन्मदा
स्रस्तनीव्यम्बरं मुञ्चते चन्द्रिका

(मत्तवारणी–78 / 1,7)

यहाँ चाँदनी वही है परन्तु प्रथम दो पंक्तियों में वह माँ की ममता बनकर समस्त धरती आकाश को अपने आँचल में समेट रही है और द्वितीय दो पंक्तियों में वह उन्मत होकर अपने प्रियतम चन्द्रमा का आलिंगन करती हुई नीवीशिथिल वस्त्र वाली हो गई है। वस्तुतः चाँदनी के अनुभाव उसे माँ और प्रिया के रूप में परिणित कर रहे हैं। 'वाग्वधूटी' काव्य संग्रह को भी 'वाणीवधू' रूप में अभिव्यञ्जित किया गया है।

हर्षदेव माधव की प्रकृति में साक्षात रूप है, व्यक्तित्व है और चेतना है। वह आधुनिका होकर कभी तो सागर से दूरभाष पर बात करती है तो कभी अलकनन्दा के रूप में समुद्र से मिलने को सन्देश भेजती है। माधव की यह नदी अचेतन बिल्कुल नहीं है क्योंकि उन्होंने अनेकों कविताओं द्वारा उसके हृदय और प्रेम के संकेत दिये हैं –

हे अलकनन्दे!
मौनस्य भाषामहं न जानामि
स्पर्शस्य संवेदनां प्राप्तुमहं न शक्नोमि।
इङ्गितानां वर्षाः सोढुं न पारयामि।
मयि सामर्थ्यं नास्ति
लज्जायाः पारं प्रेम्णः स्वरूपं ज्ञातुम्।
अक्षमोऽस्मि
स्मृतिमञ्जूषामुद्घाटयितुम्।
अशक्तोऽस्मि
हृदयं वाचितुम्।
दुर्बलोऽस्मि
मनोदर्पणे त्वदनुरागछविं गृहीतुम्
अलकनन्दे!

त्वं शिक्षय मे
प्रेम्णः परिभाषाम्।
दर्शय मे
जीवितस्य पर्यायम्
आलिख मयि
तव प्रीतिम्।

(पुरायत्र स्रोतः, पृष्ठ–37)

'पुरायत्र स्रोतः' संग्रह में अलकनन्दा के प्रवाह में कवि ने अनगिनत स्वप्न संजोए हैं। कहीं वह षोड़शी बाला[1] बनकर सौन्दर्य को प्रदर्शित करती हैं तो कहीं नेत्रों में दावाग्नि प्रज्ज्वलित करती हैं[2]। कभी कवि के नेत्र उसके प्रेम की प्रतीक्षा करते हैं तो कभी अपनी व्यथा को अर्धदग्ध पतंगे के पंख द्वारा अभिव्यक्त करते हैं[3]। अलकनन्दा के प्रति उनके समर्पण में प्रणय की नयी परिभाषा दिखाई देती है। उनकी प्रिया की आँखें कमल की पांखुरी नहीं अपितु उपमानों के सागर से लाई गयी सीपी हैं। वास्तव में संवेदना की शय्या पर भावों का बिछौना डालने में माधव सिद्धहस्त हैं। केवल नदी ही नहीं निर्झर[4] और नगरी सब अचेतन तत्वों को कवि ने मानवीकरण के स्वरूप द्वारा हृदय की धड़कन प्रदान की है। शिलोंग नगरी विभिन्न प्रकार के हाव भाव दिखाती हुई नागकन्या बन जाती है –

शिलोंगनगरी प्रतिभाति नागकन्या!
गात्र यष्टिरस्याः शोभते
आगुल्फलम्बे मेघमये कञ्चुके,
अस्याः कण्ठे
जलप्रपातमयी रौप्यमयी माला।

(भावस्थिराणि.....पृष्ठ–128)

बनमाली बिश्वाल प्रकृति के केवल कवि नहीं हैं अपितु उनके काव्य में प्राकृतिक वैविध्यता अपने अनेक रूपों को आत्मसात करके विलसित

1. पुरायत्र स्रोतः, पृष्ठ–42
2. पुरायत्र स्रोतः, पृष्ठ–41
3. पुरायत्र स्रोतः, पृष्ठ–58
4. तव स्पर्शे स्पर्शे, पृष्ठ–36

है। कहीं प्रकृति का आनन्द है तो कहीं उसकी व्यथा प्रतिपल, प्रतिक्षण वह अपने रूप बदलती है। परन्तु उनके प्राकृतिक चित्रण में केवल नायिका गत सौन्दर्य न होकर समाजवाद, एवं दबे कुचले वर्ग की पीड़ा भी दिखाई देती है। 'घास' कोमल वर्ग बनकर गलीचे जैसी कोमलता का अहसास नहीं कराती बल्कि दलित और शोषित समुदाय का प्रतिनिधित्व करती है। जो कुचले जाने पर भी अपने अस्तित्व को मिटने नहीं देती –

दलितं प्रपीडितं निष्पेषितम्
अहं घासपुष्पम्
घासे मम जन्म, स्थितिः
घासे हि विलयः (व्यथा, पृष्ठ–2)

घास का वह छोटा गुलाबी फूल जिसकी गिनती फूलों में भले न हो परन्तु उनकी अनन्त कामनाओं का फलक बहुत ही विस्तृत है जिसमें अनेकों जन्मजात महत्वाकांक्षाएं उत्पन्न और विकसित होती हैं। यहाँ 'घास' को वर्ग विशेष से जोड़कर चेतन बना दिया गया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी मेघ, सूर्य, मरुद्यान, पुष्प, तरंग, नदी, वन्या आदि अनेक प्रयोगों द्वारा कवि का प्रकृति के मानवीकरण के प्रति विश्वास द्योतित होता है। कवि बिश्वाल की एक कविता "**त्वय्यहं पश्यामि प्रिये! समग्रां प्रकृतिम्**" अनुपम उदाहरण कही जा सकती है। यहाँ प्रिया में समग्र प्रकृति है प्रकृति के समस्त उपमान मिलकर ही मानो प्रियतमा का अस्तित्व बना रहे हैं। यहाँ सचेतन में अचेतन का आरोपण है अतः पूर्णरूपेण मानवीकरण तो नहीं कहा जा सकता परन्तु प्रकृति के उपमानों को जितनी समग्रता के साथ एक कंचन काया में समेट दिया है उससे एक भिन्न प्रकार का आलंकारिक सौन्दर्य उभरकर आया है। जिसे हम उपमा तो कह सकते हैं परन्तु केवल प्राकृतिक उपमानों का प्रयोग करने के कारण यहाँ सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है।

वास्तव में मानवीकरण एक प्रक्रिया है जिसमें अचेतन में चेतन का आरोपण किया जाता है जब प्रकृति मनुष्य बनती है तब वहाँ मानवीकरण होता है। और जब मनुष्य में प्रकृति का आरोपण करते हैं

तब वहाँ उपमा, रूपक आदि होते हैं। कहीं कहीं पर प्रस्तुत (उपमेय) एवं अप्रस्तुत (उपमान) में समान रूप से अन्वित होने वाले कार्य लिङ्ग. और विशेषणों द्वारा जब आरोपित कर दिये जाते हैं तब वही मानवीकरण की अनुभूति तो होती है परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है। वस्तुतः मानवीकरण की धारणा यद्यपि पाश्चात्य है परन्तु अर्वाचीन संस्कृत काव्य में भी इसके प्रयोग किये गये हैं।

उपमान और उपमेय के सार्थक प्रयोग

अर्वाचीन संस्कृत काव्य में रुढ़िगत उपमानों के स्थान पर अरुढ़ि उपमानों का प्रयोग किया जा रहा है जिसमें मूर्त एवं अमूर्त दोनों को यथास्थान रखा जाता है। उपमान उपमेय के इस नये प्रयोग के कारण अलंकार ध्वनि होता जा रहा है। इससे आधुनिक काव्य में जो नयापन आया है वह उसके बाह्य कलेवर के साथ–साथ उसके आन्तरिक सौन्दर्य की भी श्रीवृद्धि कर रहा है। पाठक एवं श्रोता की जिज्ञासा, उत्कण्ठा इन उपमानों में विलसित शोभा को देखकर, सुनकर द्विगुणित हो जाती है। वैश्वीकरण की यह प्रक्रिया हमें विश्व से जोड़ रही है अतः संस्कृत कवि युगानुरूप शैली, कल्पना और उपमान योजना का प्रयोग कर रहा है जिसके फलस्वरूप उसके काव्य की कमनीयता में वृद्धि हुई है। संस्कृत कविता प्राचीन बन्धनों को काटकर आधुनिका बन गई है। समुद्र का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि समुद्र –

समुद्रः
जिप्सीयुवतिपृष्ठवेशसमोऽनावृतः
समुद्रः
हबसीनेत्रप्रतिमः श्यामः
समुद्रः
होनोलुलुसुन्दरिहस्तसन्निभोमसृणः
समुद्रः
नाविककन्यकावक्षःस्थलसदृशो रोमाञ्चकः
समुद्रः

'ओडिसी' काव्यनायक–ओडिस्युसप्राप्तशापप्रतिभटः
करालः ....

(रथ्यासु जम्बूवर्णानां......,पृष्ठ–13)

अर्थात समुद्र, जिप्सी यौवना की पीठ जैसा अनावृत हब्सी की आँख जैसा काला, होनोलुलु की सुन्दरी के हाथ जैसा कोमल, नाविक की कन्या के वक्ष जैसा रोमाञ्चक ओडिसी महाकाव्य के नायक ओडिस्यूस को मिले शाप जैसा भयंकर प्रतीत होता है। इस प्रकार यहाँ दिये गये उपमान परम्परा से हटकर नितान्त नवीन है। माधव ने यद्यपि सदैव नवीनता और प्रयोग को समर्थन दिया है परन्तु उनका मानना है कि यह प्रयोग सार्थक भी होने चाहिये। वे पुरातन काव्यशास्त्र को पूर्णतः विस्मृत करके आगे नहीं बढ़े हैं अपितु 'शब्दार्थों' शब्द के शब्द और अर्थ दोनों पर ही भाव केन्द्रित रहे हैं। यहाँ जिप्सी यौवना की अनावृत पीठ समुद्र के विस्तार को व्यक्त करती है, होनोलुलु की सुन्दरी के कोमल हाथों में समुद्र की मसृणता निहित है और नाविक कन्या के अध ाखुले वक्ष से समुद्र का रोमांचक आमन्त्रण प्रतीत होता है परन्तु समुद्र की भयंकरता शाप की विकरालता से जुड़ी है क्योंकि शाप हमारे मतिभ्रम अथवा भूल का प्रतिफल है उसी प्रकार ज़रा सी भूल समुद्र के सौन्दर्य को भी मृत्यु के भयंकर शाप में डुबो देती है। समुद्र में डूबने पर कुछ भी शेष नहीं होता अतः यहाँ समुद्र के लिये प्रयुक्त किये गये उपमान नवीन होने के साथ–साथ सार्थक भी है।

इसी प्रकार का एक प्रयोग माधव ने अन्यत्र भी किया है जिसमें सिकता (बालू) के प्रति उपमानों के नव्य प्रयोग दिखाई देते हैं–

नाइलोनस्पर्शमसृणाः सिकताः
हुलानृत्यमंथराः सिकताः
हवाईसुन्दरीकेशपाशकमनीयाः सिकताः
मीनत्वक्पेशलाः सिकताः।
सिकताः
नूरजहाँशरीरमिव परिवर्तितम
सिकताः

स्पर्शेणैव मदं जनयन्ती मदिरा।
सिकितासु विकीर्णो जलदवर्णः
सिकतानां नूपुरं
नदति शंखोदरे
हे सिकताः
अहं पाणिग्रहणं करिष्यामि वः
वाईकीकीसमुद्रो भूत्वा।

(रथ्यासु......पृष्ठ–18)

वहाँ प्रेम की परिभाषा मे नये उपमानों को ढूँढ़कर माधव ने उपमेय को भी नवीन अर्थों में उतार दिया है। रेत का नृत्य की मुद्रा में धीरे–धीरे उड़ना कमनीय केशपाश की भाँति बिखरना और मछली की चिकनी त्वचा की भाँति फिसलना नवीन आलंकारिक सौन्दर्य को व्यक्त करता है। हर्षदेव माधव ने अपने समस्त काव्य संग्रहों में इस प्रकार के अनेकों प्रयोग किये हैं।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र के उपमान और उपमेय के प्रयोग नवीन होने के साथ–साथ सार्थक अधिक होते हैं। अभिराज काव्य को नितान्त अप्रायोगिक रूप के प्याले में उतारने के पक्षधर नहीं हैं। उनके उपमानों में ताजगी अधिक होती है उन्हें चमत्कार उत्पन्न करने का जुनून नहीं है वे पाठकों को अपने काव्य चषक का धीरे–धीरे सन्तोषमय आस्वाद कराते हैं 'कनीनिका' में उनकी प्रसिद्ध कविता 'मे मनो लग्नम्' के यूं तो समस्त उपमान बहुत ही मनोहारी हैं परन्तु यह उदाहरण मन को अधिक बांधता है –

अस्ति नास्तीति ते कटीवादे
मेखलीभूय मे मनो ऽलग्नम्

(कनीनिका–98 / 11)

यहाँ पर ब्रह्म का होना अथवा न होना यह विवाद नायिका की कटि विषयक धारणा से जोड़कर कटीवाद के रूप में उपमित किया है। नायिका की कमर सम्भवतः इतनी पतली है कि उसके होने, न होने में हिन्दी के कवि बिहारी की नायिका याद आ जाती है। कवि 'मेखला' बनकर अपने मन को जब कमर से जोड़ता है तब ही उस अनुभूति

तक पहुँच पाता है। भले ही वह ब्रह्म की साधना हो अथवा प्रेम का मार्ग हो पूर्ण समर्पण ही साधक को उसके गन्तव्य तक पहुँचा पाता है। फलतः यहाँ कटि के विषय में वाद को निर्णीत करने हेतु मेखला का उपमान बहुत ही सार्थक है। यहाँ एक तथ्य जो सम्भवतः गूढ़ तत्त्व से जुड़ा है वह हठयोग साधना का है। ब्रह्मरन्ध तक पहुंचने के लिये कमर में मेखला धारण कर यति बनकर मन को नियन्त्रित करना भी तो आवश्यक है तब ही तो यह निर्णय हो पायेगा कि ईश्वर है अथवा नहीं और यदि है तो उसका स्वरूप कैसा है। इसके अतिरिक्त मेखला कमर में अर्थात शरीर के मध्यभाग में धारण की जाती है जो ईश्वर के अस्तित्व विषयक प्रश्न पर मध्यमार्गिता का भी संकेत देती है। यहाँ अस्तित्व से अभिप्राय सगुण निर्गुण से भी हो सकता है अतः मन को मेखला जैसा नियन्त्रित बनाना और ईश्वर की धारणा पर अपना अभिमत व्यक्त करना भी अभिराज का उद्देश्य हो सकता है। वस्तुतः यह उपमेय और उपमान का एक नवीन एवं सफल प्रयोग कहा जा सकता है।

वस्तुतः यद्यपि नवीन उपमान और उपमेय पर किये जा रहे नव्य प्रयोग आज के पाठक को आकृष्ट कर रहे हैं परन्तु उन्हें समझने के लिये उस काल और परिवेश में उतरना भी आवश्यक है, राधा वल्लभ त्रिपाठी का मन्तव्य है "कि प्राचीन काव्य परम्परा से नाता तोड़कर भी सार्थक और महान रचना नहीं हो सकती विशेष रूप से संस्कृत के रचनाकार के समक्ष तो साहित्य की अति विस्तृत सुदीर्घ कालावधि में वितत परम्परा है। यह परम्परा उसके लिये एक चुनौती भी है और वही उसकी सामर्थ्य तथा सीमा दोनों एक साथ हैं। प्राचीन काव्य की छाया नवीन रचना में आती है। प्राचीन काव्य से नये का संवाद बनता है।" (दृक–1, पृष्ठ–9)

कहने का अभिप्राय है नवीनता सर्वथा नवीन नहीं होती उसकी छाया में प्राचीन अनुभव एवं अध्ययन के चित्र होते हैं। परिवेश की नवीनता उसकी अभिव्यक्ति को नवीन बना देती है।

अलंकार योजना में परिवर्तन

प्राचीन समय में उपमान और उपमेय में एक ही पुरुष, वचन और लिंग का प्रयोग होता था। जैसे यदि उपमेय नदी है तो उसे कामिनी, गजगामिनी आदि स्त्रीलिंग उपमानों से ही सुसज्जित किया जाता था परन्तु आज अलंकार लिंग, वचन की बाध्यता से ऊपर उठकर ध्वनि बन गया है। अर्वाचीन संस्कृत काव्य में भिन्न–भिन्न जाति एवं लिंग के उपमान और उपमेय का प्रयोग बहुत ही सहजता से किया जा रहा है। इस प्रकार के प्रयोग सहृदयों के मध्य सराहे भी जा रहे हैं। आज मुख कमल न होकर सीप में बन्द मोती जैसा भी हो सकता है। सम्भवतः इसका एक कारण यह भी है कि अब जो संस्कृत काव्य लिखा जा रहा है इसमें कवि की कल्पनाओं की उड़ान बहुत ऊँची है, उसका फलक भी विश्व से जुड़ रहा है। वो हवाई सुन्दरी को जानता है, होनोलुलु की मसृणता उसके स्पर्श में समाई है, कन्याकुमारी के समुद्र तटों का विस्तार उसके मन में हलचल मचा रहा है और हिमालय की ऊँची हिमाच्छादित चोटियाँ उसे निमन्त्रण दे रही हैं अतः वह अब प्राचीन उपमानों से बाहर निकलकर अपने काव्य की चेतना में भी परिवर्तन चाहता है। जिस प्रकार उसने अपने छान्दस सौन्दर्य में क्रान्ति की है उसी प्रकार वह अपनी अलंकार योजना में परिवर्तन कर रहा है।

वस्तुतः काव्य का उपादान पाठक के साथ–साथ कवि को भी स्पर्श करता है। कवि जिस स्वभाव का होता है तन्निर्मित काव्य भी उसके अनुरूप होता है। आदर्श कवि कविता में श्रेय और प्रेय का मंजुल सामरस्य प्रस्तुत करता है। कवि की अन्तर्दृष्टि सौन्दर्य को निखारती है उसकी वाणी अभिव्यक्ति के लिये नये–नये शब्द गढ़ती है। प्राचीन काव्यशास्त्रीय नियमों की अवहेलना किये बिना अपनी कविता को आधुनिक कवियों ने नवीन परिदृश्य के लिये तैयार किया है। भाषिक और छान्दस सौन्दर्य में परिवर्तन करने के साथ साथ जो आलंकारिक चेतना आज दिखाई देती है वह निश्चित रूप से कुछ रहस्यमयी सी प्रतीत होती है। पाठक के चिन्तन और उसकी अभिरुचि के आधार पर इसकी भिन्न–भिन्न व्याख्याएँ की जा रही हैं।

जैसे केशवचन्द्र दाश की एक कविता लौकिक से अलौकिक संसार की यात्रा का सेतु कही जा सकती है। सामान्य पाठक के लिये लंगड़ा कुत्ता, अन्धा भिखारी और जमुहाई लेता उनींदा बच्चा भले ही सौन्दर्य उत्पन्न न करे परन्तु सहृदयी पाठक उसमें अपना गूढ़ चिन्तन ढूंढ़ लेता है –

शिशिरसिक्तघासस्य कपोले / त्वमवतरसि
कस्मिन्नेक शवस्य सम्माने /
बुदबुदस्य उपमाने.. अभिमाने
कालो दोलायते / वैराग्य हलाहले.....कोलाहले
विषयस्य आग्नेयहिल्लोले / आन्दोलनकाले.....विकले
अन्धभिक्षुमनुसरत्खञ्जकुक्कुरस्य / उल्ललितलाले,
त्वमवतरसि पुनः / तन्द्रालुबालकस्य जृम्भालुकपोले।

(ईशा, पृष्ठ–17)

यहाँ पर केशवचन्द्र दाश ने 'त्वम्' शब्द का प्रयोग स्त्री के लिये किया है अथवा पुरुष के लिये यह स्पष्ट नहीं है उर्दू में माशूक के लिये प्रायः पुल्लिंग का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत व्याकरण में भी स्त्रीलिंग एवं पुल्लिंग के क्रिया के लकार एक से होते हैं अतः यहाँ सम्बोध्य प्रेयसी भी हो सकती है और परमब्रह्म भी। अनेकों भावों और विभावों में यहाँ भिन्न–भिन्न रसों की अनुभूति की जा सकती है। अब आज कवि वह कमल, पल्लव, मलयानिल, नदी, नहरों और पर्वतों में अपने उपमान नहीं ढूँढ़ता। वह कभी तो विसंगतियों में संगति को ढूंढ़ता हुआ दिखाई देता है तो कभी संगति में विसंगतियों को। वस्तुतः अलंकार योजना में हो रहा परिवर्तन काव्य के स्वरूप में प्रतिभासित होने लगा है।

परम्पराबद्ध संस्कृत कविता को आधुनिक वैश्विक सन्दर्भों से जोड़ने के लिये अलंकार योजना में किया जाने वाला यह परिवर्तन आवश्यक भी है और सार्थक भी। क्योंकि इससे नवीन भाव बोध के साथ–साथ नवीन रचना शिल्प का भी सृजन हो रहा है। नगर जीवन की विभीषिका आज की ही देन है फिर इस नगर सभ्यता से प्रभावित दबा कुचला समाज प्राचीन उपमानों के अलंकरणों में कैसे बाँधा जा

सकता है? स्थितियाँ नई हैं, समस्याएँ नई हैं अतः अलंकार योजना में भी नयापन अपेक्षित है। कभी–कभी कवि एक ही उपमान एवं एक ही अप्रस्तुत की योजना करके अपने रूप एवं भाव को पाठकों एवं श्रोताओं के हृदय में इस प्रकार अंकित कर देता है कि वह कभी विस्मृत नहीं होता। पाठक और श्रोता भी उसी रूप और भाव में सर्वथा सरलता और सुगमता से विचरण करता रहता है। आधुनिक कवियों ने प्रायः अलंकारों की योजना में किञ्चित परिवर्तन करके अपने चित्रों और भावों की सम्प्रेषणीय शक्ति को और भी अधिक हृदयग्राही बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है।

अलंकार योजना में लिंगविषयक परिवर्तन का एक स्वरूप बनमाली बिश्वाल की कविता में भी देखा जा सकता है जहाँ नपुंसक लिंग 'घासपुष्पम' दलित और पीड़ितों का उपमान बन गई है। यहाँ उपमेय में पुल्लिंग और उपमान में नपुंसक लिंग है –

दलितं प्रपीडितं निष्पेषितम्
अहं घासपुष्पम् (व्यथा, पृष्ठ–02)

यहाँ ध्वनि अर्थ में दलितों की वेदना निहित है जो 'घास' के साथ जुड़कर उसकी जिजीविषा और वेदना को व्यक्त कर रही है।

एक स्थान पर उपमान और उपमेय को अन्योन्याश्रित होना भी चमत्कार को उत्पन्न करता है यद्यपि इस प्रकार का प्रयोग प्राचीनकाव्य में भी मिलता है परन्तु यह नवीन उपमान की सरणि से जुड़कर नवीन अनुभूति कराता है –

कवेः कृते
कविताऽस्ति काचित् प्रियतमा,
कवितायाः कृते प्रिये!
अपेक्षते काचित् प्रियतमा।

(प्रियतमा, पृष्ठ–20)

प्रवीण पण्ड्या भी आज प्रयोगशील कवियों की जमात में खड़े हैं उन्होंने अपनी कविता में अलंकारों के साथ–साथ बिम्ब, उपमान और उपमेय के जो नवीन और चमत्कारी प्रयोग किये हैं वे निस्संदेह सराहनीय हैं काल रूपी ड्राइवर द्वारा मधुदिवसों की हत्या कर देना

मन को छू जाता है –

कीदृक् क्रूरकर्मायं कालनामा मदमत्तो यानचालकः
येन हता मे नवजाता मधुदिवसाश्चत्वरे।

(जीवातुरसमाध्वीकम्, पृष्ठ–26)

मृत्यु कभी तो विभीषिका है जीवन के अन्त की, तो कभी क्रूरता है स्वप्नों के पूरा न हो पाने की, कभी ढेला है मधुमक्खियों के छत्ते के लिये तो कभी अजगर के आलिंगन के समान पीड़ादायी है। इस प्रकार कवियों ने अलंकार की भावयोजना में जो परिवर्तन किये हैं उनमें एक ओर तो सौन्दर्य का अकुण्ठित रूप है तो दूसरी ओर एक रससिक्त ताजगी है।

अतः यह सिद्ध होता है कि परम्परा को युगानुरूप बनाये रखने के लिये उसे नये सन्दर्भों में उतारना बहुत ही आवश्यक है अन्यथा सृजन में पिष्टपेषण होता रहेगा। वस्तुतः यांत्रिक प्रयोगधर्मिता को दूर करके एक नवीन परिष्कार जन्य प्राणों का आधान कविता को चिरयुवति के अलंकरण से च्युत न कर सकेगा। इसके लिये हमारे अर्वाचीन संस्कृत कवियों ने कथ्य और पथ्य दोनों में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं उनसे आधुनिक कविता कामिनी का सौन्दर्य द्विगुणित हुआ है। उसकी लावण्यता विश्व को आकृष्ट कर रही है हमारे संस्कृत काव्य में न केवल उर्दू की रूमानियत ने प्रवेश किया है अपितु मिट्टी की सौंधी गन्ध और लोकसंस्कृति की सतरंगी आभा भी इसे बाँध रही है। संस्कृत के साधक अपनी श्रेष्ठ कार्यशैली और प्रगतिशील मानदण्डों द्वारा संस्कृत कविता के उड़ान का नया फलक तैयार कर रहे हैं। इससे न केवल वर्तमान का आस्वादमय संतोष है अपितु भविष्य की स्वर्णिम सम्भावनाएँ भी दिखाई दे रही हैं। संस्कृत वाणी का अमृतमय वक्षस्थल आज भी रिक्त नहीं है और भविष्य में होगा भी नहीं। देववाणी का आधुनिकता की ओर प्रस्थान सार्थक है। कल्पना और यथार्थ का सुगढ़ समिश्रण आधुनिक संस्कृत कविता के न जाने अभी कितने द्वार खोलेगा? हमारी दृष्टि भविष्य की उन्हीं सम्भावनाओं की प्रतीक्षा में है।

उपसंहार

संस्कृत काव्य युग के भाव प्रवाह से समृद्ध हुआ है। संस्कृत कवि की संवेदनशीलता ने समाज की प्रत्येक सूक्ष्म गतिविधि पर अपनी नज़र केन्द्रित की है। उसने पाठक की रुचि को समझा है और उसकी भावनाओं का अनुभव किया है। काव्य में आने वाले वैश्विक सन्दर्भों ने नवीन काव्य की विभावनाओं ने संस्कृत की अनेकों दिशाओं की ओर संकेत किये हैं। आज संस्कृत कविता को पढ़ने और समझने के लिये पारम्परिक किस्से कहानियों को जान लेना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसे विश्व की हर उस घटना से परिचित होना आवश्यक है जिससे समाज प्रभावित होता है।

साहित्य और साहित्यकार दोनों ही समाज के दो ध्रुव हैं और दोनों ध्रुव दूर होने पर भी सम्पूर्ण पृथ्वी की धुरी का कार्य करते हैं। कवि के समीप उसकी परिस्थितियों की संगति, विसंगति, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौतिक और नैसर्गिक स्थितियाँ बनती बिगड़ती रहती हैं। कवि जब इन स्थितियों को काव्य में उतार कर उनमें प्राणों का संचार करता है तब कालजयी रचना का जन्म होता है। वह क्षणभंगुर पल लेखनी के स्पर्श से चिरजीवी हो जाते हैं। परम्परा के साथ अनुसन्धान करते हुये कवि साहित्य की आत्मा तक पहुँचने के लिये सदैव जूझता रहता है। आज कवि का प्रणयावेग वैश्विक उपमानों को अपने में प्रतिष्ठित करता है केवल परम्परागत सीमित उपमानों से वह सन्तुष्ट नहीं है –

चम्बलप्रदेशकन्दराऽऽश्रिता
अपराधभावयुक्ता इव वासनाः
आतङ्कं. नीत्वा प्रसरन्ति मनसि
ईरानदेशस्य ज्वालाग्रस्ततैलक्षेत्रमिव
मयि किं प्रज्वलति?
जग्वारविमानानां व्यस्तपरिवर्तनच्छायाः
मम रूधिरभिसरणतन्त्रे
मिश्रिताः सन्ति

अलकनन्दे!
'इन्सेट बी' उपग्रहोऽपि
मम प्रणयावेगस्य छविं गृहीतुम्
न शक्नुयात्।

(निष्क्रान्ताःसर्वे, पृष्ठ–115)

यहाँ चम्बल की गहन कन्दराओं में छिपी हुई मेरी अपराधी भाववाली वासनाएँ जो मन में आतंक को लेकर फैलती हैं, ईरान देश में तेल पर लगी आग के समान क्रूरता से सबको आक्रान्त करती है मुझमें धध–कती हुई मेरे रक्त में उबाल पैदा करने वाले इस प्रणय के आवेग को सूक्ष्मदर्शी 'इन्सेट बी' द्वारा भी नहीं उतारा जा सकता है।

इस कविता को आधुनिक काव्य का एक उदाहरण कहा जा सकता है। प्रेम में वासनाओं एवं भोग की तीव्रता यहाँ अभिव्यञ्जित है परन्तु उसका छद्मरूप रूप भी प्रेम की पवित्रता पर प्रश्नचिन्ह लगा रहा है। सम्भवतः यह सामाजिक परिवर्तनशीलता का प्रभाव कहा जा सकता है।

प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृत काव्यों का तुलनात्मक स्वरूप कथ्य और शिल्प दोनों की दृष्टि से विचारणीय है। जैसा कि प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि पहले राजाओं महाराजाओं के प्रशस्तिगान, देवस्तुति आदि विषयों पर ही कवि की दृष्टि केन्द्रित रहती थी। स्तुति के अन्तर्गत ही वह मातृभूमि से जुड़कर राष्ट्रप्रेम की रचनाएँ करता था। निस्संदेह राज्याश्रित कवि होने के कारण उसका चिन्तन एक विशिष्ट क्षेत्र तक सीमित था। धीरे–धीरे युग बदला, स्वतन्त्रता का बिगुल बजा। काव्य में स्वतन्त्रता की अनुगूँज सुनाई देने लगी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तक राष्ट्रीय कवियों की धूम रही। शनैः शनैः हम उस आपदा को विस्मृत करने लगे। सामाजिक कुरीतियों सती प्रथा, बाल विवाह, दहेज प्रथा, विधवा विवाह आदि के दंश कवियों को चुभने लगे परिणामस्वरूप कविता का प्रवाह परिवर्तित हो गया। अब काव्य तरंगिणी अपनी राष्ट्रवादी धारा को छोड़कर समाज की विद्रूपताओं की ओर प्रवाहित होने लगी। वे कवि जो केवल राष्ट्र की प्रशस्ति में ही कविता लिखने को संकल्पित थे उन्होंने भी इन

कुरीतियों के उन्मूलन का प्रण कर लिया। काव्य सामाजिक विषमताओं को लक्ष्य करके लिखे जाने लगे। फलतः सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का मिश्रित रूप काव्य में दिखाई देने लगा। तदनन्तर दार्शनिक विचारों को कोमल कान्त पदावली में प्रस्तुत करने का सिलसिला शुरू हुआ इसकी सुकुमार अभिव्यञ्जना ने अनेक वादों को जन्म दिया। इन वादों के परिप्रेक्ष्य में कभी तो कवि पर एक वाद का प्रभाव दिखाई दिया तो कभी एक से अधिक वादों से वह प्रभावित हुआ। चिन्तन की बारम्बारता ने वादों के अनुसार ही काव्य के स्वरूप में परिवर्तन किये।

बीसवीं शताब्दी में गीतिकाव्यों का व्यापक एवं मार्मिक स्तर पर सृजन किया गया। संस्कृत पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन से भी इस विधा को प्रश्रय मिला। काव्य की प्रवृत्ति को नवीन स्वरूप प्रदान करने में पाश्चात्य साहित्य एवं बांग्ला साहित्य का भी बहुत योगदान रहा। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की संस्कृत संगोष्ठियों से समकालिक रचनाकारों को एक पहचान मिली और इसका परिणाम यह हुआ कि आधुनिक संस्कृत साहित्य की गति तीव्र हो गई। आज स्थिति यह है कि आधुनिकता साहित्य में लगभग समस्त प्राचीन और नवविधाओं में लेखन कार्य हो रहा है।

कविता के विषय विवेचन के अतिरिक्त उसके बहिरंग और अन्तरंग परिवर्तन पर भी आज के कवि की दृष्टि केन्द्रित है। वह उन्हीं पारम्परिक छन्दों और अलंकारों में सीमित रहकर रचना करना नहीं चाहता। आज लिखी जाने वाली लोकधर्मी क्षेत्रीय कविताओं ने संस्कृत को मिट्टी की सौंधी गन्ध से जोड़ दिया है। कजरी, नकटा, लावनी, गज़ल कव्वाली, सोहर, कवित्त स्कन्धहारीयम् आदि कविता के नये रूप दिन–प्रतिदिन विकसित एवं प्रतिष्ठित हो रहे हैं। जहाँ राधा वल्लभ त्रिपाठी 'गीतधीवरम्' द्वारा धीवरगीत प्रस्तुत कर रहे हैं वहीं अभिराज की 'कजरी' मन को अभिभूत कर देती है। जगन्नाथ पाठक 'गालिबकाव्यम्' को संस्कृत में सजा रहे हैं वहीं हर्षदेव माधव तान्का, हाइकू और सीजो इन छन्दों का स्वागत कर रहे हैं। केशवचन्द्र दाश ने कविता में अस्तित्ववाद का बोध कराया है तो ओगोटि परीक्षित शर्मा

ने डिस्को गीत लिखे हैं। राधावल्लभ के लहरीकाव्यों में सामाजिक विषमता का चित्रण है। 'शकटारकाव्यम्' में नेल्सन मण्डेला को संकेतित किया है। वस्तुतः संस्कृत सर्जकों की अभिव्यक्ति वैश्विक चेतना का स्पर्श कर रही है। जिससे विश्व की घटनाएँ, संस्कृति, भाषा एवं जीवन संस्कृत साहित्य में भी प्रतिबिम्बित हो रहा है। जीवन के प्रतिकूल तथ्यों की ओर कविता का झुकाव उसे वास्तविकतावाद की ओर ले जाता है। आज दाश की दार्शनिकता, माधव की भङ्गी भणितियाँ और बिश्वाल के नव बिम्ब आधुनिक संस्कृत काव्य की नई परिभाषा लिख रहे हैं। केशवचन्द्र दाश की प्रणयाभिव्यक्ति में नवीन कल्पना, विरति विषाद तथा गम्भीर चिन्तन का भाव झलकता है। राजेन्द्र नानावटी ने विपरीत रति को काव्य का विषय बनाया है। काव्य में इस प्रकार के प्रयोग ही आधुनिकता है।

विषय की दृष्टि से संस्कृत सर्जकों की दृष्टि में सम्पूर्ण विश्व की चेतना समाई हुई है, राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'सन्धानम्' में शब्दनौका, छन्दसप्तकम्, उन्निद्रम्, जीवनवृक्ष, अनुभाव, धूमाधार प्रपात, धर्माचार्य, धनुःखण्डम्, लोरीगीतम् विक्रयगीतम्, ध्रुवागीतायः, ढपोरशंखाष्टकम्, सफदरहाशमी आदि न जाने कितने विषयों पर काव्य लिखा है। अभिराज का विषयक्षेत्र असीमित है उनके काव्य में प्रेम की अनगिनत परिभाषाएँ हैं, धूर्तों के सहस्रों प्रपंच हैं, सामाजिक कुरीतियों पर सटीक प्रहार हैं, चाटुकारों की दोहरी चालें हैं एवं जीवनमुक्ति के अनेकों अध्याय हैं। विषय की दृष्टि से उनका साहित्य बहुत ही परिष्कृत एवं समृद्ध है। छन्दों की विविधता विषयों के वैविध्य की गलबहियाँ करके उनके काव्य में चार चाँद लगा देती है। जहाँ उनके प्रेमप्रसंग के छन्दों में मसृणता है वहीं राजनीतिक दुरभि सन्धियों और छल छद्म वाले छन्दों में बेबाक सपाटबयानी है। अभिराज को पढ़े बिना संस्कृत काव्य की बात करना ही बेमानी है।

केशवचन्द्र दाश का 'भिन्नपुलिनम' काव्य संग्रह अविष्कार, पुरोहित, पुष्पछाया, निशीथ निश्वास, कीटझंकार, दर्पण अलंकार, मौनस्मित, मधुदीप आदि कविताओं को भिन्न–भिन्न संवेदनाओं में निरूपित करता है।

उर्दू फारसी की गज़ल शैली पर आधारित गीतधारा का प्रवर्तन करने वाले कवि जगन्नाथ पाठक ने वियोगिनी छन्द में 'कापिशायिनी' एवं 'मृद्वीका' द्वारा काव्यरसज्ञों को सुस्वाद चषकपान कराया है। कापिशायिनी अमन्द आनन्द का संचार करने वाला गीतकाव्य है। 'विच्छित्तवातायनी' में विभिन्न भावों को आर्या छन्द में प्रस्तुत किया है। कवि ने जीवन के विविध पक्षों को स्पन्दित करते हुये अत्यन्त मधुरभाव की व्यञ्जना की है। उनकी उक्तियाँ कभी तो मर्म पर प्रहार करती है तो कभी देश की वर्तमान दुर्दशा का प्रदर्शन करती है। वास्तव में वे अन्योक्तियाँ अनुपमेय है। कवि ने जीवन के विविध पक्षों का स्पर्श करते हुये पाठकों को सोचने के लिये विवश कर दिया है।

आधुनिक संस्कृत साहित्य में नवीन रीति से हास्य एवं व्यंग्य की अवतारणा करने वाले प्रशस्यमित्र शास्त्री ने अपनी व्यंग्यबहुला रचनाओं से बहुत लोकप्रियता प्राप्त की है। नित्यप्रति व्यवहार में आने वाले हास परिहासों की एक नवीन रूप में उपस्थापना की है। कहीं तो प्राचीन सूक्तियों को नवीन परिवेश में भिन्न अर्थ से जोड़कर हास्य की सृष्टि की है तो कहीं व्याकरण के सूत्रों में से हास्य सन्दर्भों को खोजा है। संस्कृत के 'सुभाषितानि' को तोड़ मरोड़ कर जो नया रूप आपने दिया है उससे पाठक बरबस हँसता हुआ उस तीखे प्रहार का भी अनुभव कर लेता है। विषय की दृष्टि से सामाजिक, राजनीतिक, दाम्पत्य, विद्यालय, न्यायालय, प्रेमिकाप्रकरण, यात्रा प्रकरण, आदि कोई भी पक्ष उनके लेखन से अछूता नहीं है। कोमल 'कंटकावलि' में कवि ने आडम्बर युक्त खोखली राजनीति पर प्रहार किया है। काँटों को भी कोमल बनाने वाले प्रशस्यमित्र शास्त्री ने अर्वाचीन संस्कृत की इस विधा को भी पूर्ण प्रतिष्ठित किया है। उनके हास्य में व्यंग्य और अधिक्षेप का सुगठित रूप दिखाई देता है।

इच्छाराम द्विवेदी के काव्य में उनका पौरोहित्य रूप दृष्टिगोचर होता है। परन्तु उनके गीतमन्दाकिनी और दूतप्रतिवचनम् में उनका गीतकार मुखरित हो उठा है। 'दूतप्रतिवचनम्' मेघदूत के अनुकरण पर लिखा हुआ गीतकाव्य है जिसमें मेघ जब अलकापुरी से लौटता है तो

आधुनिक युग की दुरावस्थापूर्ण वृतान्त को अपने में समेट लाता है। वास्तव में यह व्यंग्य काव्य है। इसमें स्त्रियों की स्वच्छन्दता, उनका गर्हित आचरण, बेरोजगारी, भुखमरी, सामाजिक विद्रूपताएँ, राजनैतिक दुराचार आदि सब निहित है। कवि ने अपने इस काव्य के द्वारा समाज को आइना दिखाया है।

'भाति मे भारतम्' के यशस्वी कवि रमाकान्त शुक्ल एक सच्चे राष्ट्रकवि कहे जा सकते हैं। उनका मन, उनकी लेखनी, उनकी समस्त चेष्टाएँ भारतीय वसुन्धरा के लिये ही समर्पित है। वास्तव में शुक्लजी विशुद्ध भारतीय हैं भारतवर्ष की किसी भी बुराई से उन्हें कोई शिकवा नहीं है क्योंकि वे जानते हैं कि भारत की मिट्टी, पानी और हवा में चरित्र बदल देने की शक्ति है। अतः भारतवर्ष में फैली ये बुराइयाँ अवश्य मिटेंगी। परन्तु वे अन्य कवियों की भाँति क्रोध, घृणा और विरक्ति के भाव से उनका बखान नहीं करते अपितु उस कमी में सृजन की शक्ति को ढूँढ़ते हैं।

भास्कराचार्य त्रिपाठी, दीपक घोष, महाराजदीन पाण्डेय आदि अनेकों कवियों ने अपनी कविता में नये बिम्बों उपमानों और औपनिषदिक दर्शन को प्रस्तुत किया है। कहीं नैतिक मूल्यों का ह्रास दिखाई देता है तो कहीं वैयक्तिक वेदना अन्तर्मन की वीथियों से प्रस्रवित दिखाई देती है। अर्वाचीन संस्कृत काव्य के साधकों ने अपने काव्य से अनेकों भावभूमियों का सृजन किया है।

विषय के साथ–साथ कवियों का कलात्मक रुझान भी कुछ भिन्न हो चला है। सम्भवतः अनूदित साहित्य से आने वाले ज्ञान ने संस्कृत साहित्य में कुछ परिवर्तन अवश्य किये हैं। हर्षदेव माधव ने टाइपोग्राफी, शिल्पकला, चित्रकला और गाणितिक संज्ञाओं का प्रयोग करके अनूठा काव्य सृजन किया है। विदेशी छन्दों को भारतीय बिम्बों में उतारने वाले माधव निस्संदेह अनुपमेय हैं। उनके काव्य में कहीं तो इन्द्रधनुष के कन्धे से बालों को संवारता हुआ मेघ दिखाई देता है तो कहीं स्नानगृह का ठण्डा और गर्म जल ज्ञानी को सुख दुःख की अनुभूति कराता है। उनके प्रतिमान, उपमान और प्रतीक जीवन के इतने निकट हैं कि कल्पना की उड़ान चाहे कितनी ही ऊँची हो व्यक्ति

उसमें डूबकर ही आनन्दित हो पाता है। एक ही विषय पर भिन्न बिम्बों की प्रस्तुति उनके चिन्तन के विस्तार को व्यक्त करती है। वस्तुतः हर्षदेव माधव ऐसे अपारम्परिक कवि हैं जो विश्व से जुड़कर, समाज से सन्दर्भ लेकर, दुर्लभ प्रयोगों द्वारा माँ भारती का श्रृंगार कर रहे हैं। अणुबम से भयभीत सम्पूर्ण विश्व की शान्ति के लिये केवल तीन पंक्तियों में याचना करते हैं –

बुद्धस्यभिक्षापात्रे
निमज्जितम्
अणु बोम्बदग्धं नगरम् (अलकनन्दा, पृष्ठ–74)

बनमाली बिश्वाल के काव्य में भारतीय दर्शन की समग्रता दिखाई देती है। समाज की पीड़ा, जीवन के यथार्थ मूल्य और प्रेम की सहज अभिव्यक्ति हमें उनके काव्य से बहुत सूक्ष्मता से जोड़ती है। प्रेम के विषय में बहुत स्पष्टता से सम्बन्धों को स्वीकार कर लेने वाले बिश्वाल जी ने प्राचीन मूल्यों को भी नवीन परिवेश में प्रस्तुत किया है। उनके व्यक्तिगत प्रेम की कहानी कहता हुआ वेलेण्टाइन डे काव्य भी बसन्तोत्सव पर इति करता है अर्थात कहने का अभिप्राय यह है कि नवीन परिदृश्य को अपनी संस्कृति से सजाने वाले बिश्वाल ने केवल काव्य के भाव पक्ष में नवीनता का आधान किया है अपितु छन्दों की प्रयोगधर्मिता द्वारा कलापक्ष को भी युगीन बनाने का श्रमसाध्य कार्य किया है।

आधुनिक संस्कृत काव्य और कवियों की निसर्ग अभिवृत्ति को देखने से यह स्पष्ट होता है कि अर्वाचीन काव्य धारा में सामयिक विषयों का चिन्तन बढ़ रहा है। आज हम स्विस बैंक में अकाउण्ट की बात करते हैं, वेश्यावृत्ति को खुलेआम स्वीकार कर रहे हैं, भ्रूण हत्या, परस्त्रीभोग के क्लब, अर्धनग्न नृत्य और धर्म के नाम पर हो रहे वितंडतावाद पर अपनी बात को रख रहे हैं। यह निषेधात्मक अभिव्यक्तियाँ काव्य का विषय बन रही हैं। इसके अतिरिक्त चाटुकारिता, नैतिक मूल्यों का ह्रास, सामाजिक विषमता, शोषण और बढ़ती हुई अमानवीयता आदि बिन्दुओं पर भी कवि की दृष्टि सचेत है। वस्तुतः संस्कृत रचनाकारों की जो दृष्टि विगत कुछ शताब्दियों से वाणी को चमत्कारपूर्ण

करने, अलंकृत रूप से सुसज्जित करने में और अपने आश्रयदाताओं का गुणगान करने में लगी रही, वही दृष्टि अर्वाचीन काव्य में जनोन्मुखी हो गई है। आज राष्ट्र की दुस्थितियाँ बड़ी ही स्पष्टता से राष्ट्रीय चेतना के साथ–साथ उसकी प्रासंगिकता की भी पुरजोर वकालत करती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रसंग में एक बात बहुत आवश्यक है कि हमारे अर्वाचीन तत्वान्वेषी संस्कृत साधकों ने संस्कृत भाषा की इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये संस्कृत के बदलते परिदृश्य को आत्मसात करके नये काव्यशास्त्रों का प्रणयन किया है। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी की 'काव्यालङ्कारकारिका' काव्यशास्त्र विषयक अद्‌भुत ग्रन्थ है जिसमें काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर नवीन चिन्तन को व्यक्त किया गया है। द्विवेदी जी ने काव्य की आत्मा अलंकार को स्वीकार किया है इस सन्दर्भ में उन्होंने छः प्रस्थानों रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य की अलंकारवादी समीक्षा की है। वे ध्वनि को भी अलंकार में अन्तर्निहित मानते हैं। इस ग्रन्थ में 184 मूल कारिकाएँ हैं इसके अतिरिक्त अन्य सम्बद्ध कारिकाएँ भी संग्रहीत हैं।

शिवजी उपाध्याय का 'व्यक्तिविमर्श' एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है इसमें व्यञ्जना को काव्य की प्रमुख शक्ति स्वीकार किया गया है। अभिधा और लक्षणा का अन्तर्भाव भी व्यञ्जना में ही हो जाता है। आचार्य आशाधर भट्ट के कोविदानन्द, त्रिवेणिका और अलंकार दीपिका नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इसमें 'अलंकारदीपिका' नामक ग्रन्थ टीकाग्रन्थ होने पर भी नवीन दृष्टिकोण को प्रतिपादित करने के कारण अलंकार के इतर रूप को प्रस्तुत करता है। जैसे आचार्य भट्ट ने इसमें अपनी मौलिक उद्‌भावना व्यक्त करते हुये 'लिङ्गालंकार' को भी स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार किया है जबकि अप्यय दीक्षित ने श्रुत्यालंकार में ही लिङ्गालंकार का अन्तर्भाव किया है।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक काव्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों का प्रणयन, अनुवाद और व्याख्या करके काव्य सिद्धान्तों की नूतनमयी व्याख्या प्रस्तुत की है, परन्तु अर्वाचीन काव्यशास्त्र में अभिराज का 'अभिराज यशोभूषणम्' प्राचीन और अर्वाचीन काव्य के

नियमों को एक साथ लेकर चलता है। उसमें न तो प्राचीन काव्यशास्त्र की अवज्ञा है और न ही नवीन मूल्यों और नियमों को प्रतिपादित करने का अभिमान। इसमें लगभग 567 कारिकाएं हैं। इस तथ्य को उन्होंने पुस्तक के प्रारम्भ में स्वयं स्वीकार किया है –

सञ्चिनोति यथा भृङ्ग. पुष्पात्पुष्पाद्रसाऽसवम्
करोमि सङ्ग्रहं तद्वद् यावद्भरतकाश्यपम्

(अभिराजयशोभूषणम्–1/9)

अर्थात जैसे कोई भ्रमर एक–एक पुष्प से रसासव को संचय करता है वैसे ही मैं भरत से लेकर कश्यप तक के अभिप्रायों को संग्रहीत कर रहा हूँ। अतः काव्यशास्त्र के नूतन मानदण्डों के लिये पाँच उन्मेषों को नये कवियों के दिशानिर्देश हेतु पञ्चसोपान रूप में प्रस्तुत किया है।

अभिनव काव्यालङ्कार सूत्र समीक्षणम् प्रो0 राधावल्लभ त्रिपाठी की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का पुष्ट परिपाक है। इस काव्यशास्त्रीय विवेचन द्वारा आधुनिक संस्कृत काव्य को एक गति मिली है। प्रो0 त्रिपाठी ने अपने विशिष्ट चिन्तन से वैश्विक क्षितिज को भारतीय कवियों के बहुत करीब कर दिया है। उनके अभिनव आलोकवृत्त में काव्य की बहुत सी अनसुलझी गुत्थियाँ स्पष्ट दिखाई देने लगी हैं। आधुनिक काव्य के अनेकों अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर आज आपके इस काव्यशास्त्र द्वारा दिया जा रहा है। इस काव्यशास्त्रीय विवेचन से अर्वाचीन काव्यकार का मौन टूटा है। अलङ्कारों की अद्भुत नवीनता निस्संदेह स्तुत्य है।

इसके अतिरिक्त रहसबिहारी द्विवेदी को भी काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का श्रेष्ठ आलोचक, सर्जक और समीक्षक कहा जा सकता है। आपने काव्य को परिभाषित करने वाली अनेकों कारिकाएँ स्फुट रूप में अनेकों पत्र एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित की हैं। उनका 'नव्य काव्यतत्त्व मीमांसा' नामक ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है जिसमें काव्य के प्रयोजन हेतु लक्षण, महाकाव्य, रागकाव्य, विमानकाव्य, दूतकाव्य, लहरीकाव्य, प्रगतिशीलकाव्य, सौन्दर्य विधान, बिम्ब विधान, प्रतीक स्त्रोतकाव्य, समस्यापूर्ति, अन्योक्ति, गज़ल, गीत, हाइकू, तान्का, सीजो, लघुबिम्ब, लिपिरूपक, लघुवर्णकाव्य आदि की परिभाषा देते

हुये काव्यशास्त्र को एक विशाल फलक प्रदान किया है। प्रायः इन समस्त काव्य विधाओं का स्वरूप और निरूपण अन्य काव्यशास्त्रों में प्राप्त नहीं होता है। इस दिशा में आचार्य द्विवेदी का यह प्रयास श्लाघनीय है।

वस्तुतः काव्य अपनी विधा के साथ श्वांस लेता है, भाषा में आकार बनाता है और भाव को आत्मा में पिरोकर अपने कालजयी होने का प्रभुत्व स्थापित करता है। हम अपने समाज से जब प्रभावित होते हैं उसके मूल्यों में अपना अस्तित्व विलीन करते हैं तब काव्य जन्म लेता है। ऐसा काव्य जो समाज से जन्म लेकर उसी में पल्लवित पुष्पित होता है उसके प्रत्येक स्वर में ऊष्मा होती है। पाठक काव्य में निबद्ध विषयवस्तु के अनुशीलन से अपनी दशा का सूक्ष्म निरीक्षण तथा तुलना करता है और अपने जीवन को उदात्त तथा मंगलमय बनाने के लिये अश्रान्त परिश्रम करता है। इस प्रकार काव्य मूलतः जीवन का आलोचन ही होता है। आदर्श कवि कविता में ऐसे तथ्यों की मनोरंजिनी व्याख्या करता है जो समाज में प्रेम और त्याग का महनीय आदर्श प्रस्तुत करे, गिरते हुये मूल्यों के प्रति सचेत करें और सुप्त आत्म चेतस को जाग्रत कर दे। वस्तुतः श्रेय और प्रेय का मञ्जुल सामरस्य उत्पन्न करना ही कवि का धर्म और कविता का लक्ष्य होना चाहिये।

भारतीय दृष्टि से काव्य में कवि का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है। क्रान्तदृष्टा कवि किसी भी स्थिति के अन्तदर्शन को जब अपने प्रज्ञा चक्षुओं के माध्यम से अनुभव करता है और फिर उस अनुभूत दर्शन को शब्दों का कमनीय कलेवर देकर प्रकट करता है। ऐसी स्थिति में उसके समक्ष भाव और शब्द दो धाराएँ होती हैं। इन दोनों ही धाराओं के लिये युगानुरूप होना बहुत आवश्यक है। अतः आधुनिक काव्य में भावों की नवीनता के साथ–साथ छन्दों, अलंकारों और भाषा की जो नवीनता आज दिखाई दे रही है वह संस्कृत को प्रयोजनीय बना रही है। अनूदित साहित्य के प्रयोग से अर्वाचीन संस्कृत काव्य समृद्ध हो रहा है। नई शब्दावलियों और आंचलिक प्रयोगों से पाठक सचेत भी है और आकृष्ट भी। क्योंकि आज संस्कृत

में कहीं कहीं व्याकरण निर्दिष्ट अर्थ का अतिक्रमण करके हम प्रभावगामी शब्दों के प्रयोग की ओर बढ़ रहे हैं। हमारे कथ्य का आयतन बदला है, हमारे स्वाद, हमारी मान्यताओं ने करवट बदली है, अत्यन्त तीव्र वेग से हमारे मन के अनेक सपने, स्मृतियाँ, चिन्तन तथा संदर्भ जाग रहे हैं। एक ध्वनि से अनेक प्रतिध्वनियाँ विकीर्ण हो रही हैं। प्रतीक और बिम्ब की शाब्दिक व्याख्या भले ही कुछ भी हो कार्यतः एक ओर तो वे चित्र रचना करते हैं तो दूसरी ओर गहन रहस्य को जन्म देते हैं। कभी तो हमारे हाथ लगती है मुठ्ठी भर सीपियाँ, कभी मोती, कभी विभिन्न रत्न और कभी मिलती है फिसलती हुई रेत।

मुक्तछन्द ने आधुनिक संस्कृत साहित्य को कुछ कदम और आगे खड़ा कर दिया है। आज विश्व भर में छन्दोमुक्ति की बयार बह रही है। भाषा कोई भी हो वह बन्धन से दूर अपनी लय में बहने को बेताब है परन्तु संस्कृत के अनुशासन ने मुक्तछन्द को भी अनुशासित किया है यहाँ लय और काव्य की पारस्परिक अन्योन्याश्रियता ने यह सिद्ध किया है कि हमें मुक्तछन्द की बात तो करनी चाहिये परन्तु छन्दोमुक्ति की नहीं। हाँ नियमबद्धता से शुरू हुई संस्कृत कविता ने आज तर्कमय कृपणता को छोड़कर अपूर्वता और आविष्कारधर्मिता का आश्रय लिया है। स्वयं को प्रयोगशील कहलाने के लिये उसने अपने को विश्वफलक पर स्थापित किया है। देश की आंचलिक महक के साथ–साथ उसमें तान्का, सीजो और हाइकू जैसे विदेशी छन्दों की खुशबू भी है। आज हम कवि की संवेदना के सहभागी ही नहीं अपितु उसकी रचनाधर्मिता के साथ एकात्म हो रहे हैं।

शब्द की दृष्टि से संस्कृत की शब्द संख्या विपुल हैं। उसके पर्याय असंख्य हैं। संस्कृत के ये पर्यायवाची शब्द समूह विनिमयधर्मी हैं। परन्तु आधुनिक संस्कृत में शब्दों के पर्याय को उतने साधर्म्य के साथ प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है इसका कारण यह है के आज हम कविता की भाषा में प्रभाव खोजते हैं हम चाहते हैं कि वह एक ओर सूचना दे तो दूसरी ओर पाठक को सचेत भी करे। अतः आज अनेकों संस्कृत कविताएँ ऐसी हैं जो नितान्त अलंकारहीन सरलस्वभावोक्तियों से युक्त हैं जहाँ वाच्यार्थ ही नितान्त अनन्य और प्रभावशाली है। आज

अलंकार के स्थान पर एक सुदूरव्यापी विकीर्ण प्रभाव है। शब्दों का सरल अर्थ कहीं भी नहीं टूटता, एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति पर पहुँचते ही हम अनुभव करते हैं कि शब्द के इंगित अर्थ बदलते जा रहे हैं कभी उनसे मृत्युबोध, कभी व्यर्थता तो कभी सौन्दर्य का अनुभव होता है। इंगित की यही अनेकार्थता जिसे पाठक भिन्न–भिन्न भावना से रंजित करके देखता है वही कविता की आत्मा बन जाती है।

अनन्तः यही कहा जा सकता है कि काव्य में सौन्दर्य की भावना भिन्न–भिन्न स्पंदनों का परिणाम है। कभी यह रसानुभूति से, कभी अलंकार से, कभी वक्रोक्ति से तो कभी अभिधा के इंगित अर्थ प्रयोग से उत्पन्न होती है। काव्य के प्रयोजन में हम भले ही 'काव्यंयश से' अथवा पुरुषार्थ चतुष्ट्य की बात न करें परन्तु यह तो निश्चित है कि आज भी संस्कृत कविता उन श्रोताओं को भी अभिभूत कर लेती है जिन्हें उसका अर्थ ज्ञान भी न हो, और वह श्रोता जो उसके मर्म को जानने वाले हैं उनके लिये तो वह अमृत से भी अतिशय सुस्वादु होती है। अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने अपने यशोभूषणम् में 'काव्य प्रशंसा प्रकरण' में काव्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है उन्हें न धन चाहिये, न दीर्घ आयु, न मिथ्या प्रशंसा और न ही मोक्ष क्योंकि वे जानते हैं कि एकमात्र काव्य ही श्रेष्ठ नागरजनों का अनुरञ्जनकर्ता है अतः उनकी यह कारिका मानो आधुनिक संस्कृत काव्य का समग्र परिशीलन प्रस्तुत करती है –

बांधवौ ननु शब्दार्थौ कविता प्राणवल्लभा
रसो मुक्तिसुखं हन्त किमन्यदिह काङ्क्षितम्??

(पृष्ठ–16 / 22)